दोनों ही साहित्यकारों का शब्द–शिल्प एवं शब्द-विन्यास अतुलनीय है। शेक्सपियर के शब्द तो भाषा में मुहावरों की भांति प्रयुक्त होने लगे हैं।[१]

हिन्दी में प्रसाद एवं अंग्रेजी में शेक्सपियर ने सबसे अधिक मूर्तियों का निर्माण किया है। शेक्सपियर ने सौन्दर्य में कल्याण को अधिक महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि मधुरतम वस्तुएं भी अपने दुष्कर्मों के कारण कटुतम बन जाती हैं।[२] मनुष्य की स्वार्थपरता एवं कृतघ्नता शीतकालीन तीखी वायु से भी तीक्ष्ण है। किन्तु वे जीवन को आनन्द से परिपूर्ण मानते हैं।[३] सौन्दर्य के साथ ही वे प्रेम का अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं। प्रेम के कारण ही वस्तुएं सुन्दर प्रतीत होती हैं। प्रेम की शक्ति द्वारा मृत्यु भी जीवन सदृश प्रिय लगती है। दोनों ही कवियों ने प्रेम को अतीन्द्रिय स्वरूप प्रदान किया है। प्रेमी को प्रिय के अवगुण दृष्टिगत नहीं होते। शेक्सपियर प्रेम को अंधा कहते हैं।[४] शेक्सपियर एवं प्रसाद दोनों ने ही अपने पूर्वकालीन इतिहास का चित्रण शौर्य-भावना के साथ किया है। उनके गीतों में सौन्दर्य-भावना की समानता परिलक्षणीय है।

वर्ड्सवर्थ एवं प्रसाद

वर्ड्सवर्थ प्रकृति के चित्रकार हैं। प्रसाद के ही समान वे भी क्रान्तिकारी कवि हैं। उन्होंने अठारहवीं शताब्दी की शास्त्रीय-काव्य-पद्यति के विरुद्ध साहित्य को नवीन विषय, नवीन शैली एवं नवीन भाव दिये हैं। अतः यह

---

१. Brevity is the soul of wit, A fool's paradise,
A nine days wonder Frailty, thy name is woman.

२. 'For sweetest things turn sourest by their deeds;
Lilies that fester smell for worse than weeds.'

३. "Blow, bloue, thou winter winds,
Thou art not so unkind
As man's ingratitude;
Thy tooth is not so keen
Because thou art not seen
Although they breath be rude". The same Page 34,

४. "How can it ? O How can love' s eyes be ture,
that is so vexd with watching and with tears ?
No marvel then though I mistake my view:
The sun itself sees not till heaven clears.
O cunning love ! with tears thou keep'st me blind,
Lest eyes well-seeing they foul faults should find ?
Golden Treasury, Page 31

कहना अत्युक्ति न होगा कि वे ही अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद अथवा रोमाण्टिसिज्म् के प्रवर्तक हैं। अपने आरम्भिक काव्य में वे प्रकृति के वाह्य स्वरूप पर अधिक मुग्ध हुए हैं, परन्तु बाद में उन्होंने प्रकृति में एक चेतना सत्ता की अनुभूति की है। उन्होंने प्रकृति में उस परमात्मा के सौन्दर्य को व्याप्त देखा है। प्रकृति के माध्यम से ही उन्होंने सौन्दर्य को आध्यात्मिक स्तर पर अवस्थित किया है।

प्रकृति ही वर्ड्सवर्थ के काव्य की प्रेरणा रही है। वह उसमें नवीन अनुभूतियां एवं उल्लास भर देती है। वह मानव-जीवन के लिए प्रकृति को अनिवार्य मानता है। उसे दुख होता है कि आज मानव प्रकृति से दूर जा रहा है, जो उसके लिए अहितकर है।[१] प्रकृति उसकी "देवी", सहचरी शिक्षिका है। उसने प्रकृति के अनेक सुन्दर सजीव चित्रों की संयोजना की है।

प्रसाद ने प्रकृति को सजीव एवं चेतन की दृष्टि से तो देखा है, परन्तु उनका उसके साथ निसर्ग तादात्म्य नहीं है। उन्हें उसके प्रत्येक रूप से वह प्रीति नहीं है, जो वर्ड्सवर्थ को है। वह मानव भावनाओं के कवि हैं। सौन्दर्य-चित्रण के लिए उन्होंने प्रकृति से अनन्त उपकरण जुटाए हैं। वे तो सृष्टि के कण-कण में सौन्दर्य के दर्शन करते हैं।

कॉलरिज एवं प्रसाद

वर्ड्सवर्थ के साथ ही कालरिज का नाम भी जुड़ा हुआ है। जहां वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति-सौदर्न्य को ही अपनी काव्य की प्रेरणा बनाया है, वहां कालरिज ने मानव सौन्दर्य का उद्‌घाटन किया है। कालरिज ने मानव अनुभूतियों को ग्रहण करते हुए उसके अन्तः सौन्दर्य का चित्रण किया है। वह वाह्य सौन्दर्य में ही पूर्णता नहीं मानता वरन् गहन प्रेम से युक्त अन्तः सौन्दर्य में ही उसके अनुसार सौन्दर्य की चरम स्थिति है। वह अपनी नायिका का सौन्दर्य चित्रित करते हुए कहता है कि वह अन्य स्त्रियों की भांति वाह्य दृष्टि से ही सुन्दर नहीं है, उसकी आखों में एक कान्ति है। वे आंखें स्नेह का कूप है और प्रकाश का एक झरना। इसीलिए वे उसे सुन्दर प्रतीत होती हैं।[२]

---

१. Glen—Almain, The Narrow Glen, Golden Treasury. Page 329

२. "She is not fair to out word view
As many madens be;
Her lovelinees I never knew
Until she smiled on me.
O then I saw her eye was bright
A well of love, a spring of light."
Golden Treasury, Page 207

प्रसाद ने भी कालरिज की भांति अन्तः और वाह्य सौन्दर्य का सामंजस्य स्थापित किया है। उदाहरण के लिए उनकी श्रद्धा न केवल वाह्य रूप लावण्य से युक्त हैं वरन् उसमें ममता, दया, करुणा, प्रेम एवं त्याग आदि गुणों की दीप्ति भी है।

वायरन एवं प्रसाद :—

वर्ड्सवर्थ और कालरिज की परम्परा का सूत्रपात करने वाले कवि वायरन, शैली और कीट्स ही हैं। वायरन की काव्य प्रेरणा अतीत, यौवन एवं प्रेम हैं। सौन्दर्यानुभूति उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। क्रान्तिकारी और विद्रोही कवि होने के कारण उनके काव्य में भावनाओं का तीव्र आवेग है। भावनाओं का तीव्र आवेग और सौन्दर्य ही उनके काव्य का उत्स है। वह उन्मुक्त सौन्दर्य के गायक हैं। इस उन्मुक्त सौन्दर्य का चित्रण करते हुए वे अपनी नायिका के लिए कहते हैं कि वह अपने सौन्दर्य में ही विचरण करती है, मानों तारात्रों से युक्त निरभ्र आकाश वाली रजनी। उसकी आंखों का अन्धकार ही रात्री का अन्धकार है और उसके नेत्रों की कान्ति ही उसका आलोक है। उसके पास एक निश्छल स्नेह से युक्त हृदय है।[1]

प्रसाद वायरन की भांति न तो पूर्णतः विद्रोही कलाकार हैं और न ही उनके काव्य में इतना तीव्र स्वच्छन्द आवेग है। वे अपने युग के आदर्शों की चेतना को ग्रहण करते हुए अग्रसर हुए हैं। अवश्य ही सौन्दर्य की दृष्टि से उन्होंने भी उन्मुक्त सौन्दर्य का चित्रण किया है। जिस प्रकार वायरन की नायिका के सौन्दर्य विस्तार सम्पूर्ण प्रकृति में छाया हुआ है, उसी प्रकार श्रद्धा के सौन्दर्य में भी प्रकृति के समस्त उपादानों की नियोजना की है। उसके मुख का सौन्दर्य द्रष्टव्य है।

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम
अरुण रविमण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।[2]

---

१. She walks in beauty, like the night
of cloudless climes and starry skies.
and all that's best of dark and bright
Meet in her aspect and her eyes;
.. ..
A heart whose love is innocent."
Golden Treasury Page 206

२. कामायनी, पृष्ठ ४७

सौन्दर्य-चित्रण में भी वायरन स्वच्छन्दतावादी है और प्रसाद आदर्शवादी।

शैली एवं प्रसाद

शैली ने एक क्रान्तिकारी के रूप में ही संसार में जन्म लिया था। वे स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता प्रेमी है। शैली वहुत अच्छे गायक भी रहे है। प्रगीत लिखने में उनकी समानता कोई नहीं कर सकता। 'वादल'' "स्काइलार्क के प्रति" एवं पश्चिमी समीर के प्रति[१] उनके प्रसिद्ध गीत है।

शैली ने भी प्रकृति में चेतन सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। उन्होंने वादल एवं सूर्यास्त के वड़े ही मनोरम एवं सुन्दर चित्र अंकित किये हैं।

प्रसाद एवं शैली दोनों ही आशावादी कवि हैं। दोनों के काव्य में प्रेम और सहानुभूति के साथ करुणा एक अन्तः सलिला की भांति प्रवाहित हो रही है। शैली का तो विश्वास है कि प्रेम और करुणा द्वारा ही स्वर्ण-युग का आगमन सम्भव है। दोनों ने ही करुणा के माध्यम से विश्व-वेदना का साक्षात्कार किया है। उनकी कामना है कि वेदना और करुणा की परिणति सुख और शान्ति में हो। उन्होंने स्काईलार्क के प्रति में कहा है कि हमारे मधुरतम गीत वे ही हैं, जिनमें करुणा की अभिव्यंजना हुई है।[२] इनके कारण ही उन्हें जड़ता में भी सचेतन सौन्दर्य की प्रतीति होती है। प्रसाद के समान ही शैली ने रात्रि का मानवीकरण करते हुए उसे सूक्ष्म सौन्दर्य प्रदान किया है।[3] "चन्द्रमा के प्रति" कविता में अंकित राशि का करुण वेदना विमण्डित सौन्दर्य प्रसाद के "रिक्त चपक" से चन्द्रमा के समकक्ष रखा जा सकता है।

प्रकृति से ग्रहण किये गए उपमानों के चयन में भी शैली और प्रसाद में पर्याप्त समानता परिलक्षित होती है।

---

१. The Cloud,-ode to a sky-lark, and ode to the west wind.

२, Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.

P. B. Shelley, T. A skylark,
Golden Treasury, Page 276

३. Swiftly walk over the western wave spirit of night,
Out of the misty eastern cave
where, all the long and love day light,
Thou wovest dreams of joy and fear
which make thee terrible and dear
Swift be thy flight.

कीट्स एवं प्रसाद

अंग्रेजी काव्य को कीट्स और हिन्दी को प्रसाद के रूप में सौन्दर्य के अनन्य उपासक एवं कलाकार प्राप्त हुए। दोनों ही कवि सौन्दर्य, रमणीयता एवं मादकता के गायक हैं। कीट्स को यौवन के उषाकाल में ही अपनी प्रेमिका फैनी ब्राउन से प्राप्त निराशा ने उसे अनन्त सौन्दर्य निधि की खोज की ओर प्रेरित कर दिया। सौन्दर्य से साक्षात्कार होते ही वह गा उठा कि सुन्दर ही सत्य है और सत्य ही सुन्दर। यही हमारे ज्ञान के लिए पर्याप्त है।[1] प्रसाद जी भी सौन्दर्य में सत्य और शिव की अवस्थिति मानते हैं। दोनों सुन्दर की अनुभूति को आनन्दानुभूति मानते हैं। कीट्स तो सुन्दर वस्तु को चिर आनन्द का विषय मानता है।[2]

दोनों कवियों ने अपनी तूलिका से अनेक सौन्दर्य-चित्रों का अंकन किया है। वे तूलिका से दृश्य को मूर्त रूप ही प्रदान नहीं करते अपितु वे अपनी गंध एवं ध्वनि संवेदनाओं की भी पाठक को अनुभूति करा देते हैं। कीट्स का 'देवी एग्निस की संध्या' का चित्र प्रसाद के चित्रों के समकक्ष रखा जा सकता है। मानवीकरण में भी दोनों ही कवि कुशल हैं। उन्होंने प्रकृति के सौन्दर्य को ही नहीं सूक्ष्म भावों को भी मानवीय सुन्दर स्वरूप में चित्रित किया है। प्रसाद की भाषा में हिन्दी भाषा का माधुर्य समाया हुआ है तो कीट्स की भाषा में अंग्रेजी भाषा की समस्त मोहिनी का निचोड़ है।[3] प्रसाद को अन्य सौन्दर्य द्रष्टा कवियों के परिपार्श्व में रखकर देखने से प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने युग की चेतना ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य की प्रेरणाओं को ग्रहण करते हुए अपने काव्य का सृजन किया है। इतने विस्तृत परिवेश के मध्य पल्लवित हुआ उनका साहित्य, उनके सौन्दर्य-चित्र स्वयं में अनूठा मौलिक-सृष्टियां हैं। प्रसाद भारतीय-साहित्य ही नहीं विश्व साहित्य के आलोकमान नक्षत्र हैं जिनकी कान्ति से साहित्याकाश सदैव आभासित रहेगा।

---

१. Beauty is truth, truth beauty, that is all ye
know on earth, and all ye need to know
—J. Keats
Ode on a Grecian Urn, Golden Treasury, Page, 332

२. "A thing of beauty is joy for ever."

३. यतेन्द्र कुमार, महाकवि कीट्स का काव्य-लोक पृष्ठ ४५

उपसंहार

क्षमताओं के कारण सभी ललित कलाओं के सर्वोत्तम गुणों को स्वायत्त किए रहती है''

कविता अथवा सम्पूर्ण साहित्य का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन हिन्दी और हिन्दीतर साहित्य में प्रचुर परिमाण में हो चुका है। यह सम्पूर्ण अध्ययन कतिपय निश्चित सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में यथा नायक-नायिका भेद, रस-भेद, अलंकार-भेद एवं छन्द-बन्धन आदि की सीमाओं में किसी भी कृति को मात्र वर्गीकृत करके संतुष्ट हो जाता है। इस अध्ययन मे तत्व चिन्तन का एवं दार्शनिक निरूपण पद्धति की निकटता का अभाव है। दूसरी ओर सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण से किए गए अध्ययन में कविता को अन्य ललित कलाओं के व्यापक संदर्भ में रखकर देखा जाता है, जो काव्येतर ललित कलाओं के भी तत्तत तात्विक अध्ययन में उपयोगी सिद्ध हो सके, जैसे किसी कविता में व्यक्त सौन्दर्य-चेतना का उस व्यापक सौन्दर्य-तत्त्व की दृष्टि से अध्ययन, जो सौन्दर्य-तत्त्व, वर्ण-मैत्री और अलंकारों से परे रह कर भी काव्येतर कलाओं में समाविष्ट रहता है अथवा किसी कविता में व्यस्त उपमानों और अप्रस्तुतों का व्यापक मूर्त विधान की दृष्टि से अध्ययन जो काव्येतर कलाओं में भी कल्पना के प्रत्यक्षीकरण अथवा तन्मात्राओं की ऐन्द्रिय प्रतीति के रूप में बिम्ब बन कर उपस्थित होता है।[१]

इस प्रकार की आलोचना का हिन्दी-साहित्य में नितांत अभाव है। यद्यपि इस प्रकार की समीक्षा के अंतर्गत अनेक छिटपुट निबन्ध लिखे जा चुके हैं यथा कालिदास का सौन्दर्य वर्णन, जायसी का रूप वर्णन, जायसी का सौन्दर्य वर्णन, मानस में तुलसी के राम का शक्ति, शील और सौन्दर्य आदि, परन्तु सम्पूर्ण रूप से किसी कृति या किसी कवि कलाकार की कृतियों का इस सौन्दर्यात्मक निकष पर विवेचन नहीं हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने सौन्दर्य दृष्टि सम्पन्न कवि जयशंकर प्रसाद की सम्पूर्ण गद्य एवं पद्य कृतियों को सौन्दर्यात्मक परिप्रेक्ष्य में रखने का लघु प्रयास किया है। जयशंकर प्रसाद पर अनेक दृष्टियों से समीक्षात्मक कार्य हो चुका है, परन्तु सौन्दर्य-दर्शन की जिज्ञासु दृष्टि उनकी कृतियों पर नहीं गई। यद्यपि स्वयं प्रसादजी भारतीय दृष्टि से सौन्दर्य अथवा कलाओं को साहित्य-विद्या से इतर विद्या मानते थे, किन्तु जैसा कि आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने उनका कला के प्रति-दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है कि कला शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहां कला, केवल छन्द रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई है, इसीलिए काव्य की नहीं, समस्या पूर्ति की गणना कला में की गई। स्पष्ट ही काव्य केवल समस्यापूर्ति नहीं है।

---

१. डा० कुमार विमल, सौन्दर्य शास्त्र के तत्त्व, पृ० २३

प्रसादजी ने काव्य की परिभाषा देते समय कहा भी है—काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की ?[1] काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है।'[2] पुनः स्कन्दगुप्त में कवि मातृ गुप्त कविता को पारिभाषित करते हुए कहता है "कवित्व-वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाएँ स्पष्ट रूप से ध्वनित करती है कि प्रसादजी अनुभूति को, विशेषतः सौन्दर्यमयी अनुभूति को ही काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते थे। अतः इस प्रबन्ध में मैंने उनकी समस्त कृतियों का सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करने का प्रयास किया है।

प्रबन्ध के प्रारम्भ में सौन्दर्य पर भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों के सिद्धान्तों का अध्ययन किया गया है। साहित्य और सौन्दर्य के विभिन्न सम्बन्धों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय देते हुए उनके साहित्य में प्राप्त विभिन्न मानवीय, प्राकृतिक एवं कलागत सौन्दर्य-चित्रों का उद्घाटन किया गया है। तुलानात्मक अध्ययन के अभाव में यह निबन्ध अधूरा ही रहेगा। अतः अन्त में जयशंकर प्रसाद के सौन्दर्य—चित्रों को संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी के कवियों के चित्रों के समकक्ष रखने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध आदरणीय गुरुवर डा० लालता प्रसाद सक्सेना, रीडर, हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय के निदर्शन में लिखा गया है। वस्तुतः जो कुछ भी लेखन-कार्य में कर सकी हूं वह उन्हीं के विद्वतापूर्ण मार्ग-दर्शन एवं प्रेरणा द्वारा सम्भव हो सका है अन्यथा मेरे लिए इस कार्य के लिए एक कदम भी उठाना असंभव था। ऐसी स्थिति में उनसे प्रति आभार-प्रदर्शन करना उपाहस्य ही प्रतीत होता है।

लेखिका

वीणा माथुर

—०—

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य कला एवं अन्य निबन्ध, भारती भण्डार चतुर्थ संस्करण, प्राकक्थन, पृ० १९
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४४-४५
३. जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, प्रथम अंक, पृ० २१

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय

सौन्दर्य: सिद्धान्त एवं स्वरूप

पृ० सं०

१-२६

व्युत्पत्ति

परिभाषा—

(अ) भारतीय विचारक (आ) पाश्चात्य विचारक स्वरूप—

अ—शास्त्रीय दृष्टिकोण

(क) वस्तुवादी दृष्टिकोण—

(१) भारतीय विचारक

(२) पाश्चात्य विचारक

(ख) आत्मवादी दृष्टिकोण—

(१) भारतीय विचारक

(२) पाश्चात्य विचारक

(ग) समन्वयवादी दृष्टिकोण—

(१) भारतीय विचारक

(२) पाश्चात्य विचारक

(आ) साहित्यिक दृष्टिकोण सौन्दर्य के तत्त्व

(अ) मांग तत्त्व

(आ) रूप तत्त्व

(इ) अभिव्यक्ति तत्त्व प्रभाव

द्वितीय अध्याय

साहित्य और सौन्दर्य

२६-६६

सौन्दर्य के दो रूप—साहित्येतर एवं साहित्यिक
साहित्य एवं साहित्यिक सौन्दर्य
साहित्य में सौन्दर्य का महत्त्व एवं लक्ष्य
साहित्य में सौन्दर्य के प्रच्छन्न रूप—'सत्यं' 'शिवं' एवं 'सुन्दरं'
समाज, सभ्यता, संस्कृति एवं सौन्दर्य-निर्माण
साहित्य में सौन्दर्य-चित्रण के साधन—शब्द-चयन, गुण
प्रतीक, अलंकार, छन्द आदि ।

द्वितीय खण्ड

प्रसाद का सौन्दर्य-दर्शन

प्रथम अध्याय

प्रसादः व्यक्तित्व एवं कृतित्व

६७-१४०

(अ) व्यक्तित्व-जन्म एवं परिवार, शिक्षा-दीक्षा, यात्राएं, वाह्य व्यक्तित्व, अन्तः व्यक्तित्व ।

(आ) कृतित्व-चित्राधार (क) आख्यानमूलक कविताएं, (ख) पराग एवं मकरन्द शीर्षकों में संगृहीत भक्तिपरक एवं स्फुट कविताएं,

(ग) चम्पू काव्य, कानन-कुसुम, प्रेम पथिक, झरना, आंसू, लहर, कामायनी ।
नाटक-सज्जन, प्रायश्चित, कल्याणी परिणय, करुणालय, राज्यश्री, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ ।
उपन्यास-कंकाल, तितली, इरावती ।

द्वितीय अध्याय
प्रसाद और सौन्दर्य

१-३८

प्रसाद का कला के प्रति दृष्टिकोण।
परिभाषा, विषय एवं लक्ष्य
कला एवं सौन्दर्य
प्रसाद का सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण
संस्कृति, कला और सौन्दर्य
सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द
'सत्यं' 'शिवं' 'सुन्दरम्'
प्रसाद का साहित्य के प्रति दृष्टिकोण।
साहित्य और सौन्दर्य-सौन्दर्य द्वारा साहित्य निर्माण
साहित्य में सौन्दर्य का लक्ष्य
साहित्यिक सौन्दर्य के निर्माणक तत्व
प्रसाद के सौन्दर्यांकन की विशेषताएं-रमणीयता, मधुवृत्ति, वर्ण-प्रियता, रूप, यौवन और विलास
प्रसाद के सौन्दर्य-बोध के क्रमिक विकास का स्वरूप
प्रसाद एवं मानव-सौन्दर्य-नारी, पुरुष एवं बाल-सौन्दर्य
प्रसाद एवं प्रकृति-सौन्दर्य
प्रसाद एवं कलात्मक सौन्दर्य
निष्कर्ष

तृतीय अध्याय
मानव-सौन्दर्य

३९-८८

मानवीय सौन्दर्य के विविधरूप-बाह्य सौन्दर्य, अन्तः सौन्दर्य, नारी-सौन्दर्य—बाह्य सौन्दर्य-पूर्ण बिम्ब, खण्ड चित्र-मुख, नेत्र, बरौनी, दन्तावलि, कर्ण, भुजाएं।
अन्तः सौन्दर्य-करुणामयी, दया एवं उदारशीला, त्याग, क्षमा एवं सहनशीलता, माया, ममता एवं लज्जा शीलता, गृहिणीत्व, पातिव्रत्य, समर्पणशीलता, वात्सल्यमयी, प्रणयिनी, प्रेरणादायिनी।

पुरुष सौन्दर्य-वाह्य सौन्दर्य, अन्तः सौन्दर्य-स्त्रियों का रक्षक, शरणागतवत्सलता, आत्मसम्मान, कर्मशील पौरुष, उदार-हृदय एवं क्षमाशील, परदुःखकातरता एवं सहनशीलता, मूल प्रवृत्तियों का सौन्दर्य—स्वतन्त्रताप्रिय, महत्त्वाकांक्षी, अधिकार-लिप्सा एवं शासनवृत्ति, आत्मजयाभिलाषी, वात्सल्यमय।
बाल-सौन्दर्य-वाह्य सौन्दर्य, अन्तः सौन्दर्य

चतुर्थ अध्याय

प्रकृति–सौन्दर्य

८३-१२८

प्रकृति और मानव
प्रकृति–सौन्दर्य के दो रूप :
साहित्येतर प्रकृति–सौन्दर्य
साहित्यिक प्रकृति–सौन्दर्य
प्रकृति-सौन्दर्य की विशेषताएं—
साहित्येतर प्रकृति-सौन्दर्य की विशेषताएं
साहित्यिक प्रकृति-सौन्दर्य की विशेषताएं
प्रकृति—सौन्दर्य के विविध रूप
साहित्येतर प्रकृति-सौन्दर्य के विविधरूप
साहित्यिक प्रकृति-सौन्दर्य के विविध रूप
प्रसाद और प्रकृति
प्रसाद और साहित्येतर प्रकृति-सौन्दर्य
प्रसाद और साहित्यिक प्रकृति-सौन्दर्य
प्रकृति का वाह्य सौन्दर्य—
वसन्त की दोपहर, उषा, प्रभात, संध्या, रात्रि, शशि तारा, किरण, वसन्त-सौन्दर्य, ग्रीष्म, सागर और सरिता, लहर, पर्वत आदि का सौन्दर्य।
रुचि एवं वर्ण-भावना
गंध-संवेदना
प्रकृति का अन्तः सौन्दर्य-करुणामयी, स्नेहमयी, विशाल एवं उदार हृदय।

पंचम अध्याय

वस्तुगत सौन्दर्य

१२१–१४२

वस्तुगत सौन्दर्य–परिधि एवं विस्तार
कृत्रिमता एवं वस्तुगत सौन्दर्य
वस्तुगत सौन्दर्य एवं कला
वस्तुगत सौन्दर्य के मापदण्ड
प्रसाद की दृष्टि में वस्तुगत सौन्दर्य–
नगर, प्रासाद एवं भवन, उद्यान ।

षष्ठ अध्याय

कलात्मक सौन्दर्य

१४३–१८८

व्युत्पत्ति, अर्थ एवं परिभाषा
कला और मौलिकता
कला और साहित्य
साहित्य एवं कलागत सौन्दर्य
कलागत सौन्दर्य के विविध रूप
(क) आत्मिक अथवा रसात्मक सौन्दर्य
(ख) भाषागत सौन्दर्य
शब्द-चयन, शब्द-शिल्प एवं विन्यास, शब्द—
शक्तियां, चित्रात्मकता एवं मूर्तिमत्त, संगीतात्मकता
एवं मधुर पदावली, ध्वयात्मकता आदि ।
(ग) आभरणात्मक अथवा आलंकारिक सौन्दर्य
(१) शब्दालंकारात्मक सौन्दर्य—
अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्ति प्रकाश,
वीप्सा आदि से उद्भूत सौन्दर्य ।
(२) अर्थालंकारात्मक सौन्दर्य—
उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति,
विरोधाभास, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, संदेह,
सहोक्ति आदि से उद्भुत सौन्दर्य ।

(३) पाश्चात्य अलंकार—
मानवीकरण, विशेषण विपर्यय,
(घ) छन्द योजनागत—सौन्दर्य
प्रसाद द्वारा प्रयुक्त वार्णिक, मात्रिक, एवं अन्य छन्दों का सौन्दर्य, अन्य भाषाओं के छन्द, नवीन छन्द।

सप्तम अध्याय

सौन्दर्य द्रष्टा प्रसादः अन्य कवियों के परिपार्श्व में

१८९-२०६

(क) संस्कृत कवि एवं प्रसाद

वैदिक कवि एवं प्रसाद
वाल्मीकि एवं प्रसाद,
कालिदास एवं प्रसाद,
भारवि, माघ एवं प्रसाद

(ख) हिन्दी कवि एवं प्रसाद

हरि औध एवं प्रसाद
पंत एवं प्रसाद
निराला एवं प्रसाद

(ग) पाश्चात्य कवि एवं प्रसाद

शेक्सपियर एवं प्रसाद
वर्ड्सवर्थ एवं प्रसाद
कालरिज एवं प्रसाद
बायरन एवं प्रसाद
शैली एवं प्रसाद
कीट्स एवं प्रसाद

उपसंहार

पूर्व अध्यायों का विहंगावलोकन २०७-२१४

परिशिष्ट

ग्रन्थ सूची

२१५–२२४

(अ) आलोच्य ग्रन्थ

(आ) सहायक ग्रन्थ

(क) संस्कृत

(ख) हिन्दी

(ग) अंग्रेजी

(इ) पत्र-पत्रिकाएं एवं कोश

सौन्दर्य: सिद्धान्त—एवं स्वरूप

व्युत्पत्ति—

'सुन्दर' शब्द जन–जीवन में इतना अधिक व्याप्त हो गया है कि प्रत्येक मन को भली या अच्छी लगने वाली वस्तु को 'सुन्दर' शब्द से अभिहित कर दिया जाता है। (जहां कहीं भी व्यक्ति की दृष्टि आकृष्ट होती है, वह आह्लादित हो कह उठता है–अहा! कितनी सुन्दर है, चाहे वह कोई प्राकृतिक दृश्य हो अथवा किसी कलाकार द्वारा निर्मित मूर्ति या चित्र अथवा कोई चल-अचल अथवा सजीव निर्जीव वस्तु।) सुन्दर शब्द से इतना अधिक संपर्क होने के कारण ही संभवतः व्युत्पत्तियों एवं परिभाषाओं में मतैक्य का अभाव है। विद्वान प्रायः उसकी व्युत्पत्ति एवं परिभाषा देते समय अपने–अपने दृष्टिकोण विशेष से प्रभावित रहे हैं।

'सौन्दर्य' शब्द की सर्वाधिक उपयुक्त एवं समीचीन व्युत्पत्ति वाचस्पत्य कोष की प्रतीत होती है। इसमें इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है–सु उपसर्ग-उन्द् धातु अरन् प्रत्यय। उन्द् का अर्थ है आर्द्र करना। अरन् कर्तृवाच्य प्रत्यय है। सु का अर्थ है सुष्ठु अथवा भलिभांति। इस प्रकार 'सुन्दर' का अर्थ है भलीभांति आर्द्र करने वाला। इस शब्द की व्युत्पत्ति भ्वादिगण की 'टुनादि समृद्धौ' धातु से भी हो सकती है। सु(उपसर्ग) अर्थात् अच्छी प्रकार और नन्दयति अर्थात् प्रसन्न करता है। इस प्रकार जो अच्छी प्रकार से प्रसन्न करता है, वह सुन्दर है। सुन्दर का आर्द्र करने वाला अथवा आनन्द प्रदान करने वाला गुण ही सौन्दर्य कहलाता है। अतः सौन्दर्य भाववाचक संज्ञा है।

सौन्दर्य की परिभाषा

सौन्दर्य की परिभाषा में सामान्यतया यही कहा जाता है कि यह वस्तु का एक गुण विशेष है जो मन को खींचता और मुग्ध करता है और जिसमें यह चित्ताकर्षकता एव मनोमुग्धकारिता है, वही सुन्दर है। वास्तव में सौन्दर्य एक विशिष्ट बोध है, जिसके पीछे ज्ञान, आनन्द, क्रियात्मक वृत्ति आदि का सामंजस्य है। इसलिये इसका कोई सर्वमान्य लक्षण देना सम्भव भी नहीं। इस सौन्दर्य का

आनन्द भी एक स्वतंत्र कोटि का है, जो कि अनुभववेद्य है। न तो यह प्रत्यक्ष अनुमित हो सकता है, न प्रमाणित। लेकिन सौंदर्य की उपलब्धि होती है। इसमें किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं। यह उपलब्धि आंतरिकता से होती है या बाहरी करणों से या दोनों ही से इस पर भी विचारक संदिग्ध हैं। न तो सब समय सभी वस्तुओं में और न सब समय किसी एक ही वस्तु में सुन्दरता का अनुभव होता है। अतः स्पष्ट है कि सौन्दर्य बोध का कोइ कारण जरूर है। इस कारण–विचार में विचारकों में बहुत बड़ा मतभेद है।[1]

वस्तुतः सौदर्य की अनुभूति जितनी सहज, सरल एवं आनन्ददायिनी है उसे परिभाषित करने की समस्या उतनी ही जटिल । विभिन्न विद्वानों ने अपनी अपनी रुचि एवं दृष्टिकोण विशेष से उसका साक्षात्कार किया है। अतः मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नाः के अनुसार सौंदर्य की अनेक परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं। इस विषय में गेटे ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है –'मुझे सौन्दर्य शास्त्रियों पर पर हरबस हंसी आती है। वे कुछ मूर्त्त शब्दों द्वारा उस अनिर्वचनीय वस्तु को, जिसे हम सौंदर्य के नाम से अभिहित करते हैं, अवधारणा में परिणत करने का प्रयास करके वृथा कष्ट झेलते हैं।[2] किन्तु ऐसी धारणा रखते हुए भी वे स्वयं भी इसे परिभाषित करने का मोह न छोड़ सके और कहा:–

'सौदर्य वह आदिम विषय है जो स्वयं कभी प्रकट नहीं होता परन्तु जिसका प्रतिबिम्ब सृजनशील मन की सहस्रों विविध उक्तियों में उद्भासित होता रहता है और जो उतना ही वैविध्य पूर्ण है जितनी स्वयं प्रकृति।'[3]

वस्तुतः 'सौदर्य इतना व्यापक है कि उसके समस्त तत्त्वों एवं स्वरूप की ओर स्पष्ट संकेत करने वाली परिभाषा की कल्पना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। उसको परिभाषित करने वाले विद्वानों में यदि कोई उसके आनन्ददायक तत्त्व से अधिक अभिभूत है तो कोई उसके बाह्य रूपाकार में विशेष रुचि लेता है। फलत; उनकी दृष्टि निरपेक्ष नहीं रह सकी है। उनके द्वारा दी गई परिभाषाएं एकांगी रह गई हैं। इसी कारण कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी कहा है कि कि जल में तैरने वाली मछली के सौदर्य का साक्षात्कार उसको पकड़ने वाला मछुआ नहीं कर सकता। स्वार्थ में लिप्त निजत्व की भावना रखने वाला व्यक्ति सच्चे

---

१. हंसकुमार तिवारी (कला से)
२. डा० नगेन्द्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृष्ठ १२८
३. डा० नगेन्द्र पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १२८

सौंदर्य का आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकता ।[१] इसी प्रकार सौंदर्य की किसी निश्चित परिभाषा के अभाव का कारण बतलाते हुए डा० हरद्वारी लाल शर्मा लिखते हैं-हमारे मत में सुन्दर परिभाषा की सीमा से इस लिए बाहर है कि वह हमारी सरलतम और निकटतम अनुभूति है।[२]

फिर भी भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने सौंदर्य को परिभाषित करने के प्रभूत प्रयास किये हैं जिनका संक्षिप्त दिग्दर्शन आवश्यक है।

भारतीय विचारक

भारत में सौन्दर्य की विवेचना का प्रयास उसके प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से, ही उपलब्ध होता है। उस में सौन्दर्य के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। वपुः श्री, चारु, प्रिय, कल्याण, शुभ, स्वाद तथा दृश्य आदि शब्द सौन्दर्य के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। विभिन्न स्थलों एवं अर्थों में प्रयुक्त इन शब्दों से सौन्दर्य के प्रति भारतीय धारणा का अनुमान लगाया जा सकता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता द्वारा सौन्दर्य को परिभाषित किया है। उनके अनुसार रमणीयता में आह्लाद अथवा आनन्द तत्त्व समाहित रहता है। यह आनन्द ही सौन्दर्य का कारण होता है।[३]

अलंकार-शास्त्रियों ने सौन्दर्य की व्याख्या चारुत्व शब्द द्वारा की है। वे अलंकारों को चारुत्व-हेतु कहते हैं।[४] वामन ने 'सौंदर्यमलंकारः' कहकर चारुत्व, सौन्दर्य एव अलंकार तीनों की एक ही स्थिति मान ली है। आचार्य कुन्तक ने सौन्दर्य की विशद व्याख्या की है। उन्होंने सौन्दर्य के लिए 'सौभाग्य' एवं लावण्य' शब्दों का प्रयोग किया है। सौभाग्य आंतरिक धर्म का सूचक है और लावण्य बाह्य सौन्दर्य का।

---

१. सच्चा सौन्दर्य समाधिस्थ साधकों के निकट ही प्रत्यक्ष गोचर होता है, लोलुप मानियों के निकट नहीं।

—रवीन्द्रनाथ, साहित्य पृ० २७

२. आलोचक, सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक, पृ० ८३

३. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणियता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोको त्तरत्वं चाह्लदगतश्चमत्कारत्वपर पर्यायोनुभव साक्षिकोजातिविषः;

रस गंगाधरः, प्रथमोभागः; काशी हिन्दु विश्वविद्यालय साहित्य अनुसंधान समित्या प्रकाशितः, पृष्ठ १३, १४

४. अलंकारो हि चारुत्व हेतुः प्रसिद्धः।

कवि कुलगुरु कालिदास ने भी अपने साहित्य में सौन्दर्य के बारे में कतिपय विचार व्यक्त करते हुए सौन्दर्य को परिभाषित किया है। उन्होंने पंडितराज के समान रमणीयता में सौन्दर्य की अवस्थिति मानते हुए कहा है:-

सर्वावस्थानु रमणीयत्वम् आकृतिविशेषाणाम्। [१]

उनके अनुसार सौन्दर्य नैसर्गिता अथवा स्वाभाविकता में होता है, उसे अलंकरण अथवा मण्डन की आवश्यकता नहीं होती। [२] एक अन्य स्थल पर वे उसकी एक और परिभाषा देते हुए कहते हैं-सच्चा सौंदर्य वह है जो पापवृत्ति की ओर अग्रसर न करके सात्विकता की प्रेरणा देता है। [३]

शिशुपालवधकार माघ क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाले रूप द्वारा उत्पन्न रमणीयता एवं वैचित्र्य में सौंदर्य की स्थिति मानते हैं—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। [४]

भारवि कालिदास के समान ही सौंदर्य को सहज स्वाभाविक मानते हैं:—

न रम्यनाहार्यमपेक्षते गुणम्। [५]

उज्जवलनीलमणि के प्रणेता श्री मद्रूपगोस्वामी ने अंग प्रत्यंग के यथोचित सन्निवेश द्वारा सौंदर्य की विवेचना की है—

अंग प्रत्यंगकानां य; संनिवेशो यथोचितम्।
सश्लिटसंधिबन्धः स्यात सौंदर्यमितीर्यते॥ [६]

संस्कृत साहित्याचार्यों एवं कवियों के अतिरिक्त हिन्दी के विचारकों एवं कवियों ने भी सौंदर्य को परिभाषित करने के प्रभूत प्रयास किए हैं। कतिपय विचार उल्लेखनीय हैं;—

डा० हरद्वारी लाल शर्मा वस्तु के गुण और मानस चेतना दोनों को ही

---

१. कालिदास, अभिज्ञान शाकुंतलम्, अंक ६
यदुच्यते पार्वति न रूपमित्यव्यभिचारी तद्भवः
प्रियेषु, सौभाग्यफला हि चारुता।

२. किमिव हि मधुराणामाकृति विशेषाणाम्
अभिज्ञान शाकुन्तलम् १।१८

३. कुमार संभव ५।३६

४. माघ, शिशुपालवधम्, ४।१७

५. भारविकृत किरातार्जुनियम्, चतुर्थ सर्ग; पृ० ८८

६. उज्ज्वलनीलमणि, उद्दीपन प्रकरण, (बम्बई, काव्यमाला, ९५)
पृष्ठ २७४

सौंदर्य निर्धारण का उपकरण स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं....

'अपनी अनुभूति, स्मृति, कल्पना आदि द्वारा आनंद को उत्पन्न करने वाले वस्तु के गुण को सौंदर्य और वस्तु को सुन्दर कहते हैं।'[१]

श्री हरिवंश सिंह के अनुसार स्थूल या सूक्ष्म जगत् में आत्मा की अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है।'[२]

प्रेमचंदजी सौंदर्य के सम्बंध में किसी प्रकार की शंका अथवा संदेह न कर के प्रकृति को ही सौंदर्यमयी बताते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है। उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगन्ध भरे फूल देखे हैं, मीठी बोली बोलने वाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल कल निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं-यही सौंदर्य है।[3]

श्री लीलाधर गुप्त सौंदर्य को वस्तु एवं मानव मन के मध्य विशिष्ट संबध का द्योतक मानते हैं-

सौंदर्य प्रकृति के कुछ दृश्यों अथवा कला कृतियों और मानव मन के मध्य एक विशिष्ट सम्बंध का द्योतक है।[४]

डा० रामविलास शर्मा आनन्द तत्त्व को महत्त्व देते हुए वस्तु के आनन्द प्रदान अरने वाले धर्म को सौंदर्य मानते हैं।

प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौंदर्य है।[५]

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर सौंदर्य की स्थिति सत्य तथा मंगल के सामंजस्य में मानते हैं। सत्य के साथ मंगल के पूर्ण सामंजस्य को यदि हम देख सकें तो फिर सौंदर्य हमारे लिए अगोचर नहीं रहता।[६]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सौंदर्य का विवेचन करते हुए लिखते हैं—

सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला समीक्षा की यह एक बड़ी ऊंची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीर

---

१. हरद्वारी लाल शर्मा, सौंदर्य शास्त्र, पृ० १०

२. हरिवंश सिंह, सौंदर्य विज्ञान, पृ० ५६-५७

३. साहित्य का उद्देश्य, पृ० ८

४. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, पृ० २१३

५. समालोचक, सौंदर्य शास्त्र-विशेषांक पृ० १७६

६. साहित्य पृ० ३५ तथा

This is the ultimate object of our existence that are must cher know that "beauty is truth, truth beauty."

Tagor, Sadhna, Page 141

कार्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान से या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।[1]

प्रकृति सौंदर्य के सुकुमार कवि पंत ने सौंदर्य की अत्यन्त व्यापक परिभाषा दी —

वही प्रज्ञा का सत्य-स्वरूप हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप लोक सेवा में शिव अविकार,
स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार सत्य ही प्रेमोद्गार
दिव्य सौंदर्य स्नेह-साकार भावनामय संसार।[2]

महाकवि बिहारी ने भाव के साथ-साथ नित्य नवीनता में सौंदर्य की अवस्थिति मानते हुए कहा है—

लिखन बैठि जाकि सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केतेजगत के, चतुर चितेरे कूर।।[3]

सौंदर्यवादी प्रसाद इसे चेतना का उज्ज्वल वरदान मानते हैं-

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते है।[4]

हंसकुमार तिवारी सौंदर्य को एक विशिष्ट बोध मानते हैं—

वास्तव में सौंदर्य एक विशेष बोध है जिसके पीछे ज्ञान, आनन्द, क्रियात्मक वृत्ति आदि का सामंजस्य है। इसलिए इसका कोई सर्वमान्य लक्षण देना संभव भी नहीं। इस सौंदर्य का आनन्द भी एक स्वतंत्र कोटि का है जो कि अनुभववेद्य है। न तो वह प्रत्यक्ष अनुमित हो सकता है न प्रमाणित। लेकिन सौंदर्य की उपलब्धि होती है।[5]

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि भाग १ पृ १६४ १६५
२. पंत, पलव पृ० ८७
३. बिहारी विश्वनाथ प्रसाद ,मिश्र, पृ० २१६।६
४. प्रसाद, कामायनी पृ० १०२
५. हंसकुमार तिवारी, कला से

पाश्चात्यक विचारक

पश्चिम में सौंदर्य-शास्त्र विद्वानों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है वहां इस विषय की विशद विवेचना हुई है। इन विचारकों ने सौंदर्य पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है। यही कारण है कि वहां इसके बारे में अनेक वर्ग बन गए हैं। कतिपय विचारक इसे वस्तु के बाह्य आकार प्रकार में निहित मानते हैं, कुछ सौंदर्य के आंतरिक स्वरूप को महत्त्व देते हैं तथा एक वर्ग उसे आध्यात्मिकता के स्तर पर ही स्वीकार करता है। अस्तु कुछ परिभाषाएं अवलोकनीय है—

प्लेटो ने सौंदर्य को शिवतत्त्व से निष्पन्न मंगलविधायक माना है।

The principal of goodnses has reduced itself to the law of beauty. For meassure and proportion always pass in to beauty and excellence.[1]

प्लेटो के समान ही प्लोटिनस भी परमशक्ति में शिवतत्त्व की अवस्थिति मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर के शिवरूप में ही सौन्दर्य है।[2]

टालस्टाय ने विषय एवं विषयीगत दोनों ही दृष्टिकोणों से सौन्दर्य का विवेचन किया है। उनके अनुसार यदि एक ओर विषयीगत रूप में हम उस वस्तु को सुन्दर कहते हैं, जो हमें किसी प्रकार का आनन्द प्रदान करती है तो दूसरी ओर-विषयगत रूप में सौन्दर्य की सत्ता हम वस्तु की पूर्णता में मानते हैं।[3] शैफ्ट्स्बरी ने सौन्दर्य की स्थिति पदार्थ अथवा वस्तु में न मान कर कला एवं अभिव्यक्ति की क्षमता में मानी है।[4] कांट सार्वजनिक रूप में निष्काम भाव से तुष्ट करने वाली

---

1. Bearnard Basonquet, A History of Aesthetics, 1934, page 33.
2. Beauty is something supervening on the symmetry and that the symmetrical is beautiful for some other reason. Carrit, Philosphies of Beauty, page 191
3. In the subjective aspect, we call beauty that which supplies us with a particular kind of pleasure'.
   In the objective aspect, we call beauty something absolutily perfect.
   Carrit. Philosophies of beauty, page 191.
4. The beauaiful, the fair, the camly, were never in matter, but in the art and design, naver in body itself but in form or forming power.
   —Carrit. Philosophies of Beauty, page 65.

वस्तु में सौन्दर्य की स्थिति मानते हैं।[१] रस्किन ने सौन्दर्य में नैतिकता को महत्त्वपूर्ण माना है[२] उन्होंने सौन्दर्य को आनन्द से संयुक्त माना है। उपयोगिता उनके लिए आवश्यक नहीं है।[3]

हीगेल सौन्दर्य को अनुभूति का विषय मानते हुए उसकी सत्ता विचार में मानते हैं।[४] बामगार्टन के अनुसार सौन्दर्य की स्थिति पूर्णता के आविर्भाव में है।[५] प्रसिद्ध अभिव्यंजनावादी क्रोचे अभिव्यञ्जना में ही सौन्दर्य का अस्तित्व मानते है।[६] हरबर्ट अमर मूल्यों में सौन्दर्य के दर्शन करते हैं।[७] अरस्तू प्लेटो के समान

---

1. "The beautiful is that which is thought of as the object of a universal satisfaction apart from any conception."
   --Carrit, "philosphies of Beauty, page 111.
2. By beautiful we generally understand whatever, when seen, heard or understood delights, pleases by causing within us agreeable sensation and love. God is the most beautiful of all things."
   -Carrit, Philosophies of Beauty, page 60.
3. The bending trunk warning to and from in the wind above the waterfall, is beautiful because it is happy though it is perfectly useless to us.
   —Carrit. Philosophies cf beautiful, page 175.
4. 'Beauty is the idea as it shows itself to sense.'
   B. Bosanquet, History of Aesthetics, page, 336.
5. 'The appearance of perfactions, or perfaction, obvious to tast in the wide sense, is beauty.'
   Carrit, Philosophise of Beauty, Page 64.
6. '; to define beauty as successful—expression, or rathar expression and nothing more, beacause, expression when it is not successful is not expression.'
   —B. Croce, 'Aesthetics, page 79.
7. 'Beauty stands out more and more as some thing parmanent possessed of undeniable value.'
   —B. Croce, 'Aesthetios, page 309.

के मंगल को सुन्दर मानते हैं, जो मांगलिक होने के कारण आनन्ददायक भी हैं।[1] बर्क उस वस्तु अथवा गुणों को सुन्दर कहते हैं जिनसे प्रेम उत्पन्न होता है।[2]

इस प्रकार पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण विशेष से सौन्दर्य को परिभाषित करने के प्रयास किये हैं। कोई उसके आन्तरिक गुण आनन्द से अधिक प्रभावित है, कोई उसके नैतिक पक्ष से और कोई उसके वाह्य स्वरूप से। अतः रुचि वैभिन्य एवं सौन्दर्य की विलक्षणता के कारण उसकी परिभाषाओं में पूर्णता का प्रायः अभाव सा ही परिलक्षित होता है।

स्वरूपः

सौन्दर्य की उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विद्वानों ने उसका अवलोकन विभिन्न दृष्टियों से किया है। कुछ विद्वान् वस्तु के वाह्य रूपाकार में उसका अस्तित्व मानते हैं, जबकि कुछ उसकी स्थिति मन में मानते हैं। उसकी मानस-सत्ता को स्वीकार करने वालों ने उसके आनन्ददायक गुण का भी निवेचन किया है। उन्हीं में से कुछ ने उसे व्यापक दार्शनिक दृष्टि से देखते हुए उसकी आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार किया है। कुछ सौन्दर्य शास्त्री मध्यमार्ग के अनुयायी हैं। उनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति के लिये वस्तु का रूप एवं मानसिक आकर्षण दोनों आवश्यक हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्रियों के तीन प्रमुख वर्ग हैं-वस्तुवादी विचारक; आत्मवादी विचारक एवं समवन्यवादी विचारक।

वस्तुवादी विचारकों ने सौन्दर्य को इन्द्रियों को सुख देने वाले गुणों अथवा रूप से समाहित माना है। पंचेन्द्रियों को सुखद लगने वाले उपकरण ही इनके सौन्दर्य के माप हैं। वस्तु की सुडौलता, सम्मात्रा, आकार, रूप, व्यस्थित क्रम, एकान्वीत, स्पष्टता, मसृणता, स्निग्धता' वर्णदीप्ति' सुकुमारता, कोमलता, सामंजस्य, संतुलन, संश्लिष्टता, समन्वय, अनुपात, माधुर्य एवं उदात्तता आदि गुणों के आधार पर ये वस्तुवादी विचारक सौन्दर्य का निर्णय करते हैं।

---

1. 'The bea-utiful is that good which is Pleasant beca-use it is good.;

   —B. Bosa-uqut, History of Aestheties, page 63.

2. By beautiful I mean, that quality or it these quajities in bodis, by which thay cause love or some passion similer to it."

   —Carrit, philosohies of Beauty, page 99.

आत्मवादी विचारकों ने सौन्दर्य का सूक्ष्म रूप में ग्रहण किया है। उनके अनुसार इस सृष्टि में एक परम सत्ता व्याप्त है। उस परम सत्ता की अनुभूति आनन्द अथवा आह्लाद के रूप में होती है और यह आनन्द अथवा आह्लाद ही सौन्दर्य-स्वरूप हैं।

किन्तु तृतीय वर्ग के सौन्दर्य-शास्त्रियों ने इन दोनों ही सिद्धान्तों का अतिवादी मान कर समन्वय-स्थापन का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार ये दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी हैं। उनका कहना है कि आनन्द अथवा आह्लाद की प्रतीति के लिए रूप का बोध भी आवश्यक है। अतः सौन्दर्य अन्तःबाह्य के समन्वय में हैं।

पाश्चात्य दृष्टिकोणः

वास्तुवादी विचारकः—

उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि पश्चिम में सौन्दर्य-शास्त्रियों की एक लम्बी परम्परा रही हैं, परन्तु उनमें मत-वैभिन्य का भी अभाव नहीं है। वहां तीनों ही दृष्टिकोणों को मानने वाले अनेक समुदाय हैं। सौन्दर्य को वस्तुगत मानने वाले विचारक सौन्दर्य के बाहरी रूप संगठन, आकृति एवं सुडौलता आदि पूर्वोल्लिखित गुणों को अधिक महत्व देते हैं। इस वर्ग में वहां सुकरात,(Socrates), अरस्तू (Arestotal), लेसिंग (Lessing), होगार्थ, पियर बफियर (Pere Buffir), बर्क (Burk), एलिसन (Alison), रिचर्ड प्राइज (Richard Price), हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer), स्टूअर्ट (Stuart), गेरार्ड (Gerad), डार्विन (Darwin), हैमिल्टन Hamilton), केमे (Kames), शन्स्टन (Shens-) tun), टयकर (Tucher) आदि मुख्य हैं।[1]

सुकरात, पिथोगोरस तथा उनके पूर्ववर्ती विचारकों में सौन्दर्य को नितान्त निश्चित आकारों द्वारा मापा है। सुकरात तो सौन्दर्य का सम्बन्ध उपयोगिता में भी मानते हैं। उनके अनुसार—

एक मैली कुचली गोबर की टोकरी, यदि वह किसी उपयोग में आने योग्य हो, सुन्दर है पर वह स्वर्ण रचित ढाल नहीं, जिसमें उपयोग की दृष्टि से कोई दोष हो।

अरस्तु ने भी सौंदर्य के मानसिक स्वरूप पर विचार न करके उसके बाह्य रूप को ही अधिक महत्व दिया है। उसने सौन्दर्य में निश्चित आकार एवं आयाम को महत्व दिया है:—

---

१ रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य पृष्ठ १४८

'किसी भी सुन्दर वस्तु में चाहे-वह जीवधारी हो अथवा अवयवों से संघटित कोई अन्य पूर्ण पदार्थ, अंगों का व्यवस्थित अनुक्रम मात्र पर्याप्त नहीं है, वरन् उसका एक निश्चित आयाम भी होना चाहिये, क्योंकि सौन्दर्य आयाम और व्यवस्था पर ही निर्भर होता है। इसलिए कोई अत्यन्त सूक्ष्म प्राणी सुन्दर नहीं हो सकता क्योंकि उसे देखने में इतना कम, प्राय: नहीं के बराबर समय लगता है कि उसका विम्ब सर्वथा अस्पष्ट रह जाता है। इसी तरह अत्यन्त विराट् आकार का पदार्थ भी सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि हमारी दृष्टि उसके समग्र रूपकों को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती, जिसके फलस्वरूप द्रष्टा के मन में उसकी पूर्णता और एकत्व की भावना खंडित हो जाती है मानो किसी एक हजार मील लम्बे पदार्थ का देखने का प्रयास हो। अत: ऐसे जीवधारियों में एक निश्चित आकार आवश्यक होता है-ऐसा आकार जिसे दृष्टि एक साथ समग्र रूप में ग्रहण कर सके।'[1]

सौन्दर्य को वाह्य रूप से ही स्वीकार करने के कारण उसने कलाओं को ऊपरी रेखाओं पर अधिक ध्यान दिया है। इसीलिए उसने कलाओं को अनुकृति माना है। उसने अनुकृति के लिए भी नकल शब्द का प्रयोग किया है व समस्त कलाओं को उसी का परिणाम माना है।

साहित्य के अन्तर्गत भी अरस्तु ने नाटक की वस्तु के समुचित विभाजन और विन्यास एवं उसके सम्पूर्ण अंगों के प्रभाव आदि का अधिक महत्व दिया है। उसके अनुसार कथानक का आयाम निश्चित होना चाहिये। उसका आरम्भ एवं अन्त प्रभावशाली और स्पष्ट होना चाहिए।

हागार्थ ने सौन्दर्य को सम्मात्रा, स्पष्टता एवं आयतन में देखा हैं।[२] डिडेरो और वर्क ने वस्तु की लघुता; स्निग्धता, कोमलता, मसृणता, पवित्रता और वर्ण दीप्ति में सौन्दर्य का अवलोकन किया है।[3] रस्किन ने सौन्दर्य के अन्तर्गत एकता, स्थिरता, सम्मात्रा, शुद्धता आदि को परिगणित किया है।[४] लेसिंग को मूर्ति की असुन्दरता सहन नहीं थी। अत: उसने समानता एवं सुडोलता में सौन्दर्य देखा है।

इसी प्रकार अन्य सौन्दर्य शास्त्रियों ने भी सामंजस्य, लय, एकान्विति, सम्मात्रा आदि में सौन्दर्य के दर्शन किए हैं। साथ ही कुछ विचारकों ने इसका सम्बन्ध ईश्वर के साथ भी जोड़ दिया है यथा रस्किन ने सौन्दर्य पर वस्तुगत रूप से विचार करते हुए उसके आध्यात्मिक स्वरूप को भी परिलक्षित किया है।

---

१. सम्पादक डा० नगेन्द्र, अरस्तु का काव्य शास्त्र, पृ० २३
२. श्री हरिवंश सिंह शास्त्री, सौन्दर्य विज्ञान, पृ० २१
३. वही, पृ० २९, २२
४. डा० फतहसिंह, साहित्य और सौन्दर्य, पृ० १०७

आत्मवादी विचारक :

वस्तुवादी विचारकों के समान ही पश्चिम में सौन्दर्य को आत्मा से सम्बन्धित अथवा मानसिक मानने वाले विचारकों की भी एक लम्बी परम्परा है। उनके विचारों की आधारभूमि अत्यन्त सूक्ष्म रही है। उन्होंने किसी न किसी रूप में सौंदर्य को अध्यात्म से सम्बन्धित कर दिया है। अध्यात्म की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित हुए बिना वास्तविक सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। उनके सिद्धान्त व्यक्तिगत अनुभूति एवं मौलिक तत्त्व निरूपिणी बुद्धि से निर्मित हैं। फलतः उनके प्रतिपादन में प्रायः वे इतना उलझ गए है कि एक स्थान पर वे निश्चित धारणा व्यक्त करके पुनः अन्य स्थल पर उसका निषेध करते प्रतीत होते हैं।

इस वर्ग के चिंतकों में प्लेटो (Plato), प्लेटिनस (Plotinus), सेंट आगस्टाइन (St. Augustine), बामगार्टेन (Baum Garten), पियर एण्ड्री (Pere Andre), लिवेक (Leveque) लार्ड शेफ्टसबरी (Shaftesbury) रीड (Read), शिलर (Schiller), आडगन (Odgen), लोज (Lotze) हरबर्ट (Herbart), विशर (Vischer) मेन्डलसोन (Mendelssohn) काण्ट (Kant) हिगेल (Hegel), शापेनहार (Schopenhawer) बर्कले (Berkley) शेलिंग (Schelling) हचसन (Hutcheson) आस्कर वाइल्ड (Oscar wild) कीट्स (Keats) आदि प्रमुख हैं।[1] अरस्तू के गुरु प्लेटो नैतिकता को महत्व देने वाले आदर्शवादी विचारक हैं। उनकी धारणा है कि सृष्टि का सौन्दर्य सदैव एकरस एवं अखण्ड रहता है। यही सौन्दर्य समस्त सृष्टि में व्याप्त है। यह समस्त सृष्टि परमसत्ता के सौन्दर्य की अनुकृति है। कलाकार इसी अनुकृति की अनुकृति करता है। इसे उन्होने बढ़ई एवं खाट के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। उन्होंने नैतिकता को महत्व दिया है, किन्तु उपयोगिता को सौन्दर्य से पृथक माना है। वह सौन्दर्य में वृद्धि तो कर सकती है, परन्तु स्वयं उपयोगिता सौन्दर्य नहीं है।

प्लेटो के समान ही जा फ्राय ने ईश्वर को ही सौन्दर्य माना है। उनके अनुसार सुन्दर के साथ स्वार्थ भावना का सम्बन्ध नहीं होता। उससे प्राप्त आनन्द निष्काम आनन्द होता है।

विक्टर कूजां भी नैतिकतावादियों में से हैं। उन्होंने भी सौन्दर्य की बड़ी व्यापक व्याख्या की है। उनके अनुसार समस्त शारीरिक एवं प्राकृतिक दोनों ही प्रकार का सौन्दर्य आध्यात्मिक अथवा नैतिक सौन्दर्य का प्रकाश है और यह सौन्दर्य भी ईश्वर के सौन्दर्य पर आधारित है। अतः ईश्वर ही परम सुन्दर है।

---

१. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रेम और सौन्दर्य, पृ० १५१

बामगार्टन सौन्दर्य को हमारी वृत्तियों का आदर्श लक्ष्य मानते हैं। उन्होंने कहा है कि सौन्दर्य शास्त्र हमारी चेतना, अनुभूतियां अथवा वृत्तियों का धर्म है।[1] शापेनहावर सौन्दर्य का विचार अहम् लोप[2] में करते हैं।

कालरिज सौन्दर्य की मानसिक सत्ता मानता है। कवि के मन तथा वाह्य जगत् के सम्मिलन में ही कला अथवा सौन्दर्य की सत्ता है। इनके सम्मिलन से आनन्द की अनुभूति होती है। यही आनन्दानुभूति सौन्दर्यानुभूति है।

आधुनिक सौन्दर्य शास्त्रियों में कौले, आई० ए० रिचर्ड्स एवं काण्ट प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा सौन्दर्य-चिन्तन को नवीन दिशा दी है।

कांट के लेखों में इस मत का सूत्रपात हुआ है कि सौन्दर्य मन की ही वस्तु है। वह मानव-मन के विशिष्टअंश को प्रभावित करता है। उनके अनुसार मस्तिष्क की अस्तव्यस्त अनुभूतियों को बुद्धि एवं कल्पना एकत्रित एवं समन्वित करके, एक रूप प्रदान करती । यही सौन्दर्य होता है। सौन्दर्यमय रूप वही है, जिससे आनन्द की उपलब्धि होती है।[3]

जहां काण्ट ने मन एवं वाह्य जगत् के सामंजस्य में सौन्दर्य की स्थिति मानी है, वहां क्रोचे ने वाह्य जगत् की नितान्त अवहेलना करदी है। उन्होंने अभिव्यंजना को ही सौन्दर्य माना है।

क्रोचे ने मानसिक क्रियाओं को ही एक मात्र मान्यता प्रदान की है तथा वाह्य उपकरणों को केवल गौण साधन के रूप में ग्रहण किया है। उसने मानसिक व्यापारों

---

1. According to Baumgarten 'Aesthetics was a seience of sensitive cognition only' -Croce, Aesthetics, page. 212
2. Effacement of the self.
3. "All that comes to the mind is a chaos of sansations; all form or order in entirely due to the mind's nature. The chaotic sensations are unified into phenomena by the imagination guide by the conceptions of the understanding." Immanual Kant.

   -Carrit, Philosophies of Beauty, page 109, 11

   ii. "That is beautiful............pleasure."

   -B· Croce, Aesthetic, page 280

की दो कोटियां मानी हैं-सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक।[1] व्यावहारिक क्रिया इच्छा-शक्ति पर निर्भर रहती है, किन्तु मनकी सैद्धान्तिक क्रिया इच्छा शक्ति से नितान्त स्वतन्त्र रह कर अपना कार्य करती है। सैद्धान्तिक मानसिक क्रियाओं का उसने दो कोटियों में विभक्त कर दिया है, इन्ट्यूटिव और कन्सेप्चुअल अर्थात् सहज ज्ञान पर आधारित एवं सम्बन्ध सूचक प्रत्ययों पर आधारित। सौन्दर्य-दर्शन का सम्बन्ध प्रथम कोटिसे तथा तर्क शास्त्र का दूसरी कोटि से है।

सौन्दर्य का सम्बन्ध सहज ज्ञान या स्वयं प्रकाश्य से है। यही सहज ज्ञान या इन्ट्यूशन का स्वतन्त्र अस्तित्व है। स्वयं प्रकाश की ऊपरी सीमा पर संवेदनाएं किवास करती हैं, संवेदनाएं अस्थिर एवं अरूप होती हैं। वे मन में ही रूप ग्रहण करती है। प्रतिक्षण मन में उठने वाले आवेग, हमारी संवेदनाएं, हमारे मन पर पड़ने वाले क्षणिक प्रभाव,ये सभी स्वयं प्रकाश्य द्वारा रूप ग्रहण करते हैं। सुन्दर वही है, जिसमें अभिव्यंजना द्वारा हमारी सवेदनाएं सफलता पूर्वक रूपायित हुई हैं। रूप जितना ही अधिक सुस्पष्ट होकर अभिव्यंजित होता है, वह उतना ही सुन्दर होता है। क्रोचे इस रूप की वाह्य अभिव्यंजना को भी आवश्यक नहीं मानते।

क्रोचे ने अपने निष्कर्षों को अपनी पुस्तक के प्रथम अध्याय के अन्त में संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

We may thus add this to the various verbal descriptions of intution noted at the begining, intutive knowledge is expressive knowledge. Independent and autonomous in respect to intellectual function, indifferent to later empirical discriminations, to reality and to unreality to formations and appeareptions of space and time, which are also later. Intution or representation is distinguished as form from what is felt and suffured, from the flux or wave of sensation, or from Psychic matter; and this from this taking possession, is expression. To

1. Knowledge has two forms; it is either intuitive knoweedgs or logical knowledge. Knowledge obtained from through nagination or knowledge obtained through intellect; knowledge of the individual or knowledge of the universal; of Individual things or the relations between them; it is, in fact productive either of images or of concepts.

--B. Croce, Aesthetics, page 1

intuit it to express; and nothing else (nothining more, but nothing less) than to express.1

आई० ए० रिचर्ड्स ने भी अपने से पूर्ववर्ती सौन्दर्य-शास्त्री क्रोचे, सन्त्याना, क्लाइव बेल आदि के मतों का खण्डन करते हुए अपनी मौलिक विचारधारा प्रस्तुत की है। वे सौन्दर्य अथवा कला को जीवन से विलग नहीं मानते हैं। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि सौन्दर्य, कला तथा जीवन का निकटतम एवं अनिवार्य सम्बन्ध है। सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध जीवन की उन सामान्य भावनाओं से है, जिनका प्रत्यागमन उसके सभी क्षेत्रों में प्राप्त होता है।

उन्होंने सौन्दर्य को मूल्य से सम्बन्धित माना है। सौन्दर्य वही है जो मूल्यवान है। सौन्दर्य इसलिए मूल्यवान है कि उससे विरोधी मनोवेगों में व्यवस्था और सन्तुलन उत्पन्न होता है। मानव–मन में निरन्तर आवेग उत्पन्न होते रहते हैं। उनमें से कुछ तो परस्पर सम्बन्ध और अनुकूल होते हैं, किन्तु कुछ अन्य विरोधी और प्रतिकूल कोटि के मनोवेग भी रहते हैं। मनोवेगों की संतुलित और व्यवस्थित अवस्था को उन्होंने (Synaesthisics) की संज्ञा दी है और इसके आधार पर सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

'Not all impulses ...... are naturally harmonious, for conflict is possible and commen. A Complete systematization must take the form of such an adjustment as will preserve free play to every impuls, with entire avoidence of frustration. In any equilibrium of this kind, however momentory we are experiencing beauty."

जार्ज सन्त्याना सौन्दर्य और आनन्द का अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार सौन्दर्य से आनन्दानुभति होती है तथा उदात्त से भय एवं विशालता की भावना होती है। वे सौन्दर्य को नैतिकता से युक्त 'सत्यं' 'शिवं' स्वरूप मानते हैं।[२]

इस प्रकार सौन्दर्य को आत्मगत मानने वाले विचारकों ने उसे मानव-मानस की क्रियाओं का फल बताते हुए अपने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

---

1. B. Croce, Aesthetics, Page 11
2. I can drew no distinction.... between moral and aesthetic values; beauty being a good, is a moral good, and the practice and enjoyment of art, like all practice and all enjoyment.
   IRVING SINGER, Santyana's Aesthetics, page VIII

समन्वयवादी विचारक :

सौन्दर्य को वस्तुगत एवं उसे आत्मगत मानने वाले दोनों ही वर्गों के विचारकों के सिद्धान्त अतिवाद से आक्रान्त हैं। वस्तुतः न तो केवल रूप अथवा वस्तु ही सुन्दर हो सकती है, क्योंकि उसके प्रति मन में आकर्षण एवं आनन्द-दायक अथवा सुखात्मक भावना का होना आवश्यक है अन्यथा उसमें व अन्य वस्तुओं में कोई अन्तर न रहेगा। इसी प्रकार केवल मानसिक रूपों को सुन्दर नहीं कहा जा सकता। रूप के प्रकटीकरण के लिए वाह्य जगत् में उपलब्ध वस्तुओं से ही सहायता लेनी होगी। जिस रूप की वाह्य अभिव्यक्ति न हो, उसके सौन्दर्य की प्रतीति किस प्रकार हो सकती है। अतः इन दोनों ही अतिवादों की जटिल प्रक्रिया से ऊपर उठकर कतिपय दार्शनिकों एवं विश्व कोषकारों ने सौन्दर्य की सत्ता रूप एवं मानस दोनों से सम्बन्धित मानी है। प्लेटो, बोसांके, हीगेल, टाल्स्टाय आदि दार्शनिकों के नाम इस विषय में उल्लेखनीय है।

भारतीय दृष्टिकोण :

सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टि अत्यन्त व्यापक एवं विशद रही है। उनके अनुसार कला अथवा सौन्दर्य सच्चिदानन्द के रूप की अभिव्यक्ति है। इस सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में उस 'सत्यं' 'शिवं' सुन्दरम का सौन्दर्य आभासित हो रहा है। 'सत्यं' 'शिवं' सुन्दरम का प्रकट रूप होने के कारण ही सौन्दर्य परमानन्द की अनुभूति, प्रदान करने वाला है। इस व्यापक दृष्टिकोण को लेकर चलने के कारण भारतीय आचार्य अतिवाद के आरोपों से प्रायः मुक्त रहे हैं। उनकी दृष्टि सर्वथा एकांगी नही रही है अपितु उन्होंने सौंदर्य के दोनों ही पक्षों पर पर्याप्त विचार किया है। उनके लिए हिमालय एवं विन्ध्यगिरि की पर्वत श्रेणियां भी उतनी ही सुन्दर है जितनी मानव हृदय में उठने वाली उदात्त एवं मधुर भावनाएं।

भारतीय सौन्दर्य शास्त्रियों ने सौन्दर्य के वाह्य पक्ष के विषय में इतना अधिक चिन्तन नहीं किया है, जितना कि उसके आन्तरिक पक्ष के विषय में।[1] उनका ध्यान उसके वाह्य आकर्षण की ओर उतना नहीं गया है, जितना कि उसके आह्लादकत्व की ओर।

भारतीय विचारकों ने सौन्दर्य के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है, यथा चारु, रमणीय, रम्य, मनोरम, मधुर एवं सुन्दर। ऋग्वेद काल से अद्यतन सौन्दर्य के लिए भिन्न-भिन्न परिस्थियों में इन्हीं शब्दों का प्रयोग होता आ रहा है।

---

१. Ramaswami, Indian Aesthetics, Music and dance, Page 2

भारतीय सौन्दर्य शास्त्र के दो प्रमुख अंग हैं–रस और अलंकार। इनमें से अलंकार का मूल आधार है व्याकरण और रस का मूल आधार है कामसूत्र। [१]

वस्तुवादी विचारक :

रसवादी एवं ध्वनिवादी आचार्यों के अतिरिक्त प्रायः अन्य आचार्य वस्तुवादी ही हैं। परन्तु न तो वस्तुवादी आचार्यों ने पूर्णतः सौन्दर्य के आन्तरिक पक्ष की अवहेलना की है, न आत्मवादी विचारकों ने उसकी सत्ता को पूर्णरूपेण अस्वीकृत किया है। वस्तुतः एक स्थिति पर सभी समन्वय वादी प्रतीत होते हैं।

रामास्वामी भामह के काव्यालंकार एवं दण्डी के काव्यादर्श को भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की महान् रचनाए मानते हैं। [२] अलंकारवादियों ने सौन्दर्य को अलंकारों में ही समाहित माना है। वामन ने अलंकारों के द्वारा काव्य को ग्राह्य बताते हुए सौन्दर्य एवं अलंकार का तादात्म्य स्थापित किया है। उनके अनुसार सौन्दर्य ही अलंकार है। [३] ये अलंकार काव्य की वाह्य शोभा के उपकरण हैं (काव्य शोभाकरान्धर्मानलंकारा प्रचक्षते)। इसलिए वामन ने गुणों को महत्व देते हुए कहा है कि सौन्दर्य प्राप्ति के लिए गुणों का आदान एवं दोषों का परिष्कार आवश्यक है।

सौन्दर्य का समावेश दोषों के वहिष्कार और गुण तथा अलंकार के आदान से होता है। गुण नित्य धर्म है, अलंकार अनित्य–केवल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं, परन्तु केवल अलंकार नहीं, गुण की स्थिति अनिवार्य है, अलंकार की वैकल्पिक। गुण और अलंकार के अन्तर्गत वामन ने काव्यगत सौन्दर्य के विभिन्न रूपों को अन्तभूत कर उन्हें एक प्रकार से सौन्दर्य के पर्याय के रुप में ही प्रयुक्त किया है। [४] दीप्त रसत्व कान्ति से भी वामन का आशय सौन्दर्य की ओर संकेत करना ही है।

भामह एवं उद्भट तो शुद्ध अलंकारवादी अथवा वस्तुवादी हैं। वे तो अलंकारों

---

१. डा० नगेन्द्र, रस सिद्धांत का आरम्भ, परिषद-पत्रिका, सम्पादक भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव, जनवरी १९६५, पृ० ४९

२. Bhamha's Kavylankar and Dendins Kavyadarsh are among the gretsest of the Indian woaks on Aesthetics.'
–Ramaswami, Indian Aestheties, Page 65

३. काव्यं ग्राह्मलकारात् ॥१॥ सौन्दर्यमलंकार : ॥२॥
डा० नगेन्द्र, काव्यालंकार सूत्रवृति :

४. वही, पृ० ९

के बिना काव्य को स्वीकार ही नहीं करते । उनके अनुसार अलंकार अथवा वक्रोक्ति ही काव्य का सर्वस्व है ।

आचार्य क्षेमेन्द्र भी वस्तुवादी विचारक हैं । अपनी औचित्य-विचार चर्चा के अन्तर्गत उन्होंने वस्तु के उचित विन्यास में ही सौन्दर्य माना है ।[1]

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्य जीवितम् ।
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृति : ।
औचित्यादच्युतानित्यं भवन्त्येव गुणा गुणा : ॥
क्षेमेन्द्र, औचित्यविचार चर्चा ।

कुन्तक ने भामह और उद्‌भट की परम्परा में ही सहयोग दिया है । भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार की श्रेणी में परिगणित किया है । उनके मतानुसार वह अलंकार की आधार भूमि है । परन्तु कुन्तक ने तो वक्रोचित को ही काव्य का सर्वस्व माना है । उनके अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ 'विचित्र उक्ति' होता है । इस वक्रता में तीन गुण सन्निहित होते है—

(क) लोक एवं शास्त्र-प्रचलित रूढ़-शब्द-अर्थ से भिन्नता ।

(ख) कवि प्रतिभा का चमत्कार ।

(ग) सहृदय में समानान्तर अनुभूति की अभिव्यक्ति-क्षमता ।

इन गुणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति उस विशेष शैली को कहा जा सकता है, जो लोक, शास्त्र प्रचलित अभियार्थ से भिन्न, प्रभिमासम्पनता के कारण सहृदय में सम अनुभूति की अभिव्यक्ति कर सके । क्रोचे जहां अपनी ही धारणाओं के जाल में उलझ गए हैं, वहां वक्रोक्तिकार ने अपना सिद्धान्त बड़े ही सुलझे हुए ढंग से प्रस्तुत किया है । डा० नगेन्द्र ने उनकी प्रशंसा में लिखा है:—

"भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में ध्वनि के अतिरिक्त इतना व्यवस्थित विधान किसी अन्य काव्य-सिद्धान्त का नहीं है, और काव्य-कला का इतना व्यापक और गहन विवेचन तो ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत भी नहीं हुआ । वास्तव में काव्य के वस्तुगत सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण केवल हमारे काव्य शास्त्र में ही नहीं, पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी सवर्था दुर्लभ हैं ।[2]

इस प्रकार रीति, अलंकार, औचित्य, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदाय वालों ने सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार किया है ।

---

१. डा० नगेन्द्र, काव्यालंकार सूत्रवृति :, पृ० ९

२. नगेन्द्र, भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ४६४

आत्मवादी विचारक :

भारतीय सौन्दर्य-साधना का विकास 'सत्यं,' 'शिवं,' 'सुन्दरं' की विशाल एवं व्यापक भावना के साथ हुआ है। भारतीय दार्शनिकों ने 'परम् सुन्दरम्' की कल्पना की है। वह ब्रह्म की परम् सुन्दर है। अतः इस ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप, यह समस्त सृष्टि भी सुन्दर है। वे ब्रह्म से विहीन इस जगत को मिथ्या मानते हैं। सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्रायः आध्यात्मिक रहा है। उनकी आध्यात्मिक दृष्टि की ओर संकेत करते हुए श्रीरामेश्वरलाल खण्डेलवाल लिखते हैं-"वस्तुतः भारतीय विचारधारा में कोरा बाहरी सौन्दर्य अपने आप में क्षुद्र है। वह ब्रह्म भावना से मुक्त होकर ही रमणीय व आकर्षक होता है।[1] ब्रह्म भावना से मुक्त होने के कारण ही सौन्दर्य के साक्षात्कार से आनन्द की अनुभूति होती है। वह परम सुन्दर सत्, चित, आनन्द स्वरुप है, अतः इसकी आनन्दानुभूति को आचार्यो ने ब्रह्मानन्द स्वरूप ही कहा है।

इस सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा रसवादियों में परिलक्षित होती है। उनके अनुसार बिना रस के काव्य-रचना नहीं होती। रस साहित्य के प्रवर्तक भरत मुनि ने नाट्य के संदर्भ में रस की विवेचना की है। उनके अनुसार न तो रस के बिना कोई काव्य होता है और न ही उस के अभाव में किसी अर्थ की प्रतीति होती है। न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

उन्होंने अपने सिद्धान्त का सूत्र साधारणीकरण की भूमिका के रूप में इस प्रकार दिया है-"विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्र-सनिष्पत्तिः"। व्यक्ति के मन में कुछ भाव अचेतनावस्था में स्थायी रूप में विद्यमान रहते हैं। काव्य में वर्णित भाव, जब हृदयास्थित अचेतन भाव को उद्बुद्ध कर उसके साथ सामंजस्य स्थापित करता है, तो रस अथवा काव्यानन्द की अनुभूति होती है। यह काव्यानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर होता है। हृदय में स्थित स्थायी भाव विभाववों द्वारा उद्दीप्त होता है और अनुभावों एवं व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर रसात्मक स्थिति पर पहुँचता है।

काव्य-शास्त्र के प्रायः सभी आचार्यो ने रस का महत्व स्वीकार किया है। अलंकार एवं वक्रोक्ति में विश्वास करने वाले आचार्य भोज ने रसात्मक उक्ति को ही सर्वाधिक महत्व दिया हैं। पंडितराज जगन्नाथ, विश्वनाथ और मम्मट आदि तो अनिवार्य रूप से रस में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा मानते है। विश्वनाथ ने तो बाह्य रूप से

---

१. ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या-शंकराचार्य,

दोषों की उपेक्षा करते हुए उसके आन्तरिक स्वरूप आनन्द को ही सर्वोपरि माना है। उन्होंने "वाक्य रसात्मक काव्यं" की प्रतिष्ठा की तथा रस को ही काव्य का सर्वस्व बताते हुए कहा कि जिस प्रकार कोई रत्न कीटानुवभे के होने पर भी रत्न ही रहा करता है, उसी प्रकार कोई काव्य रस भावाभिव्यंजक शब्दार्थ युगल श्रुतिदुष्टादि दोषों के होने पर भी काव्य ही रहा करता हैं।[1] पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपदकः शब्दः काव्यम्, रमणीयता च लोकोत्तराल्हाद जनक ज्ञानगोचरता- अर्थात् जिस अर्थ के ज्ञान से लोकोतर आह्लाद मिले वही रमणीय अथवा सुन्दर है[2], कह कर उसके आन्तरिक स्वरूप की प्रतिष्ठा की है।

इस प्रकार रसवादियों ने सौन्दर्य को आत्मगत मानते हुए उसे आध्यात्मिकता के स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। किन्तु यह भी अवलोकनीय है कि इन्होंने आलम्बन अथवा वस्तु की पूर्णतया उपेक्षा भी नहीं की है। अतः ये अतिवाद के दोषों से मुक्त रहे हैं।

सामान्य भारतीय विचारधारा के अनुसार रवीन्द्रनाथ भी सौन्दर्य को स्वानानुभूतिमूलक मानते है।[3] किसी भी चीज को इसका माध्यम बनाया जा सकता है। भद्दी चीज भी इस दृष्टि से निरर्थक नहीं है। कला में मनुष्य अपने को प्रकाशित करता है न कि अपने वर्ण्य विषयों को।"[4] उनका कहना है कि "सौन्दर्य विश्व की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है, इसलिए प्रत्येक वस्तु हमारे आनन्द का स्रोत बन सकती है।"[5] उपनिषदों के कथन से अपनी बात की पुष्टि करते हुए उन्होंने कहा है- उपनिषदें कहती हैं कि सभी वस्तुएं आनन्द से ही बनती और पोषित होती हैं।[6]

वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ने सौन्दर्य को स्वानुभूतिमूलक मानते हुए उसकी वस्तुगत सत्ता को भी स्वीकार किया है। वे तो "सत्यं" "शिवं" "सुन्दम" वाली भावना के अनुगामी हैं।

---

१. कीटानुविद्धरत्नादिसाधरण्येन काव्यता
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः
डा० सत्येव्रत सिंह, साहित्य दर्पण, पृष्ठ ८

२. रस गंगाधरः, प्रथमोभागः, काशीहिन्दू विश्वविद्यालय साहित्य अनुसंधान-समित्या प्रकाशितः, पुष्ठ १३, १४

३. रवीन्द्र-दर्शन, पृष्ठ १२१

४. रवीन्द्र-दर्शन, पृष्ठ १२

५. वही, पृ० १२३

६. रवीन्द्रनाथ, साधना, पृ० १२३

शंकराचार्य ने भी निरूपादिक ब्रह्म की ही अखण्ड सत्ता मानी है। उन्होंने लास्यादि सौन्दर्य को नौ प्रकार की अनुभूतियां[1] की स्थापना करते हुए सौन्दर्य को आध्यात्मिक माना है। परन्तु व्यवहार के लिए यथार्थ जगत् की भी उन्होंने अवहेलना नहीं की हैं। पार्वती के रूप-सौन्दर्य-चित्रण द्वारा उनकी सौन्दर्यदृष्टि अवलोकनीय है। इस दृष्टि से "एक अर्वाचीन ऋषि कलीभूत स्वामी परमानन्दजी महाराज के विचार भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि को पूर्ण स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करते हैं।" स्वतन्त्रता और सौन्दर्य विवेकिनी शक्ति का सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य बाह्य पदार्थों में नहीं, प्रत्युत हमारे आत्मा में विद्यमान हैं।.........हमारा आत्मा सौन्दर्य विवेकिनी शक्ति के रूप में पदार्थों को सुन्दर बनाता है।.........सौन्दर्य बुद्धि उस द्वैत का नाश कर देती है, जो ज्ञान और कर्म की अवस्था में विद्यमान रहती है।.........तर्क से हम परमात्मा का चिन्तन कर सकते हैं और सौन्दर्य हमें साक्षात् ब्रह्म का दर्शन कराता है। "श्रीपरमानन्दामृत, पृष्ट २५-२६।"[2]

वास्तव में भारतीय सौन्दर्य विचारकों की दृष्टि सामंजस्य-पूर्ण रही है। उन्होंने सौन्दर्य के आत्मगत एवं वस्तुगत दोनों ही स्वरूपों को दृष्टि में रखते हुए अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। अतः उनकी यह सामंजस्यपूर्ण दृष्टि अवलोकनीय है।

समन्वयवादी विचारक :

जैसा कि पूर्व-लिखित विचार-दृष्टियों से प्रतीत होता है कि भारत में सौन्दर्य की दृष्टि अत्यन्त व्यापक रही है। यहां श्रेय एवं प्रेय को समान महत्व दिया गया है। यहां किसी वस्तु को "सुन्दर" कहना सांस्कृतिक, कलात्मक, व धार्मिक-सभी दृष्टियों से किसी वस्तु को "सुन्दर" ठहराना है। केवल साहित्यिक दृष्टि से, या केवल धार्मिक दृष्टि से या केवल सांस्कृतिक दृष्टि से कोई वस्तु यहां खण्डशः सुन्दर नहीं है यदि कोई वस्तु सुन्दर है तो एक साथ इन सभी दृष्टियों से।"[3]

संस्कृत आचार्यो की दृष्टि तो प्रायः समन्वयवादी ही रही हैं। उन्होंने आलम्बन एवं विभाव दोनों के सहयोग से ही आनन्द अथवा सौन्दर्य की उपलब्धि मानी है। वैष्णव कवियों के काव्य में भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि की चरम परिणति

---

१. सौन्दर्य-लहरी, पार्वती के सौंन्दर्य चित्रण के प्रसंग में।

२. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रेम और सौन्दर्य, पृ० १५४

३. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रेम और सौन्दर्य, पृ० १५८

परिलक्षित होती है। साथ ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० हरद्वारीलाल शर्मा, बाबू गुलाब रायजी के विचार भी दर्शनीय हैं।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़ा ही सुलझा हुआ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उन्होंने "सत्य" "शिवं" 'सुन्दरंम" की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि-सत्य के साथ मंगलमय के पूर्ण सामंजस्य को देख सकें तो फिर सौन्दर्य हमारे लिए अगोचर नहीं है.... मंगलमय वस्तु हमारा भला करती है-इसलिए हम उसे भली कहते हैं। वास्तव में जो भी वस्तु मंगलमय होती है, वह हमारी आवश्यकताओं को पूरा करती है और सुन्दर भी होती है।[1]

साथ ही वे इस बात पर भी बल देते हैं कि "सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिए व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है......दृष्टि की संकीर्णता सौन्दर्य प्रतीति को कुरुप और सुरुप दो टुकड़ों में बांट देती है। मनुष्य जब स्वार्थ या भोगेच्छा की प्रवृत्तियों से सर्वथा वीतरागी, सर्वथा निरपक्ष होकर वस्तुओं को देखता है तभी वह सौन्दर्य का सच्चा रूप देख सकता है। यह सौन्दर्य सर्वत्र है। तभी वह अनुभव कर सकता है कि हमें अरुचिकर प्रतीत होने वाली सब वस्तुएं आवश्यक तौर पर असुन्दर नहीं होती। उनका सौन्दर्य उनकी सच्चाई पर निर्भर होता है।"[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी सोन्दर्य के लिए बाहर और भीतर-के झगड़े को पश्चिमी सौन्दर्य चिन्ता का गड़बड़झाला बताते हुए उसकी स्थिति बाह्य एवं अन्तर के सामंजस्य में ही मानते हैं।[3]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सामंजस्य में सौन्दर्य माना है।' सुन्दरता सामंजस्य में होती है और सामंजस्य का अर्थ होता है किसी चीज का बहुत अधिक और किसी का बहुत कम न होना। इसमें संयम की बड़ी जरूरत है। इसलिए सौन्दर्य-प्रेम में संयम होता है। उच्छृंखलता नहीं।[4]

जब हम कहते हैं कि अमुक दृश्य बड़ा सुन्दर है, उदाहरण के लिए किसी वन या पर्वत की शोभा ले ली जाय तो उसका मतलब यही होता है कि वहां रंग का सामंजस्य होता है, ऊंचाई निचाई बेखाप नहीं हो गई है। सबमें एक मीठा

---

१. रविन्द्रनाथ, साहित्य, पृ० ३५
२. रवीन्द्रनाथ, साधना, पृ० १२५
३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १८६, १८७
४. हजारीप्रसाद द्विवेदी कल्पलता, पृष्ठ १४४, १४५

सम्बन्ध है, कोई किसी को दवा नहीं रहा है मगर श्मशान की खरस्रोता नदी अपनी हड्डियां, कंकालों, नरमुण्डों, और चिता भस्म के साथ वीभत्स होती है। क्योंकि उसमें सामंजस्य नहीं होता सुन्दरता सामंजस्य में होती है।'[1]

"सौन्दर्य को हम केवल आंखों से नहीं देख सकते, उसके लिए मानसिक दृष्टि की भी आवश्यकता है। मन की अनेक तरंगे हैं। केवल बुद्धि और विचार ही से काम नहीं चल सकता, उनके साथ हार्दिक भावों को भी जोड़ना चाहिए। धर्मबुद्धि का भी बल लगाना चाहिये। ऐसा करने से आध्यात्मिक दृष्टि खुल जाती है, और कलाकार दिव्यद्रष्टा हो जाता है। यहीं सौन्दर्य के साथ मंगल का मेल होता है। मंगलमय वस्तु सदा हमारा भला करती है। अथवा कहना चाहिये, जो वस्तु सदा हमारा भला करे, वही मंगलमय है। वास्तव में मंगलमय वस्तु का रूप ही यह है कि वह हमारी आवश्यकता भी पूरी करे, और देखने में भी सुन्दर हो।—फूल जब अपनी वर्ण गन्ध की प्रगल्भता को फल की मधुरता में परिणत करता है, तब उस परिणति में ही सौन्दर्य और मंगल का मेल होता है। मंगल की भांति सत्य का भी सौन्दर्य से मेल होना चाहिये। जब सत्य और सुन्दर एक हो जाते हैं तब चरम सौन्दर्य का दर्शन होता है।"[2]

डा० हरद्वारीलाल शर्मा सुन्दर वस्तु को मूर्तिमति अनुभूति मानते हैं। 'सौन्दर्य के सम्पूर्ण अनुभव में सुन्दर वस्तु का पार्थिव रूप और इसका आनन्दमय आध्यात्मिक रूप इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि इनके वियुक्त करने से ये दोनों ही विलीन हो जाते हैं। कोई वस्तु स्वतः सुन्दर नहीं होती, जब तक आनन्द का अनुभव नही है, और आनन्द का स्वतः वस्तु विना अनुभव सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता है। सौन्दर्यानुभूति में पार्थिव रूप और अध्यात्म रूप का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक यदि चेतन आत्मा है तो दूसरा उसका रूपवान, व्यक्त शरीर है, सुन्दर वस्तु मूर्तिमति अनुभूति है, और अनुभूति स्वयं वस्तु के सौन्दर्य से स्वरूप पाती है।"[3]

"वस्तु भाव को शरीर प्रदान करती है और भाव वस्तु को सौन्दर्य प्रदान करता है। भाव के अभाव में वस्तु सुन्दर नहीं होती और वस्तु के अभाव से सौन्दर्य निष्प्राण, अशरीर रहता है। भाव में शरीर धारण करने की प्रवृत्ति है। सौन्दर्य शरीरधारी भाव है।[4]

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कल्पलता, पृ० १३९

२. डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, भूमिका, पृष्ठ ३०, ३१, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९६१

३. डा० हरद्वारीलाल शर्मा, सौन्दर्यशास्त्र, पृ० ८०

४. वही, पृ० ८१

भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं का विश्लेषण करने से प्रतीत होता है कि सौन्दर्य वास्तव में अन्तःबाह्य के समन्वय में है। सौन्दर्य के साक्षात्कार से आह्लादमयी अनुभूति होती है और आनन्द का आधार वस्तुगत होता है।

साहित्यिक दृष्टिकोण

कवि या साहित्यकार की दृष्टि आलोचक एवं साधारण जन की दृष्टि से भिन्न होती है। वह विश्व की प्रत्येक वस्तु को अपनी कल्पना के नेत्रों से देखता है। वस्तु का स्वरूप उसकी कल्पना के द्वारा अतीन्द्रिय रूप धारण करता है। ये अतीन्द्रिय स्वरूप अपनी रसात्मकता एवं रागात्मकता के कारण हृदय में प्रेम एवं आनन्द की अनुभूति कराते हैं। अतः साहित्य में चित्रित सौन्दर्य मूर्तियां इस प्रत्यक्ष सृष्टि में में दुर्लभ होती हैं। मानव की सच्ची अनुभूतियों से सम्पृक्त होने के कारण यह सौन्दर्य 'सत्यं' 'शिवं' 'सुन्दरं' स्वरूप होता है। भारतीय एवं पाश्चात्य कवियों की सौन्दर्य रचनाओं से उनके दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त हो जाता है।

सभी कवियों ने विश्व की प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य के दर्शन किए हैं। अरूप एवं कुरूप भी उनकी आत्मा का स्पर्श प्राप्त कर साहित्य के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण बन जाते हैं। यही कारण है कि दुखान्त नाटक द्वारा भी हमें आनन्द प्राप्त होता है।

आंग्ल कवियों की व्यापक भावना का परिचय कीट्स की इन पंक्तियों द्वारा प्राप्त हो जाता है। वह सौन्दर्य को शाश्वत आनन्द का प्रतीक मानते हैं।[१]

कालिदास ने सौन्दर्य की बहुत ही व्यापक विवेचना प्रस्तुत की है। प्रसाद सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान मानकर उसकी साहित्य में प्रतिष्ठा करते हैं।

साहित्य की सौन्दर्य के प्रति दृष्टि की विवेचना परमानन्द शर्मा की इस उक्ति से स्पष्ट हो जाती है—'यथार्थ का चित्रण यदि यथार्थ की सीमा में ही घेर कर किया जाएगा, तो साहित्य की ऐसी इतिवृत्तात्मक क्रिया हमें खींच कर बहुत पीछे कर देगी। हमें साहित्य और उसके ऊपर सभी अंगों के चित्रण में जितनी मात्रा में कल्पना, भावना, अनुभूति और सरसता की आवश्यकता पड़ेगी, रचना में देना ही पड़ेगा :'[२]

---

1. A thing of beauty is a Joy for ever itslove-liness incereases but It will never pass into uothingness.

Keats. End Ymion

२. परमान्द शर्मा, साहित्य और अनुभूति, ज्ञानवाणी प्रकाशन, १९५१ ई०, पृष्ठ ७३

सौन्दर्य के तत्व :

वसन्त के मादक मलयानिल के साथ विहंसते हुए गुलाब के पुष्प में, अरुण-राग-रन्जित उषा में, पावस के बहुरंगी संध्याकालीन दिगंचल में, लावण्यमयी विशाल नेत्रों वाली सुमुखी में तथा सुदृढ़ अवयवों वाले पुरुष शरीर में ऐसे कौन से तत्त्व समाहित हैं, जिनके कारण हम उन्हें सुन्दर कहते हैं। सौन्दर्य के प्रसंग में ऐसे कतिपय प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खड़े होते हैं-क्या केवल आकृति में ही सौन्दर्य होता है? क्या सौन्दर्य किसी मधुर गन्ध अथवा ध्वनि तक ही सीमित है? क्या वह मात्र आनन्ददायक गुण की संज्ञा है? क्या केवल आकृति तक ही सौन्दर्य की अवस्थिति होती है? क्या किसी मधुर गन्ध अथवा ध्वनि मे सौन्दर्य होता है, या जिससे हमें आनन्द प्राप्त होता है, वह वस्तु सुन्दर होती है? मां अपने एकाक्षि वाले अथवा अपंग बालक को भी 'मेरा लाल' 'मेरा राजा' 'मेरा हीरा' आदि नामों से क्यों पुकारती है? वस्तुतः सौन्दर्य के कतिपय ऐसे आवश्यक उपादान अथवा तत्त्व हैं, जिनके करण हमें कोई वस्तु सुन्दर अथवा असुन्दर प्रतीत होती है। उसके इन तत्वों का अध्ययन हम तीन रूपों में कर सकते हैं।

भोग तत्व :

'सौन्दर्य' भाववाचक संज्ञा है। इसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है, ग्रहण कर सकना सम्भव नहीं। इसकी अनुभूति को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए किसी वस्तु का आश्रय लेना पडता है। सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य की अवस्थिति सम्भव नहीं उसकी अनुभूति पंचेन्द्रियों के माध्यम से की जाती है। भोग तत्व के रूप में ही हम अपनी इन्द्रियों द्वारा उसका उपभोग करते हैं। अतः वे पदार्थ, जिनके माध्यम से सौन्दर्य अपनी आभा का प्रसार करता है, भोग तत्व कहलाते हैं। सौन्दर्य चेतना भोग तत्त्व का आधार लेकर ही मूर्त रूप में प्रकट होती है। ये अंश वस्तु के विशिष्ट रंग, रस, ध्वनि, स्पर्श, गन्ध आदि हैं जो स्वभावतः ही हमें प्रिय लगते हैं और व्यक्ति में भोग की भावना उत्पन्न करते हैं।[1] इस प्रकार इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य वस्तु के गुण ही सौन्दर्य के भोग तत्त्व हैं।

रूप तत्त्व

सौन्दर्य का द्वितीय प्रमुख तत्त्व उसका रूप तत्त्व है। भोगतत्त्व रूपतत्त्व में ही आकार ग्रहण करता है। रूप तत्त्व भोग तत्त्व का मूर्त रूप है। वस्तु की उचित संरचना द्वारा ही रूप का निर्माण होता है। वस्तु निष्ठ विचारकों ने वस्तु की विशेष संरचना (यथा समात्रा, प्रमाणवद्धता, संगीत आदि) द्वारा वस्तु के इसी रूप तत्त्व

---

१. डा० हरद्वारीलाल शर्मा, सौन्दर्य शास्त्र, पृ० १२

की विवेचना की है। वस्तु के उचित संघटन द्वारा ही सौन्दर्य की सृष्टि संभव है। हाथ के स्थान पर कर्ण और मस्तक के स्थान पर नासिका लगा देने पर सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि इससे हमें आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। रूप-तत्त्व के निर्माण में हमारी भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियां भी सहायक होती हैं। हमारी आंखें वस्तुओं के एक विशेष रूप को देखने की अभ्यस्त हो जाती हैं और यही हमें सुन्दर लगता है। यही कारण है कि भारत में कर्णायत विशाल नेत्रों एवं लम्बी नासिका को सुन्दर माना जाता है तो चीन में छोटी आंखों एवं छोटी नासिका को और पश्चिम में भूरे केशों एवं भूरे नेत्रों को। वास्तव में वस्तु का उचित संघटन ही उसका रूप है।

अभिव्यक्ति तत्त्व:

भोग और रूप वस्तु के पार्थिक तत्त्व होते हैं, जिनसे उद्भूत भावों की व्यंजना द्वारा अभिव्यक्ति तत्त्व का आभास होता है। कवि अथवा कलाकार अपनी सौन्दर्यानुभूति को जिस रूप में प्रकट करता है, वही अभिव्यक्ति तत्त्व है। सौन्दर्य के साक्षात्कार से व्यक्ति को आश्चर्य, उल्लास और आनन्द आदि की विभिन्न अनुभूतियां होती हैं, जिन्हें कलाकार अपने विभिन्न रंगों अथवा रेखाओं की संयोजना द्वारा सजीव बनाता है। साहित्यिक अनुभव भी इसी अभिव्यक्ति तत्त्व का ही एक रूप है।

प्रभाव :

सुन्दर वस्तु को देखते ही हमें एक ऐसे अनिर्वचनीय सुख अथवा आनन्द का अनुभव होता है, जिसकी अभिव्यक्ति कर सकना हमारे लिए संभव नहीं होता। मनुष्य का मन-मस्तिष्क सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होता है, और उसका मन-मस्तिष्क ही उसके साथ सामंजस्य स्थापित करके उससे सात्विक प्रभाव ग्रहण करता है, जिससे उसकी अनुभूति सजग एवं सक्रिय हो उठती है और वह आनन्दातिरेक से भाव-विभोर हो उठता है। एक विद्वान के शब्दों में उसका "प्रभाव निश्चय ही एक अमूर्त तथा मिश्र प्रतिक्रिया है जिसमें रति, उल्लास, क्रीड़ादि अनेक भावों का सम्मेलन है। [1]

साहित्य में भी सौन्दर्य की प्रभाव-व्यंजनाओं का ही सर्वोपरि महत्त्व है। "शब्द और अर्थ की एक दूसरे से होड़ मचाने वाली सुन्दरता को ही, जिसे प्राचीन पण्डित 'परस्पर स्पर्द्धिचारुता' कहा करते थे, हम साहित्य नहीं कहते, बल्कि उस सुन्दरता से उत्पन्न होने वाले प्रभावों की बात सोचते हैं।"[2] वास्तव में सौन्दर्य व्यक्ति की चेतना पर एक ऐसा आनन्ददायक प्रभाव अंकित करना है जो उसे तल्लीन कर

---

१. डा० नगेन्द्र, अनुसंधान और आलोचना, पृ० ५

२. विचार और वितर्क, पृ० ५७

देता है। उसका प्रभाव मादकता के समान होता है।' [१] यही कारण है कि वह उसे सात्विकता एवं आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करता है।

सुन्दर की अनुभूति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसी कारण उसको पारिभाषित करने की समस्या अद्यतन बनी हुई है। फिर भी भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण विशेष से उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। कतिपय विद्वानों ने सौन्दर्य के लिये वस्तु की वाह्य रूपाकृति को महत्वपूर्ण माना है। वे सुडौलता, सम्मात्रा, सामंजस्य', एकान्विति आदि को सौन्दर्य का माप मानते हैं। कतिपय विचारक सौन्दर्य का सम्वन्ध मन एवं आत्मा से मानते हैं। उनके अनुसार देश, काल एवं भौगोलिक परिस्थितियों के कारण व्यक्ति की एक रूचि विशेष वन जाती है। फलतः उसी के अनुसार उसे सौन्दर्य का वोध होता है। उन्होंने सौन्दर्यानुभूति से प्राप्त आनन्द का भी विवेचन किया है। कुछ विचारकों ने सामंजस्य में सौन्दय के दर्शन किए है। उनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति के लिए वस्तु के वाह्य रूप का वोध एवं आल्हादकत्व दोनों आवश्यक हैं।

वस्तुतः प्रथम दोनों विचारधाराएं अतिवाद से आक्रांत होने के कारण एकांगी समन्वयवादी विचारधारा ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। प्रसाद भी इसी विचारधारा के अनुयायी हैं।

मानव मात्र में सौन्दर्य के प्रति एक विशेष अनुराग होता है। प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति उसके हृदय में एक विशेष आकर्पण होता है एवं विरूपता के प्रति विकर्पण। आदिकाल में प्रकृति-जगत् में नेत्रोन्मीलन के साथ ही उसकी दृष्टि उपा के सौन्दर्य की ओर गई। उसके अनुराग रंजित सौन्दर्य से आल्हादित होकर वह उसके गीत गा उठा। [२] उसमें सौन्दर्य-क्षुधा इतनी तीव्र होती है कि एक वार वह अपनी जठराग्नि को भले ही सहन करले, परन्तु अपनी सौन्दर्य-पिपासा की तृप्ति के विना वह पागल हो जाता है।

सौन्दर्य के दो रूप :
साहित्येतर एवं साहित्यिक-

मानव की सौन्दर्य-पिपासा की तृप्ति करने वाले सौन्दर्य के दो रूप हैं-साहित्येतर एवं साहित्यिक। प्रथम सृष्टि में व्याप्त इन्द्रियानुभूत रूप,रस,स्पर्श एवं गन्धादि द्वारा आस्वादनीय सौन्दर्य की सज्ञा है-जिसके नाना विध रूप प्रकृति एवं मानव-जगत् में विखरे हुए हैं। द्वितिय के अन्तर्गत उसके वे विशिष्ट रूप हैं जो साहित्य एवं अन्य कलाओं में प्राप्त होते हैं।

---

१. प्रसाद, आंसू, पृ० ३३

२. देखिए-ऋग्वेद उपस् सूक्त।

सौन्दर्य शब्द के साहित्य अथवा कला से इतर व्यवहार में अनेक प्रयोग परिलक्षित होते हैं। सामान्यतया मन को भाने वाली, नेत्रों को सुखद प्रतीत होने वाली अथवा प्राणी को आनन्द प्रदान करने वाली प्रत्येक वस्तु को सुन्दर कहा जाता है, यथा सुन्दर स्त्री, सुन्दर पुष्प और सुन्दर गीत आदि। लौकिक व्यवहार मे मजनू को श्यामांगी लैला मे भी सौन्दर्य की देवी के दर्शन होते थे। भारतीय पत्नी का पति चाहे जैसा भी कुरूप या अशिष्ट क्यों न हो, संसार के अन्य सुन्दर पुरुषों की ओर वह स्वप्न मे भी नहीं देखती। माता को अपना अपंग एवं कुरूप पुत्र भी अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता है। उसके डीठ (दृष्टि) न लग जाए, इसलिए वह उसके दिठाना लगाना नहीं भूलती। ईस प्रकार का सौन्दर्य भाव साहचर्यसभूत माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी उपयोगिता भी सुन्दर का स्थान ग्रहण कर लेती है। कृषक को हरे-भरे लहराते हुए खेत इसलिए सुन्दर लगते हैं कि वे उसके लालन-पालन एवं उदरपूर्ति के साधन हैं। सुन्दर व कलात्मक वस्तुओं के व्यापारी के लिए वस्तुएं इसलिए सुन्दर नहीं होती कि वे कलात्मक होती हैं, अपितु इसलिए कि उनसे उसे अर्थ की प्राप्ति होती है। मद्यप के लिए शराब ही सुन्दर होती है क्योंकि वह उसका उपयोग करता हैं। कमल का पुष्प कवि के नेत्रों को कितना ही सुन्दर क्यों न लगे, वणिक वृत्ति वाले पुरुष के लिए उसमें कुछ भी अनुरंजन किंवा आकर्षण नहीं होता। उसे तो रजत मुद्रायें ही कमल से अधिक सुन्दर और उनकी टन-टन की ध्वनि ही संगीत की ध्वनि से अधिक मधुर प्रतीत होती है।

प्राय: नैतिक दृष्टि से उचित प्रतीत होने वाली वस्तु को भी लौकिक व्यवहार में सुन्दर कहा जाता है। किसी चरित्र भ्रष्ट स्त्री की ओर कोई दृष्टि उठाकर देखना भी उचित नहीं समझता, भले ही वह बाह्य रूपाकृति की दृष्टि से कितनी ही सुन्दरी क्यों न हो। अनैतिक कार्यों, नग्न मूर्तियों तथा अश्लील चित्रादि को सामाजिक दृष्टि से अहितकर होने के कारण सुन्दर नहीं कहा जा सकता, भले ही उनका निर्माण कितनी ही कलात्मक कुशलता से क्यों न किया गया हो। इसके विपरीत प्रत्येक आदर्श स्त्री, आदर्श पुरुष एवं आदर्श वाक्य अपनी मंगलमयता के कारण सुन्दर माना जाता है। प्लेटो ने इसी नैतिक एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोण से साहित्य और कला का मूल्यांकन किया था। इसीलिए उसने साहित्यकारों और कलाकारों को अपने राज्य से सम्मानपूर्वक निष्कासित होने की सलाह दी थी। कवि के विरुद्ध उनका निर्णय स्पष्ट है, अतएव हमन याय पूर्वक एक सुशासित नगर में उसका (कवि) प्रवेश निषिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि वह

आत्मा के इस पक्ष (आवेश) को उद्बुद्ध, पोषित और दृढ़ करना है तथा विवेक पक्ष को नष्ट करता है। [1]

लौकिक व्यवहार के अतिरिक्त सौन्दर्य का एक और भी रूप है और वह है प्रकृति में व्याप्त नैसर्गिक सौन्दर्य। रंग बिरंगे पुष्पों से आवेष्टित विशाल पर्वतों की उपत्यकाएं, कल-कल, छल-छल करते हुए झरने, वीणा को भी स्वर देने वाली मधुपों की गुंजार और पर्वतों के पीछे डूबते हुए रक्ताभ सूर्य की छाया में अपने नीड़ की ओर लौटते हुए पक्षियों का चहचहाना, वर्षा-धुले आकाश में सप्तवर्णी इन्द्रधनुष की छटा, एकान्त को भी भव्य बताते हुए देवदारु के वृक्ष आदि एक बारगी ही मानव मन को आकर्षित कर लेते हैं। तब अनुभूति विह्वल हो अपलक नेत्रों से देखते हुए उसके मुंह से निकल पड़ता है 'अहा !' यह 'अहा' ही सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्त कर देती है। साधारण मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति की चरम परिणति इस एक 'अहा' में हो जाती है। इससे अधिक अभिव्यक्ति की क्षमता उसमें नहीं होती। कुछ काल में ही वह इस दृश्य को व इसके द्वारा मन पर पड़े आल्हादकारी प्रभाव को विस्मृत कर देता है। किन्तु जहां कहीं भी जब किसी कवि दार्शनिक का दृष्टि निपात होता है तो वह स्थल उसके चेतना पट्ट पर अंकित हो जाता है। पुनः पुनः अनुभूति सजग होती है और वह कल्पना के नाना रंग-संयोजन की सहायता से उस दृश्य को साहित्य में सदैव के लिए अंकित कर देता है। वह एक ओर प्रकृति के सौन्दर्य का निरीक्षण करता है वहां दूसरी ओर उसके अनजाने ही प्रकृति का अनेक प्रकार का सामञ्जस्य उसके हृदय में अंकित हो जाता है। इस प्रकार उसके हृदय में सौन्दर्य सृष्टि का उपादान संग्रह होता रहता है। कवि और चित्रकार प्रकृति से उपादान ग्रहण करके अपनी सृष्टि के द्वारा सौन्दर्य की प्रतिष्ठा बढ़ा देते हैं। [2]

साहित्य में अंकित यह सौन्दर्य सहृदय के मन पर अमिट छाप छोड़ देता है। कवि को लता भी शकुन्तला की विदा वेला में पीत वर्णो के मिस अश्रुपात करती हुई प्रतीत होती है। [3] सहृदय पाठक न केवल पतझड़कालीन प्रकृति के दृश्य का आनन्द लेता है अपितु उसके मानवीय-सुषमा से ओत-प्रोत सौन्दर्य से अभिभूत भी हो उठता है। वह पुनः पुनः इस सौन्दर्य का पान करना चाहता है क्योंकि इसमें कलाकार के अध्यात्म लोक का आलोक तथा माधुर्य, संगीत और सजीवता रहती हैं। साथ ही उसमें कलाकार के प्राणों की वेदना, उसकी

---

१ डा० नगेन्द्र, अरस्तु का काव्य शास्त्र, पृ० ४६

२ श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, सौन्दर्य तत्व, पृ० २२६

३ कालिदास, शाकुन्तल, चतुर्थ सर्ग

अध्यात्म चेतना उसकी प्रखर और गूढ़ अनुभूतियों का स्पन्दन रहता है।.... .... उसमें कलाकार के हृदय की उदारता, विशालता, उन्माद और उत्पीड़न रहते हैं।[१] अतएव सहृदय के सम्मुख वह निकटतम एवं मधुरतम अनुभूति होती है। इस प्रकार कवि कलाकार द्वारा निर्मित सौन्दर्य-रचना विधाता की रचना नैसर्गिक प्रकृति से भी श्रेष्ठतर होती है। असीम की सौन्दर्य-सृष्टि की भी सीमा है परन्तु कवि द्वारा ग्रहण किया गया सौन्दर्य असीम है। कहा भी है–वित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगात, रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु। स्त्रीरत्नसृष्टिपरा प्रतिभाति या मे धातुविभूत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्या।[२]

साहित्य में अंकित सौन्दर्य का कोई नैतिक अथवा अनैतिक पक्ष नहीं होता। जो आदर्श एवं सुन्दर है, वह नैतिक तो अवश्य होता है। सुन्दर कभी भी नीति-विरोधी नहीं होता। साहित्य केवल बाह्य रूपाकार तक ही सीमित नहीं होता, हृदय की गहनातिगहन एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं तक का भी उद्घाटन करता चलता है।

साहित्य में उपादेयता से असम्पृक्तता सौन्दर्य की स्वतन्त्र सत्ता है। यदि इसमें कुछ उपयोगिता सन्निहित है तो वह मानसिक होती है। श्री जैनेन्द्र सौन्दर्य अथवा कला की सृष्टि प्रयोजन रहित आनन्द के लिये मानते हैं। कला की अभिधा से विश्व के साथ मनुष्य की वह वृत्ति और वह सम्बन्ध समझना चाहिए जिसका लक्ष्य अर्थ साधन नहीं है, प्रत्युत आनन्य भोग है। पौधों पर फूल है तो वे हमें प्रसन्न करते हैं और हम मात्र इतने के लिए, उनके होने भर के लिए उनके आभारी बनते हैं। उन्हें तोड़कर माला बनालें और माला को अपने गले में डाल लें शायद अर्थार्थी हम दुनियां वालों के निकट फूलों में कुछ सार्थकता हो पर कलाकार के लिए ऐसा नहीं। वह फूल तो कलाकार के अपार आह्लाद का विषय है.... प्रयोजनीयता कला के लिए उस सत्य का गौण रूप भाव हैं।[३] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी साहित्य में प्रयोजनातीत सत्य को ही स्वीकार करते हुए कहते है कि साहित्य संगीत आदि मनुष्य को प्रयोजनातीत सत्य की ओर उन्मुख करते है।[४] साहित्य की उपयोगिता इसी बात में है कि वह मनुष्य जीवन को सुखी बनाने में सहायता पहुंचाए, वर्तमान दुर्गति के पंक से उबारे तथा पशु

---

१ डा० हरद्वारी लाल शर्मा, सौन्दर्य शास्त्र. पृ० १२१
२ कालिदास, शाकुन्तल, पृ० २।९
३ जैनेन्द्र, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ४२
४ साहित्य का मर्म, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०

सामान्य धरातल से ऊपर उठावे।[1] साहित्य का प्रयोजन मनुष्य को संकीर्णता और मोह से उठाकर, उदार, विवेकी और सहानुभूतिपूर्ण बनाना है।[2] वास्तव में साहित्य में कोई भौतिक उपयोगिता सन्निहित नहीं होती। वह केवल अन्तःकरण से सम्बन्धित-उपयोगिता से युक्त होता है। इस मत को प्रायः सभी भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों ने स्वीकार किया है। साधारण व्यक्ति निसर्गतः उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है। असाधारण प्रतिभा उपयोगिता और नीति में नहीं बंधती, वह इनके ऊपर रहा करती है।[3]

मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति से इतर समस्त प्रवृत्तियां कुरूपता की श्रेणी में आती हैं। कुरूपता मानव-समाज की विकृत्ति है जो मानव-समाज के लिए अहितकर है।... इतना सत्य है कि जो अहितकर है, उसके प्रति सामाजिक वितृष्णा स्पष्ट रूप में दीखती है।[4] किन्तु साहित्य में कुछ भी कुरूप एवं अहितकर नहीं होता। कुरूप भी अपनी कुरूपता में एक विशिष्टता लिए हुए होता है। कुरूप अथवा असुन्दर के कारण ही सुन्दर का महत्त्व है। रावण के उद्धत शौर्य और पराक्रम के कारण ही राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य का महत्त्व है। कलाकार को यह तथ्य अवगत है कि अशोभन में भी भगवान् की रचना की एक शोभा है, सुकुमारता है, जिसे शोभन के साथ निरख कर ही लीलामय की इस अनन्त लीला का पूरा पूरा रस मिल सकता है, अथवा यों कहिए कि कलाकार के लिए परमात्मा की रचना कहीं से भी अशोभन नहीं है। इस तत्त्व को वह जानता मानता ही नहीं बल्कि हमें प्रत्यक्ष कर दिखाता है।[5] प्रश्न उठता है कि साहित्य में भी दुःखान्त नाटक पढ़कर मन को क्लेश होता है और बीभत्स के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। फिर वह सुन्दर किस प्रकार कहा जा सकता है? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि कला में कुरूप और असुन्दर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखारते हैं।[6] दुःखान्त नाटक देखकर हृदय में दुःख जैसी अनुभूति होती है, किन्तु उस दुख में भी एक आनन्द की अनुभूति होती है। वास्तव में दुःखान्त नाटक देखकर हृदय के परिष्कृत भावों का विस्तार होता है। हृदय दया, करुणा एवं सहानुभूति आदि भावों से आर्द्र हो उठता है। जीवन

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ० ५८
२ वही, पृ० ६२
३ डा० नगेन्द्र, विचार और विवेचन, पृ० ४
४ साहित्य की मान्यताएं, पृ० ४५
५ साहित्य समीक्षांजलि, डा० सुधीन्द्र, विनोद पु० मन्दिर, पृ० ५
६ आस्था और सौन्दर्य, पृ० २०

में जो सुन्दर है, साहित्यकार उसे अधिकाधिक सुन्दर और जो कुरूप है, उसे अधिकाधिक कुरूप बनाकर प्रस्तुत करता है, जिससे कि उसके प्रति आकर्षण अथवा विकर्षण उत्पन्न हो सके। यथार्थवादी साहित्यकार समाज की पतित स्थिति को और भी अधिक उभारता है। ये भाव व्यक्तिगत परिवार एवं सम्बन्धियों के सुख-दुःख तक सीमित नहीं रहते। इनका बड़ा व्यापक प्रभाव होता है। अरस्तु के विवेचन के आधार पर त्रास और करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुःखद अनुभूतियां है। परन्तु त्रासदी मे ये अनुभूतियां वैयक्तिक देश काल से मुक्त साधारणीकरण रूप में उपस्थित होती है। 'रूप' की भौतिक सीमा में बद्ध वे कटु अनुभूतियां हैं। परन्तु 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्त होकर उनकी कटुता नष्ट हो जाती है। 'स्व' का यह विस्तार अथवा उन्नयन एक उदात्त और सुखद अनुभूति है।[1] इस प्रकार ये भाव मानव-मानव का, आत्मा-आत्मा का सम्बन्ध स्थापित कराते हैं। मानव हृदय के इस प्रसार से अधिक सुन्दर और क्या हो सकता है?

हिंसा, युद्ध, रक्तपात, घृणा और क्रोधादि वस्तुतः मानव की स्वाभाविक वृत्तियां न होकर उसकी प्रतिक्रियात्मक विकृतियां भी हमारे आनन्द का विषय बन कर सुन्दर बन जाती हैं। साहित्य में वीभत्स का चित्रण देखकर उसके प्रति विहंगणा के भाव उत्पन्न होते हैं। वीभत्स के प्रति घृणा स्वयं अपने आप में एक सुन्दर भाव है। यहूदी शायलाक के क्रूर स्वभाव ने ही पोर्शिया व उसके पति एण्टोनियों के प्रति सहानुभूति के प्रसार में सहायता दी थी। छलना के कूटनीतिक एवं द्वेष पूर्ण व्यवहार ने ही वासवी के लिए करुणा एवं श्रद्धा का निर्माण किया था।

पुनः दुखान्त नाटकों में विषम परिस्थितयों के प्रति एक वीरता-पूर्ण संघर्ष पाया जाता हैं। इस संघर्ष में उदात्त भाव से एक प्रेरणा प्राप्त होती है और यहीं उदात्त भावना सांत्वना का कार्य करती है।

साहित्य का सौन्दर्य शाश्वत एवं अविनश्वर है। उस पर देश काल का प्रभाव प्रायः नहीं पड़ता। आत्मा अजर-अमर है और उसका सौंदर्य ही साहित्य में प्रतिष्ठित है, अतः साहित्यिक सौंदर्य अमर है। साहित्य आत्मा का आत्मा से संबंध स्थापित करवाता है। यही कारण है कि तुलसी के राम, कालिदास की शकुन्तला, शेक्सपियर की पोर्शिया, प्रसाद की देवसेना व कामायनी आज भी उतनी ही सुन्दर एवं प्रिय है, जितनी कि वे उस समय थीं, जब कि उनका साहित्य में आगमन हुआ था। आज भी शकुन्तला के 'अनाविद्धरत्नं' वाले निश्छल सौंदर्य के दर्शन कर पाठक का हृदय पवित्र हो जाता है। राम की वियोग व्यथा से पाठक का हृदय भी भर

१. नगेन्द्र, अरस्तु का काव्य शास्त्र, पृष्ठ ६१

आता है। देवसेना की एक करुण अलाप हृदय में सोई हुई पीड़ा के तार झंकृत कर देती है।

साहित्यिक सौंदर्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह व्यक्ति के मानस पर सीधा एवं अमिट प्रभाव डालता है। हसरत् मोहनी ने—

शेर दरअसल वही है हसरत
सुनते ही दिल में जो उतर जाये—

कहकर कविता को हृदय का विषय माना है। वह काव्य ही नहीं, जो हृदय मे लोकोत्तर आनन्द की स्फुर्ति न जगा दे।[1] कोई भी प्रत्यक्ष सुघटना अथवा दुर्घटना मन को इतना संवेदनशील नहीं बनाती, जितनी कि साहित्य में वर्णित घटना। कारण—साहित्यकार उसमें अपनी अनुभूति की संवेदनशीलता का पुट देते हुए उसे अपनी कल्पना एवं रचनाकौशल द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि मन अनायास ही उस ओर आकृष्ट होकर उसमें बार-बार विलीन होना चाहता है।

इस सौंदर्य का प्रभाव अत्यन्त सात्विक एवं पवित्र होता है। साहित्य सौंदर्य का उपभोगमय रूप प्रकट नहीं करता, अपितु वह उसे उपासना के योग्य पावन एव उदात्त रूप में प्रस्तुत करता है। उसके आकर्षक में वासना एवं पाप की ज्वाला नही, पवित्रता एवं सरलता की शीतलता होती है।[2] इस प्रकार साहित्यिक सौंदर्य से उत्पन्न आनन्द रूप, रस स्पर्श आदि भौतिक अनुभूतियों के आनन्द से ऊपर एक ऐसी अनुभूति है, जिसमें हृदय की समस्त शुभवृत्तियां सजग हो उठती हैं। उसमें किसी प्रकार का वासनात्मक आनन्द नहीं होता। पाठक सांसारिक अनुभूतिओं से ऊपर एक ऐसे लोक में पहुंच जाता है, जहां विशुद्ध आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। सौंदर्य के प्रभाव से मृत्यु भी जीवन के आनन्द से परिपूर्ण प्रतीत होती है।[3]

साहित्य में प्रतिष्ठित प्रायः समस्त सोन्दर्य एक विशिष्ट चेतना से सम्पन्न प्रतीत होता है। वृक्ष, लता, पुष्प, गिरी-कन्दराएं यहां तक कि सूक्ष्म भावना भी

---

१. साहित्य समीक्षांजलि, पृ० १०

२. प्रसाद, 'प्रतिध्वनि,'-पाप की पराजय, पृ० ३१, ३२

३. "O where am I quoth she, in earth or in heaven, or in the ocean drenched, or in the fire ?
What hour is this ? or morn or weary even
Do I delight to die or life desire ?
But now I lived, and life was deaths annoy
But now I died, and death was lively joy."
Shakespear, Venus and Adonis.

एक चेतन व्यक्तित्व धारण कर मूर्त रूप में प्रकट होती है। समस्त प्रकृति प्राणी के समान ही सुख-दुःख, आतपशील एवं विरह-संयोग की अनुभूतियों से लिप्त रहती है। 'जुही' की कली अमर सौभाग्य से भरी हुई शृंगार किए विजन वन वल्लरी पर विश्राम करती है।[1] परित्यक्ता छाया वृक्ष के नीचे सो रहती है।[2] प्रकृति आनन्दातिरेक से कभी कमल-कुसुमों के मिस हंसती है और कभी गाती और नाचती है। कोमलता में पली संध्या-सुन्दरी दिवसावसान के समय नीरवता के कन्धे का आश्रय लेकर उतरती है[3] और नागरी उषा तारा घट लेकर अम्बर पनघट पर जल भरने जाती है।[4] 'लज्जा', 'वासना', 'काम' आदि सूक्ष्म अनुभूतियों को भी साहित्य में एक चेतन व्यक्तित्व प्राप्त हो जाता है।[5] तात्पर्य यह है कि साहित्य में सृष्टि का कण-कण एक अलौकिक चेतना से आलोकित हो उठता है।

साहित्य एवं साहित्यिक सौन्दर्य

साहित्य और उसके सौन्दर्य में वही सम्बन्ध है जो एक व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व में होता है। व्यक्तित्व की यद्यपि अनेक प्रकार से परिभाषाएं दी गई हैं तथापि व्यक्ति से भिन्न व्यक्तित्व का कोई अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार सौन्दर्य साहित्य का व्यक्तित्व होता है। अपने इसी व्यक्तित्व के द्वारा वह सबके मन को अपने पाश में बांध लेता है।

सौन्दर्य की सर्जना ही कला है। साहित्य भी अपने आप में एक कला है। अन्य ललित कलाओं के विपरीत इसके माध्यम रेखाएं, वर्ण अथवा स्वरादि न होकर शब्द हैं। ऐसे शब्द, जो केवल सामान्य ध्वनियां ही नहीं, अपितु सुन्दर अर्थ संयुक्त

---

१. निराला, अपरा, 'जुही की कली', पृ० ४

२. सुमित्रानन्दन पन्त, छाया,

३. 'दिवसावसान का समय

मेघमय आसमान से उतर रही है, वह संध्यासुन्दरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे।
अलसता की सी लता, किन्तु कोमलता में वह पली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बांह
छांह सी अम्बर-पथ से चली',

—निराला, अपरा, पृ० १२

४. 'बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रही, ताराघट उषा नागरी'

५. द्रष्टव्य कामायनी के लज्जा काम एवं वासना सर्ग।

मधुर संगीतात्मक ध्वनियां भी हैं, जो हृदय में सुप्त सौन्दर्य की चेतना को जाग्रत् कर देते हैं। कला शब्द में सुरुचि और परिमार्जन का आभास है' विकृति में जो कुरूपता है, कला में उसका कोई स्थान नहीं।'[1] साहित्यिक सौन्दर्य हृदय के सौन्दर्य-सांचे में ढली हुई विशुद्ध अनुभूतियां है और साहित्य कलाकार के हृदय में संचित भावनाओं का सम्प्रसारण है। कलाकार इस सृष्टि का प्राणी होते हुए भी कल्पना, अनुभूति एवं भावनाओं के लोक का वासी होता है। अपनी कल्पना एवं अनुभूतियों के सहारे वह मानव ही नहीं, प्राणि मात्र के हृदय में झांक सकता है, सृष्टि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण के स्पन्दन का अनुभव कर सकता है।

कलाकार प्रत्यक्ष जगत् से सम्वेदनाएं ग्रहण करता है जिनसे उसकी अनुभूति सजग होती है और अनुभूति से प्रेरित होकर भाव जागृत होते हैं। भावों का सीधा सम्वन्ध हृदय से है, उस मानव हृदय से जहां दया-करुणा, माया-ममता, प्रेम आदि गुणों का निवास है। इन भावों को कलाकार इस प्रकार व्यक्त करता है कि उसकी अभिव्यक्ति स्वयं उसकी न होकर मानव मात्र की हो जाती है। कहना न होगा कि यही अभिव्यक्ति साहित्यिक सौन्दर्य की अभिधा ग्रहण कर लेनी है।

अन्य ललित कलाओं की अभिव्यक्ति में, जहां निरन्तर अभ्यास और कौशल की अपेक्षा है वहां साहित्यिक सौन्दर्य की यह विशेषता है कि वह अभ्यास का चमत्कार न होकर अन्तः करण की देन होता है। चित्रकार को तूलिका वर्णादि द्वारा चित्र पट पर अभ्यास करना होता है। साहित्य भी एक साधना है किन्तु वह साधना वाह्य न होकर अन्तःकरण की साधना है, जिससे भावों का उत्कर्ष होता है। साहित्यकार में एक अन्तःप्रेरणा अथवा जिसे राजशेखर ने प्रतिमा कहा है, होती है, जिसके स्फुरण से काव्य अथवा साहित्य का निर्माण होता है। यद्यपि अभ्यास से साहित्य के वाह्य कलेवर में ऐक निखार आ जाता है तथापि कोरे अभ्यास एवं कौशल द्वारा निर्मित साहित्य अल्पकाल के लिए मस्तिष्क को चमत्कृत भले ही कर दे, अनुभूति की गहनता के अभाव में वह हृदय को तल्लीन करने में असमर्थ रहेगा। कवि-हृदय का उल्लास एवं करुणा इतनी तीव्र होती है कि वह उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए छटपटाता रहता है। इसकी अभिव्यक्ति के उपरान्त ही उसे सन्तोष एवं शांति मिलती है। यह आत्मा-भिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।[2]

यह अभिव्यक्ति इतनी स्वाभाविक एवं निश्छल होती है कि उसका सहज

---

१. भगवतीचरण वर्मा, साहित्य की मान्यताएं, पृ० ८

२. डा० नगेन्द्र, विचार और विवेचन, पृ० ५२

सौन्दर्य हिम विन्दुओं सदृश मन को आकर्षित कर लेता है। इसके अतिरिक्त अलंकार वक्रोति आदि उसकी शोभा मे और भी चार चांद लगा देते हैं।

साहित्य और साहित्यिक सौन्दर्य दोनों ही जीवन और जीवन-सौन्दर्य से विलग नहीं हैं।[1] साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है यद्यपि वह सत्ता जीवन सापेक्ष है।[1] जो साहित्यकार जीवन के जितना अधिक निकट होता है, वह उतना ही महान् होता है। महान् साहित्यकारों की रचनाएं शाश्वत जीवन को स्पन्दित करती हैं, उनमें स्थायित्व होता है।[2]

साहित्य की अभिव्यक्ति का जन जीवन से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तब वह अपने सहज आकर्षण एवं अनुरंजकत्व को जो कि उसके प्राण स्वरूप है, खो बैठता है। कला जातीय जीवन क अनुभवों का चित्रमात्र है। वह जीवन से उसी प्रकार सम्बन्ध रखती है और जीवन मे उसी प्रकार काम आती है जैसे हमारा रात दिन का भोजन।[3] माता-पिता के वात्सल्यमय, बहन-भैया के पवित्र स्नेहमय, पति-पत्नी के उन्मुक्त प्रेममय सम्बन्धों से साहित्यकार नामक प्राणी विलग नहीं है। साहित्यकार के यदि एक ओर घोर दारिद्रय की अभावमयी पीड़ा है जिससे उसका हृदय विदीर्ण हो टूक-टूक हो जाता है,[4] तो दूसरी ओर विलासिता एवं ऐश्वर्य के सुखों से पूर्ण जीवन अनुभूति। दोनों ही सुखात्मक एवं दुःखात्मक अनुभूतियों को मिलाकर वह इनमें सामंजस्य उत्पन्न करता है। परस्पर विरोधी भावों का सामंजस्य ही साहित्य का सौन्दर्य है।[5] यही सामंजस्य साहित्य श्रोताओ के हृदय में समरसता एवं आनन्द उत्पन्न करता है।

साहित्य नामक वाङ्मय का सम्बन्ध केवल सहृदय अथवा भावुक से हैं। अर्थशास्त्र, व्यापार, राजनीति से साहित्य का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। काव्य

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० ४०७
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूर-साहित्य, पृ० १४९
३. श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन, पृ० २०
४. 'वह आता

पछताता पथ पर आता
दो टूक कलेजे के करता,

—निराला, अपरा, पृ० ५७

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लखुटिया टेक

—निराला, अपरा, पृ० ५७

५. 'प्यासी मछली सी आंखें,
थी विकल रूप के जल में।'

—प्रसाद, आंसू, पृ० १०

का सौन्दर्य केवल सहृदय संवेद्य होता है[1]। सहृदय की पहचान बताते हुए श्री रमेश मणि कहते है—

सहृदय
सिर्फ एक परम्परा
और उससे अधिक दुनियादारी है
चढ़ते हुए सूर्य को नमस्कार करना
ये जो चढ़ते हुए सूर्य को सिर न झुकाकर
सन्ध्या के सूर्य को
देख द्रवित हो जाते हैं,
भले ही परम्परावादी
अथवा सांसारिक न हों
सहृदय तो अवश्य हैं।[2]

प्रातः कालीन उषा की अरुणिमा आदिकाल से ही आकाश को अनुरागरंजित करती है। विदा लेती हुई रंग-बिरंगी संध्या, वनस्थली से लौटती हुई गायों की घण्टियों और नीड़ों की ओर लौटते हुए पक्षियों के मधुर कूजन से नित्य ही संगीत सृष्टि करती है परन्तु नित्य कर्मों में व्यस्त किसी का भी ध्यान इस ओर नहीं जाता। फिर भी कवि, कलाकार एवं सहृदय का चित्त अवश्य उस ओर आकृष्ट होता है और कुछ देर के लिए वह इस सौंदर्य में आत्मविभोर हो जाता है।

कवि से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो हाथ में कलम लेकर कागज पर दिल उतारता है[3] और सहृदय वह व्यक्ति है जो इस दिल का सम्मान करता है, उसे अपने हृदय में संजोकर रखता है। साहित्य का सौंदर्य इसी सहृदय के लिए है। पुत्र वियोग विह्वल दशरथ की करुणा दशा से उसका अंतःकरण द्रवीभूत हो उठता है। शकुन्तला की विदा के समय उसके नेत्रों में भी अश्रु छलक उटते हैं।

दैनिक जीवन में नित्यप्रति सुख-दुःखात्मक घटनाओं का क्रम चलता रहता है परन्तु उस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। यदि जाता भी है तो अत्यल्प काल के पश्चात् उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। ये ही घटनाएं साहित्य में संकलित होकर एक विशेष आकर्षण का केन्द्र बन जाती हैं। साहित्यकार घटनाओं को इस क्रम से संजोता है कि वे एक विशिष्ट स्थिति को प्राप्त करती हुई सम्प्रेषणीय बन जाती है और उससे सहृदय का मन आंदोलित हो उठता है। साहित्यकार को इसके लिए

---

१. डा० सुरेन्द्रनाथदास गुप्त, सौन्दर्य तत्त्व, पृ० १०५
२. श्री रमेश मणि, ज्योत्स्ना, दिसम्बर १९६७, पृ० २३
३. डा० देवराज उपाध्याय, साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ५८

प्रत्येक घटना का उद्देश्य निर्दिष्ट करना पड़ता है। उसी मृत्यु का कारण स्पष्ट करना होता है। इसी प्रकार की पूर्वापर संहृतियां ही अपने सौंदर्य द्वारा पाठक से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। 'होरी'[१] की मृत्यु ने पाठकों के मन में सदैव के लिए एक करुणा की सृष्टि करदी है यही करुणा की सृष्टि ही साहित्य का सौंदर्य है।

साहित्य आत्मा की कला है। अतः साहित्य और उसका सौंदर्य आत्मा का सौंदर्य है।[२] साथ ही उसमें इन्द्रियों को आनंद प्रदान करने वाले तत्व-पुष्प-पराग का परिमल, संगीत की मृदु झंकार आदि भी हैं। कालिदास आदि कवियों के काव्य में हमें जिस सौंदर्य की प्रतीति होती है, वह चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा से ग्राह्य सौंदर्य तो नहीं है, परन्तु तत्वतः वह उससे भिन्न भी नहीं है, क्योंकि वस्तुतः विश्लेषण करने पर काव्य जिन मानस-प्रत्ययों अथवा चित्रों के माध्यम से सहृदय पाठक को सौंदर्यानुभूति करता है, वे चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका द्वारा प्रदत्त रूप, शब्द, रस, गन्ध एवं स्पर्श के मानस प्रत्यय अथवा चित्र ही तो है।[३] उदाहरणार्थ निम्नांकित काव्यांश देखिए—

हिलते द्रुम दल कल किसलय
देती गलबांही डाली
फूलों का चुम्बन, छिड़ती—
मधुपों की तान निराली[४]

कहने की आवश्यकता नहीं कि सहृदय इन मानस प्रत्ययों अथवा चित्रों की प्रत्यक्ष अनुभूति का आश्वादन करता है। जगत का भौतिक सौंदर्य आत्मा की कला द्वारा साहित्य में स्थापित होता है, जो अपनी सूक्ष्मता के कारण उपभोग्य न होकर आस्वादनीय होता है।

साहित्य और सौन्दर्य में विभिन्न परिवर्तन :

कला और सौंदर्य में अभिन्न सम्बन्ध है। यदि यह कहा जाय कि सौंदर्य के सूत्र में ही कला के मोती पिरोए जाते हैं तो अत्युक्ति न होगी। सौंदर्य प्रत्येक प्रकार की कला में निहित रह कर उसके विविध रूपों का समन्वय करता है—चाहे यह कला काव्य कला हो या सगीत कला, मूर्ति कला हो या स्थापत्यकला अथवा वादनकला

---

१. प्रेमचन्द, 'गोदान' का नायक

२. Art will hardly be importent or beautiful unless it engages deeply the resorces or the soul.

—Santyana's Aesthetics, page. VIII

३. फतेहसिंह, भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका, पृ० ५

४. प्रसाद, आँसू' पृ० २६

हो या नृत्य कला। कला के अन्तदर्शन में सौंदर्य है और सौंदर्य के अंतदर्शन में कला।[1] समस्त कला, उसके सभी क्षेत्र मानव की सौंदर्याभिमुखी वृत्ति से प्रेरित हैं। उसकी विश्लेषणात्मक व्याख्या कला के विभिन्न अंगोपांगों के रूप में हम चाहे जिस प्रकार करें, सभी दिशाओं में अभीष्ट होती है सौंदर्यानुभूति।[2]

यही सौंदर्यानुभूति साहित्य का अभीष्ट है। सौंदर्य को कतिपय शब्दों द्वारा मूर्त्त स्वरूप प्रदान करना ही साहित्य कला है। कला के रूप की अभिव्यक्ति साहित्य से होती है। कला की मौन बेबसी को साहित्य ही तोड़ता है। अपनी परिमार्जित भाषा से वह कला के रूप को जीवन देकर गतिमान बनाता है। इस जीवन से कला का ऐश्वर्य, उसके मनोभाव और संस्कार ज्वलित हो जाते हैं।[3]

साहित्य में निहित जीवन और सृष्टि के विभिन्न रूप ही सुन्दर हैं। वह सौंदर्य–निर्माता भी है और सौंदर्य की सृष्टि भी। सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना ही का नाम साहित्य है।[4] साहित्य जीवन के विविध पहलुओं को कलात्मक अथवा सुन्दरतम रूप में अङ्कित करता है। इन्हीं रूपों का अनुकरण कर मानव–समाज जीवन को सुन्दर बनाने के प्रयत्न किया करता है। इस प्रकार सौंदर्य द्वारा साहित्य का निर्माण होता है और साहित्य द्वारा सौंदर्य की सृष्टि।

साहित्य और सौंदर्य आत्मा और शरीर की भांति एक दूसरे के पूरक हैं। आत्म का दृष्ट रूप सुन्दर शरीर है और शरीर की सार्थकता उसमें निहित आत्मा से है। मनुष्य की दया, प्रेम, त्याग आदि सुन्दर एवं चिरंतन भावनाएं ही साहित्य की आत्मा हैं। इनका साकार स्वरूप ही साहित्य है। साहित्यकार गद्य-पद्यात्मक शैली विधान द्वारा उन्हें बाह्य शरीर प्रदान करता है। आत्मा से हीन निष्प्राण शरीर निरर्थक होता है, चाहे उसका आकार प्रकार कितना ही सुगठित एवं मनोरम क्यों न हो। बिना शरीर धारण किये आत्मा अपरिलक्ष्य है। साहित्य निर्माता भी अपने सुन्दर भावों को भाषा-छन्दादि का शरीर प्रदत्त करके उसे अपने शब्द संयोजन, गीतात्मकता एवं शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के मनोरम आभूषणों से सुसज्जित करता है। उसमें से अनुभूत्यात्मक कांति छिटकती रहती है। किन्तु केवल नाना प्रकार के छंदालंकारों तथा उक्ति वैचित्र्य में ही कवि के लीन हो जाने पर उसकी प्रभावत्ता विनष्ट हो जाती है और वह अपना आकर्षण भी खो बैठता है। उसमें सहृदय को

---

१. रामकुमार वर्मा, साहित्य चिन्तन, पृ० ५
२. दार्शनिक त्रैमासिक, अङ्क ४ अक्टूबर १९६७, पृ० २२६
३. डा० श्यामनारायण पाण्डेय, साहित्य का उत्कर्ष, पृ० ११
४. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कल्पलता, पृ० १४०

प्रभावित करने की क्षमता नहीं रहती। अतः रूप और सौंदर्य के सामंजस्य द्वारा ही साहित्य का निर्माण होता है।

सौन्दर्य साहित्य का आवरण है। समाज में निहित बुराइयों से, विभिन्न राजनैतिक-सामाजिक प्रतिक्रियाओं से साहित्य अछूता नहीं रहता। तत्कालीन वातावरण के परिपार्श्व में ही वह समस्याओं का उचित समाधान प्रस्तुत करता है। साहित्य अपनी विषय वस्तुओं एवं स्थितियों के लिए यह निर्देश देता है कि उनका सुन्दरतम रूप यह होना चाहिए।

उपन्यास, नाटक, कहानी आदि साहित्य-रूपों में ठोस विषय वस्तु का प्रतिपादन होता है। परन्तु उसमें नीति अथवा अर्थशास्त्रादि के समान केवल सैद्धान्तिक विवेचन नहीं होता। साहित्य में इतिहास के समान तथ्यों का नीरस उल्लेख मात्र नहीं होता अपितु उसमें समाविष्ट समस्त तथ्य सौन्दर्य के रमणीय आवरण से आवृत रहते हैं। नाकटकार के सरस एवं आकर्षक संवादों, कहानी में निहित तीव्र उद्वेलन एवं कथा-प्रवाह, उपन्यास के ताने-बाने में ग्रथित पात्रों एवं घटनाओं तथा कविताओं एवं गीतों के मधुमय प्रवाह से पाठक का अंतर्मन प्रभावित हो उठता है। अतः साहित्य की ठोस विषय-वस्तु पर साहित्यकार की अनुभूति का झिलमिलाता आवरण पड़ा रहता है। जिस प्रकार हरे रंग का चश्मा लगा लेने पर शुष्क ठूठों से आवृत रेगिस्तान के टीले भी हरे-भरे दिखाई देते हैं उसी प्रकार साहित्य में प्रतिपादित ठोस विषय-वस्तु भी सौंदर्य (अनुभूति एवं शैली) के झिलमिलाते आवरण में रमणीय प्रतीत होती है।

सौंदर्य और साहित्य में साधन-साध्य सम्बंध है। सौंदर्य साहित्य निर्माण का साधन है। साहित्य का उद्देश्य है जीवन का चित्रण करना, सृष्टि करना के क्रम में सहयोग देना। क्रिया रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है और प्रतिक्रिया रूप में उसका निर्माता एवं पोषक। साहित्य में जीवन की अनुभूतियों का उसी परिवेश में आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। इसी आदर्श रूप से प्रेरणा प्राप्त करके उसके अनुकरण द्वारा जीवन उच्चतम मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। साहित्य के उद्देश्य की प्राप्ति सौंदर्य द्वारा ही सम्भव होती है। सौंदर्य द्वारा ही साहित्य का निर्माण होता है। द्विवेदी जी ने इसके समर्थन में कहा है कि 'जो जाति सौंदर्य की पूजा करती है और असुन्दर की उपेक्षा करती है वह साहित्य और कला की सृष्टि करती है।[१]

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कल्पलता, पृष्ठ १४१

साहित्य सौन्दर्य का महत्त्व एवं लक्ष्य :

साहित्य में सौंदर्य-सृजन के लक्ष्य एवं महत्त्व के विषय में विद्वानों में मत वैभिन्य है। कतिपय चिन्तकों का कहना है कि सौंदर्य रचना का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है। कतिपय मनीषियों का विचार है कि कला का उद्देश्य शिक्षा अथवा उद्देश्य प्रदान करना होता है। कलावादियों के एक वर्ग का नारा है कि कला कला के लिए है अर्थात् सौंदर्य का सृजन केवल सौंदर्य सृष्टि के लिए ही है इसके अतिरिक्त उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता।

'हमारे यहां कला एक आनन्दमय साधना मानी गई है। आनन्दहीन साधना उतनी ही निरर्थक है जितना साधनाहीन आनन्द निष्फल है।'[1] कला के लिए साधना की जाती है और साधना से आनन्द की प्राप्ति। अंतर और बाह्य के निविड़ अनुभव कलाकार को होते रहते है। संचित अनुभूतियों की आग में वह तपता रहता है। अनुभूतियां जब तक पूर्ण रूपेण तपकर एक सुनिश्चित शुद्ध रूप ग्रहण नहीं कर लेतीं, तब तक कलाकार छटपटाता रहता है। वह एक अभाव की, अभिव्यक्ति के अभाव की पीड़ा की साधना करता है। इन्हें अभिव्यक्त करने में उसे असीम आनन्द एवं परितोष का अनुभव होता है। यही प्रखर अनुभूति सहृदय के साथ तादात्म्य स्थापित कर उसके आह्लाद का कारण होती है।

इस प्रकार कला सृजन एवं उपभोग दोनों में ही आनन्द का समावेश होता है। कलाकार अपने अन्तर के आनन्द को कला के रूप में अभिव्यक्त करता है और सहृदय कला के माध्यम से आनन्द का आस्वादन करता है।[2] एक प्रिया में तृप्ति का आनन्द है दूसरी में अभाव की वेदना का सुख। सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के संचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते है तभी कविता का जन्म होता है। कविता के उद्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात आनन्द और अभाव की पीड़ा दोनों का संयोग अनिवार्य है।

साहित्कार सर्वाधिक संवेदनशील, साधारण मनुष्यता की श्रेणी से ऊपर उठा हुआ प्राणी है। जीवन-प्रयोजनों के मध्य रहते हुए भी उसकी चेतना उनसे सर्वथा असम्पृक्त है। उसकी आत्मा अनुभूति के सौन्दर्य से मण्डित होती है। प्रत्येक

---

१. श्री जैनेन्द्र, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ६६

२. "THE singer is translating his song into singing his joy into forms and the hearer has to translate back the singing in to the original joy."
-Ravindranath, Sadhana, page 105

सुन्दर वस्तु, सुन्दर दृश्य, सुन्दर ध्वनि उसे आकर्षित कर लेती है। वह नव कुसुमों की मुस्कान का रस ले सकता है, विटपस्थ विहंगों के मधुर कलरव से अपने कर्ण-कुहरों को भर सकता है तथा नदी स्रोतों के कल-कल संगीत में अपनी आत्मा का संगीत मिला सकता है। विलापमग्ना वृद्धिया की अश्रु धार में वह अपने आंसुओं की धारा निमज्जित कर देता है। अनुराग विह्वल प्राणियों की प्रणय लीलाओं में आकण्ठ निमग्न हो जाता है और उनकी वियोग वेदना की आंच में झुलस जाता है। वही शूरवीरों के सान्निध्य में रण भेरी फूंकने लग जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति में उसके हृदय में संवेदनाएं उद्वेलित हो उठती हैं। वह सृष्टि के उस बिन्दु तक में सौन्दर्य को खोज लेता है, जहां साधारण मानव की दृष्टि नहीं पहुंचती। वह इतस्ततः बिखरे हुए सामंजस्यविहीन, असन्तुलित सौन्दर्य को भी खोज लेता है। इस सौन्दर्य की उद्वेलना में एक मधुमय कसक होती है। इसे अभिव्यक्त करने के लिए वह अवसर की प्रतीक्षा में रहता है। पुनः कहीं भी रूप, रस, स्पर्शादि के तनिक से सम्पर्क में आते ही ये अनुभूतियां नवीन रूप में अभिव्यक्त हो जाती हैं, जो अपने नवीन आध्यात्मिक सौन्दर्य (आध्यात्मिक इसलिए कि उसमें साहित्कार की आत्मा का आलोक होता है) के कारण, पाठक को असीम आनन्द प्रदान करती है।

इस प्रकार साहित्य का उद्गम ही सौन्दर्य है और उसका अवसान भी सौन्दर्य में ही है। सौन्दर्य से प्राप्त आनन्द भी अपनी अलौकिकता के कारण सुन्दर ही है।

भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों ने सौन्दर्य को ही साहित्य का सर्वस्व स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि सुन्दर और कुरूप काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं - सुन्दर असुन्दर।[1] काव्य में समष्टि रूप से सौन्दर्य की ही अवस्थिति होती है। साहित्य सौन्दर्य का चिरंतन स्वरूप है। वह चिरकाल से साहित्य में नित्य रूप में स्थित है। डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

संसार के सब देशों और सब कालों के साहित्य का मंथन करके यदि उसमें से कोई शाश्वत तत्त्व निकाला जाए तो वह तत्त्व होगा प्रेम और सौन्दर्य की भावनाएं। साहित्य में यह विषय चिरनवीन है। आदि कवि से लेकर आधुनिक

१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६७

कवि तक के काव्य में यही स्थायी तत्त्व है।[1] काव्य में जो कुछ भी वर्णित अथवा चित्रित किया जाता है उसका माध्यम सौन्दर्य है। सौन्दर्य से उद्दीप्त होकर अनुभूतियां, साहित्यकार की कल्पना के सौन्दर्य की सरसता में लिप्त इस प्रकार अभिव्यक्त होती है कि वह पाठक को रसमग्न कर आनन्द प्रदान कर सकें। यह अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य होती है।

साहित्य में सौन्दर्य के अन्यतम महत्त्व को स्पष्ट करते हुए आलोचक प्रवर रामचन्द्र शुक्ल नें काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—'जिस प्रकार आत्मा-की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।....' हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।[2] हृदय को इस मुक्तावस्था में पहुँचाना सौन्दर्य के योग से ही सम्भव है। जिस सौन्दर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है वह अवश्य एक दिव्य विभूति है।[3] श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' भी साहित्य में सौन्दर्य की सत्ता अनिवार्य मानते हैं। वे काव्यनुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति में अन्तर स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार शुद्ध सौन्दर्य भावना ही—काव्यानुभूति की जननी है।[4]

महाकवि प्रसाद जी भी साहित्य में सौन्दर्य एवं सत्य का समन्वय स्वीकार करते हुए कहते हैं कि काव्य अथवा साहित्य एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है।[5] इसलिए साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौन्दर्यानुभूति की खोज अप्रसंगिक नहीं किन्तु आवश्यक है।[6]

साहित्य मनुष्य की सौन्दर्य-साधना है।[7] इसे सभी आचार्यों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय आदि प्राचीन साहित्यशास्त्रियों से लेकर आधुनिक आलोचकों तक सभी ने साहित्य के सन्दर्भ में सौन्दर्य को ही अनिवार्य माना है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में तो सौन्दर्य-शास्त्र की एक नियमित शृंखला चली आ रही है। उन्होंने साहित्य-निर्माण में सौन्दर्य-तत्त्व की आवश्यक रूप में विवेचना

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, पृ० १०१
२. चिन्तामणि भाग २, पृ० १४१
३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १६६
४. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ६४
५. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३८
६. वही, पृ० २९
७. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कल्पलता, पृ० १४०

की है। उन्होंने साहित्य को कला मानते हुए उसकी परिभाषाएं सौन्दर्य के ही परिप्रेक्ष्य में दी हैं। 'ले हन्ट' कविता को मानव के सत्य, सौन्दर्य तथा शक्ति के भावावेगों की अभिव्यक्ति मानते है, जिसमें कवि अपनी कल्पना के आश्रय से विचारों को मूर्तिमान एवं स्पष्ट रूप प्रदान करता है।[१]

'एडगर ऐलेन पो' कविता को सौन्दर्य की संगीतात्मक रचना करते हैं।[२] कॉलरिज कविता को उस महान वरदान के रूप में स्वीकार करते हैं, जो प्रत्येक वस्तु के जाग्रत सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करता है।[3] मैथ्यू आॅरनाल्ड के अनुसार कविता काव्यात्मक सत्य और काव्यात्मक सौंदर्य द्वारा निश्चित स्थितियों में जीवन की आलोचना है।[४]

भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतकों के मतावलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य में सौंदर्य के उद्दीपन से साहित्यकार के मानस-मुकुर में अनुभूतियां प्रतिबिम्बित होती रहती है। पुनः नाना वर्ण-विधायिनी कल्पना द्वारा सौन्दर्य मूर्त्त आकार ग्रहण कर साहित्य में प्रत्यक्ष हो जाता है। साहित्य हृदय की सच्ची अनुभूतियां होती हैं। अनुभूति कभी असुन्दर नहीं होती। ये अनुभूतियां अपनी सत्यता के कारण पाठक के साथ साधारणीकरण की क्रिया द्वारा एकाकार हो जाती है। जिसमें व्यक्ति के अह और स्व का लोप हो जाता है। वह उसमें तल्लीन हो जाता है और एक अनिर्वचर्जीय आनन्द का आस्वादन करता है। इस आनन्द की अलौकिकता के कारण ही इसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।

यह आनन्दानुभूति ही सौंदर्य का लक्ष्य होता है। नित्य प्रति के जीवन में नियमित व्यवहार से मानव थक जाता है। उसके सम्मुख यह एक बहुत बड़ा सत्य है कि जीवन दुखों से भरा हुआ संघर्ष है। उसे इतस्ततः कुछ सुन्दर वस्तुओं के दर्शन

---

1. "(Poetry is) the utterance of a passaion for truth, beauty and power, embodying and illustrating its conceptions by imagination and fancy."
2. I would define, in brief the poetry of words as the rhythmical creation of beauty."
3. Poetry has been to me its own exceeding great reward, it has given me the habit of wishing to discover the good and the beautiful in all that needs and surrounds me.
4. "(Poetry is)" A creation of life undert he conditions is fixed for such criticism by the laws poetic truth and poetic beauty."

कर कुछ सुख प्राप्त हो जाता है परन्तु यह सुख बड़ा अल्पकालिक होता है। उन सुख के क्षणों में भी वह अपने वाह्य वातावरण एवं व्यवहार से मुक्त नहीं हो पाता। वह उसका सुख अपनी सम्पूर्ण चेतना द्वारा ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाता। परन्तु साहित्यकार जीवन और जगत के सौन्दर्य को उस आध्यात्मिक स्वरूप में उपस्थित करता है कि वह कुछ काल के लिए सांसारिक व्यापारों की व्यग्रता से निवृत करके "........हमारे सामने एक ऐसी निधि रख देता है जिसे हम नित्य प्रति के झन्झटों तथा सांसारिक स्वार्थ—साधन के व्यवसायों में मग्न रहते हुए भी हृदय से अनुभव करने को लालायित रहते हैं।[1]

डा० हरद्वारी लाल शर्मा ने कला अथवा सौंदर्य का लक्ष्य निर्देश करते हुए कहा है कला सृजन में आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता का मूर्त रूप में अनुभव करती है। कला का उद्देश्य, आदर्श और साफल्य प्राकृतिक रूप में आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति है।[2] श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भी कला का उद्देश्य आनन्द माना है।[3] वाजपेयी जी के अनुसार रूप या सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा उच्च कोटि के लौकिक या आलौकिक आनन्द का उद्रेक ही साहित्य और कलाओं का लक्ष्य है।[4] डा० नगेन्द्र भी साहित्य का उद्देश्य सुन्दर के माध्यम से सत्यम् और शिवम् की स्थिति मानते हैं, जिसकी अन्तिम परिणति आनन्द अथवा सुन्दरम् में ही होती है। इसका उदाहरण उन्होंने तुलसी के काव्य से दिया है। अपने मंगल श्लोक में वे वाणी और विनायक की साथ साथ वन्दना करते हैं। वाणी और विनायक का यह युगपत स्मरण उनकी काव्य-दृष्टि को और भी स्पष्ट कर देता है। वाणी काव्य-सौंदर्य की प्रतीक है और विनायक लोक-मंगल के, अतैव उन दोनों के सहयोग से कवि अपने काव्य मेंसुन्दर और शिव दोनों को सिद्ध करने का प्रयास करता है। सुन्दर और शिव की यह सिद्धि ही तुलसी के मत से काव्य का उद्देश्य है।[5] पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी दो ही मूल्य विशेष हैं—सौन्दर्य मूलक एवं उपयोगिता मूलक, इनका पर्यवसान आनंद एवं लोक कल्याण में होता है। नगेन्द्र जी ने इन्हें परस्पर एक दूसरे का पूरक मानते हुए आनन्द का ही अपेक्षाकृत अधिक मूल्य स्वीकार किया है। वे लिखते हैं

---

१. साहित्यालोचन, श्यामसुन्दरदास, पृ० ९०
२. हरद्वारी लाल शर्मा, सौन्दर्य शास्त्र, पृ० १२६
३. सौन्दर्य आनन्द कला की पहली शर्त है। कविता रचने के समय कवि को आनंद होता है, कविता पढ़ने के समय पाठक को आनन्द होता है।
   दिनकर, शिंजनी, द्वितीय संस्करण की भूमिका।
४. नया साहित्यः नये प्रश्न (निकष) पृ० ४
५. डा० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्य शास्त्र, पृ० ५४

आप इसे दोष मानिए या गुण मेरी अन्तर्मुखी प्रकृति आनन्द से बढ़कर आत्मकल्याण अथवा लोककल्याण की कल्पना करने मे असमर्थ है।'[१]

इस प्रकार साहित्यकार सृष्टि में व्याप्त सौंदर्य के दर्शन से आह्लादित हो उठता है। यही सौन्दर्य अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य में प्रकट होता है, जो सहृदय के मानस से साधारणीकरण द्वारा आनन्दजन्य होता है। रसवादियों से लेकर वक्रोक्तिकार तक प्रायः सभी ने लक्ष्य रूप में आनन्द को ही स्वीकार किया है। सौन्दर्य ही रस-रूप में साहित्य में प्रतिष्ठित होता है जिसका सहृदय आस्वादन करता है। रस काव्य का आस्वाद है। यह आस्वाद आनन्दमय है अर्थात् रस एक प्रकार की आनन्द चेतना है।[२]

कुन्तक ने भी सौंदर्य का उद्देश्य-निर्दिष्ट करते हुए कहा है—'साहित्य शब्द और अर्थ की मनोहारी स्थिति है। इसमें शब्द और अर्थ परस्पर एक दूसरे से न अधिक सुन्दर है न कम। उनमें परस्पर स्पर्धा रहती है। इस न्यूनातिरिक्तत्व अथवा परस्पर स्पर्धिता का मुख्य प्राप्तव्य शोभाशालिता है। यह शोभा ही सौंदर्य कहलाती है। यह सौंदर्य ही सहृदयश्लाघ्यत्व अर्थात् सहृदय के हृदय का आह्लाद हैं।[3] आनन्द के विषय में यद्यपि आचार्यों में मतभेद है तथापि प्रत्यक्षा-प्रत्यक्ष रूप में आनंद को ही सबने स्वीकार किया है। उन्होंने आनन्द के अतिरिक्त और भी उद्देश्य बतलाए हैं। उनके अनुसार साहित्य केवल मनोरंजन अथवा आनन्द ही नहीं है उसके जीवन में और भी मूल्य है।

साहित्य से प्राप्त सुख का आनन्द लौकिक सुखों से सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण होता है। इसे प्रायः भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। क्षुधा शांत हो जाने पर भोजन में वही आकर्षण नहीं रहता। जिह्वा के सुख-स्वाद के लिए कुछ मिठाई खा ली जाती है। यह सुख उसी समय के लिए व्यक्तिगत सुख था। किन्तु कला का आदि रूप सामाजिक मनोरंजन में दिखता है और सामाजिक

---

१. डा० नगेन्द्र, विचार और विश्लेषण, पृ० १०९

२. डा० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ० ९०

३. संहितयाभाव साहित्यम् अनयोः शब्दार्थयार्य काव्यलौकिकी चेतन चमत्कारत्वः मनोहारिणी परस्पर स्पर्धित्वरमणीया। ......
शोभाशालितां प्रति। शोभा सौंदर्यु च्यते। तथा शालतेश्लाध्यते या सा शोभा-शाली तस्याभावं शोभशालिता तां प्रति सौंदर्यश्लाघिनाम प्रति सैवच सहृदया-ह्लादकारिता तस्यां स्पर्धित्वेन याऽसाववस्थितिः परस्परसाम्यसुम गमवस्थानम् तौ साहित्यमुच्यते। वक्रोतिजीवित १।७ व्याख्याभाव

मनोरंजन होने के कारण कला को व्यक्तिगत वासनाओं से मुक्त रहना चाहिए।[1] व्यक्तिगत वासनाविहीन सौंदर्य-ऐषणा की ही तृप्ति साहित्य द्वारा होती है। इस सौंदर्य के उपभोग का आस्वादन द्वारा साहित्य हमारी अनुभूतियों का परिष्कार करता है। साहित्य सेवन से हमारा मन परिष्कृत और हृदय उदार हो जाता है। काव्य या साहित्य का आनन्द लेने के लिए हमें सतोगुणात्मक वृत्तियों में रहने का अभ्यास हो जाता है। सतोगुण प्रकाश सम्पन्न है, अतः हमारे मन का परिष्कार और हृदय का विकास होता है।[2]

साहित्य में सौन्दर्य सृजन का उद्देश्य मात्र मनोरंजन एवं आनन्द अथवा सत्वोद्रेक ही नहीं है। यह तो सभी कलाओं का उद्देश्य है। सुन्दर चित्र को देखकर अथवा मधुर सगीत को सुनने से कुछ समय के लिए हृदय आह्लादित हो जाता है। परन्तु उससे कुछ ऐसा ग्रहण किया जाए, जो जीवन में महत्वपूर्ण हो, ऐसा स्पष्टतः निश्चित नहीं है। साहित्य अन्य कलाओं से इसलिए विशिष्ट है कि उसका जीवन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जीवन निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धान्त है।[3]

अतः साहित्य में सौन्दर्य-निर्माण का उद्देश्य आनन्दोद्रेक के साथ ही शिक्षा भी है, जो उसे जनोपयोगी बना देती है। हमारे काव्यशास्त्रियों ने काव्य के चार उद्देश्य बताए हैं,[4] जिनमें आनन्द के साथ उपदेश अथवा शिक्षा, अर्थ-प्राप्ति एवं कल्याण-कामना प्रमुख हैं। साहित्य शुष्क उपदेश न देकर स्त्री के समान भीने आवरण में लिपिटा हुआ मधुर उपदेष देता है। प्रिया द्वारा कही हुई व्यंग्यपूर्ण उक्तियां भी उसके स्वर की मधुरता एवं प्रियता के सम्बन्ध से पति के लिए आनन्द का विषय होती हैं। इसी प्रकार साहित्य भी विभिन्न प्रकार की सौन्दर्य-रचना द्वारा मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्तियों को वश में करके उसके मन पर उपदेश का इन्द्रजाल डालता है कि पाठक सम्मोहित सा अनजाने ही शिक्षा ग्रहण कर लेता है। कविवर बिहारी का प्रमाण प्रत्यक्ष है।[5] जो कार्य वृद्ध जन एवं विज्ञजनों से

---

१. डा० भगीरथ मिश्र, अध्ययन, पृ० १७
२. साहित्य की मान्यताएं, पृ० ९
३. नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० ४०७
४. काव्य यशसे अर्थकरे व्यवहारविदे शिवतरक्षतये।
सद्य परनिवृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे॥ मम्मट, काव्य-प्रकाश
५. नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अलि कली सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥
—बिहारी सतसई।

नहीं हुआ उसे विहारी के दोहे ने पलक मारते में कर दिया। कवि सीधा उपदेश नहीं देता यह तो उपदेशकों का कार्य है। कवि जहां पर मंगल शक्ति की सफलता दिखलाता है, वहां उसका लक्ष्य कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डाल कर अन्तःकरण में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति उत्पन्न करना है। [१]

इन विचारकों के अतिरिक्त कवियों ने भी कला के लक्ष्य के बारे में अपने मत अभिव्यक्त किए हैं। प्रायः सभी ने साहित्य को प्रयोजनातीत आनन्द प्रदान करते हुए जीवनोत्थान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रेरणादायी माना है। उन्होंने माना है कि साहित्य वह आलोक है, जो देश को अन्धकार रहित, जाति मुख को उज्जवल और समाज के प्रभावहीन नेत्रों को सप्रेम रखता है। [२] साहित्य सत् शिक्षा द्वारा लोकहित करता हैं।

महाकवि हरिऔध ने इसी विचार को प्रतिपादित करते हुए कहा है—कविता का उद्देश्य मनोविनोद ही नहीं हैं, समाज-उत्थान, देश-सेवा, लोक शिक्षण, परोपकार और सदाचार शिक्षा आदि भी हैं। [३] साहित्यिक का अवतार सुन्दर भावों द्वारा सबके हृदय में प्रेम उद्‌बद्ध कर, सबका भला करना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है–

> बांध सुन्दर भाव का सिर पर मुकुट,
> वह भलाई के लिए है अवतरा।
> कौन कवि सा हित-कमल का है भंवर,
> प्यार से किसका कलेजा है भरा। [४]

साकेत-स्रष्टा महाकवि मैथिलीशरण गुप्त ने साहित्य अथवा सौन्दर्य के दो प्रयोजन माने है। एक ओर वे संस्कृत आचार्यों की भांति लोक-हित, कान्ता सम्मित उपदेश एवं ज्ञान प्रदान करना साहित्य का उद्देश्य मानते हैं दूसरी ओर साहित्य से विश्व के सौन्दर्य साक्षात्कार द्वारा लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति होती है, यह प्रतिपादित करते है। लोकहित एवं उपदेश को साहित्य का प्रयोजन मानते हुए उन्होंने कहा है—

> है जिस कविता का काम लोकहित करना,
> सद्‌भावों से मन मनुज मात्र का भरना।

---

१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६७
२. हरिऔध, बोलचाल पृ० २१९
३. अयोध्यासिंह उपाध्याय, रसकलस, भूमिका, पृ० ३२
४. हरिऔध, चोखे-चौपदे, पृ० ८

छन्द :

किसी विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति विशिष्ट शब्दों द्वारा होती हुई भी एक विशेष लय की अपेक्षा रखती है। लय का सम्बन्ध संगीत एवं राग से है। राग, में शब्द नहीं होते, ध्वनियां होती हैं। साहित्य ने उसे शब्द प्रदान कर अपने में समाहित कर लिया है। साहित्यकार की वेगवती सौन्दर्यानुभूति कूल तोड़कर अस्त-व्यस्त रूप में यदि अभिव्यक्त होती है तो उसका सौन्दर्य सम्पूर्णता से प्राप्त नहीं होता, वह छन्द के कूलों में लय से प्रभावित होती हुई अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त करती है। पंतजी ने छन्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा है—कविता तथा छन्द के बीच मे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है. छन्द हृतकम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर-निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं———छन्दबद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोह-चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है। उनमें राग की विद्युत धारा बहने लगती है। उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।'[१] इस प्रकार छन्द हमारे विशेष मनोभावों के उपयुक्त नादव्यंजना एवं लय की व्यवस्था करके हमारी रागात्मक वृत्तियों का अनुरंजन करते हैं। अपनी लयात्मकता के कारण वे स्मृतिपटल पर भी शीघ्र एवं सदैव के लिये अंकित हो जाते हैं।

अलंकार, छन्द एवं शब्द--शक्तियों से सम्पन्न होने पर भी भाषा में कुछ ऐसे गुणों की अपेक्षा होती है, जो उसे अभीष्ट सौन्दर्यानुभूति के योग्य बना देते हैं। श्रृंगार-वर्णन के लिये भाषा में माधुर्य गुण की अपेक्षा है। अत: उसमें साहित्यकार ऐसे मधुर शब्दों का प्रयोग करता है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता एवं स्पर्श में एक कोमलता लिये होते हैं। वीरत्व की व्यंजना के लिये वह कठोर वर्णों का आश्रय लेता है। इन गुणों के योग से भाषा प्रत्येक परिस्थिति एवं मनोदशा में अभिव्यक्ति की प्रभान्विति में सहायक होती है। माधुर्य, ओज एव प्रसाद भाषा के आन्तरिक गुण हैं, जो वर्ण-विन्यास एवं लय पर निर्भर करते हैं।

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त, पल्लव, पृष्ठ ३०, ३१।

इस प्रकार साहित्य एवं सौन्दर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सौन्दर्य द्वारा ही साहित्यकार अपने साहित्य का निर्माण करता है। सौन्दर्य देश की सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित होता है। कलाकार भी सभ्यता एवं संस्कृति के परिपार्श्व में शब्द, अलंकार, छन्द एवं प्रतीकादि उपकरणों द्वारा साहित्य में अपनी अनुभूतियों को मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है। ये शब्द-मूर्तियां साहित्य का सर्वस्व तथा जीवन की सच्ची अनुभूतियों से निर्मित होने के कारण 'सत्यं' 'शिवं' एवं 'सुन्दरं' स्वरूप हैं। अतः साहित्य 'सत्यं' 'शिवं' 'सुन्दरं' की ही अभिव्यक्ति है।

द्वितीय खण्ड

प्रसाद का सौन्दर्य-दर्शन

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

(अ) व्यक्तित्व

कवि जीवन संगीत का गायक होता है। वह इस वाह्य जगत से प्रेरणा ग्रहण करके उसे अपनी आन्तरिक अनुभूतियों का स्पर्श प्रदान कर अपने काव्य का निर्माण करता है। उसकी आन्तरिक अनुभूति का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से होता है और वाह्य अनुभूति का समाज से . अन्तर्मुखी होते हुए भी वह समाज की अवहेलना नहीं कर सकता। देशकाल का स्वर उसके स्वाभाविक संगीत में स्थान प्राप्त करता है।[1]

कवि के काव्य-मुकुर में उसका जीवन प्रतिबिम्बित होता है। वह जिस संसार से अनुप्राणित होता है उसका चित्र अपने आदर्श के अनुरूप अनुभूति एवं कल्पना के विविध रंगों के सहयोग से अंकित करता है। अतः कवि की कृतियां उसके व्यक्तित्व के माध्यम से ही सम्यक् रूप से आस्वादनीय बनती हैं। काव्य में वर्णित विभिन्न भाव लहरियों की कल-कल का, उसमें चित्रित प्रकृति के नानारूपात्मक सौन्दर्य विलोकन का पर्याप्त आनन्द तथा उसमें व्याप्त गहन अनुभूति से परिचय प्राप्त करने के लिए, कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है। उसकी मनोदशाओं एवं परिस्थितियों की पृष्ठभूमि का ज्ञान हो जाने पर उसके काव्य की आत्मा तक सहज ही पहुंचा जा सकता है।

अपने दैनिक जीवन में प्रायः हम सभी व्यक्तित्व शब्द से परिचित हैं। ऐसा कहा जाता है कि यदि किसी व्यक्ति को किसी व्यक्ति विशेष को अपने अनुकूल करना हो तो उसे चाहिए कि वह अपने आकर्षक व्यवहार द्वारा उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करे। इस व्यक्तित्व का प्रयोग हम भिन्न भिन्न अर्थों में करते हैं। कहीं इससे आकर्षक सौन्दर्य एवं शारीरिक गठन की व्यंजना होती है तो कहीं सभ्य एवं संस्कृत व्यवहार की। कभी इसे ज्ञान एवं विवेक की कसौटी पर कसा जाता है तो कही सांसारिक अनुभव एवं अनुकूलन शक्ति की कसौटी पर। कभी इससे वाह्य आकृति का भाव ग्रहण किया जाता है और कभी व्यक्ति की अन्तः प्रवृतियों, रुचियों एवं चारित्रिक विशेषताओं का। व्यक्तित्व शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ग्रीक भाषा में नाटकों के प्रसंग में नाटकोचित वेशधारी व्यक्ति के लिए हुआ था। पुनः यह शब्द रोमन भाषा में

---

१. प्रेमशंकर, प्रसाद का काव्य, पृ० २१

प्रयुक्त हुआ। तत्पश्चात् इसका प्रयोग व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं पद के लिए होने लगा। मनोविज्ञान के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टिपात करने पर ज्ञात होगा कि मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग लगभग पचास अर्थों मे किया है। विभिन्न दार्शनिकों ने व्यक्तित्व की परिभाषा इस प्रकार दी है—

पाश्चात्य दार्शनिक 'लिबनीज' ने व्यक्तित्व को विवेक और विचार की कसौटी पर कसते हुए अपनी परिभाषा इस प्रकार दी है-' व्यक्तित्व प्रकृति सेही ज्ञानयुक्त तत्व को सूचित करता है।[१] जांन लॉक चातुर्य एवं विचारों द्वारा व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं।[२] जांन वाटसन ने व्यक्तित्व की परिभाषा इस प्रकार दी है-' व्यक्तित्व किसी के व्यवहार का पूर्ण अनुमान है।[3] नॉमेन कामसंन के अनुसार व्यक्तित्व व्यवहार की पद्धतियों का एकत्रित स्वरूप है जिन्हें वह जन्म से वयस्क होने तक दूसरे व्यक्तियों उप सांस्कृतिक गतिविधियों के वातावरण के फलस्वरूप प्राप्तकरता है।[४] विलियम जेम्स ने व्यक्तित्व के स्थान पर 'स्वत्व' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने व्यक्ति के स्वत्व की चार तहें मानी हैं जिनमें सर्वोपरि तह 'भौतिक तत्व' होती है जिसका सम्बन्ध शरीर, अधिकार, कुल एवं मित्रो से होता है। दूसरी स्वत्व की तह इतर जनों पर उसके प्रभाव को व्यंजित करती है जिसे हम उसका सामाजिक व्यक्तित्व कह सकते हैं। तृतीय तह आध्यात्मिक स्वत्व है, जो उसकी विरोधी प्रवृत्तियों एवं

---

1. According to Leibnitz; personality refers to 'a substance gifted with understanding'.

   Robert W. Lundin's, personality: An experimental approach, 1961, page 4.
2. "A thinking and intelligent being, that has reason and reflection and considers self as itself".

   The same book, page 4.
3. John watson defines personality as "the same total of one's behaviour."
4. Norman comerson defines it as "the dynamic organisations of interloching behaviour systems that each of us possesses, as he grows from a biological newborn to a biosocial adult in an environment of other individuals and cultural products."

   The same, Page 5.

लक्षणों में सामंजस्य स्थापित करती है। चतुर्थ तह को उसने 'पूर्ण ब्रह्म' वाला स्वत्व कहा है।[1]

इस प्रकार विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया है किन्तु पूर्णता के साथ व्यक्तित्व को परिभाषित करने का सर्व प्रथम प्रयत्न किया जीडब्ल्यु० ऑलपोर्ट ने। उन्होंने सन् १९३७ में व्यक्तित्व पर अपने प्रयोगों सहित एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें अब तक दी गई समस्त परिभाषाओं का सार ग्रहण करते हुए अपनी परिभाषा इस प्रकार दी-' व्यक्तित्व व्यक्ति के मनोदेहिक संस्थानों का वह गत्यात्मक संगठन है, जो उसके वातावरण के अपूर्व संतुलन को निर्धारित करता है।[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि कवि के व्यक्तित्व से केवल उसकी बाह्य आकृति एवं वेषभूषा का ही नहीं, उसकी विवेक शक्ति, व्यक्तिगत और सामाजिक अनुभूतियों, तथा उसकी सांस्कृतिक चेतना आदि उपकरणों का भी बोध होता है जिनसे वह प्रभावित होता है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व के निर्माण में व्यक्ति के वंशानुक्रम एवं परिवेश का अत्यधिक महत्व माना है।[3]

जन्म एवं परिवार—

सुन्दरम् के अमर कवि श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म माघ शुक्ला दशमी सन् १९४६ विक्रमी को काशी के एक वैभवपूर्ण परिवार में हुआ था। प्रसाद जी के दादा शिवरतन साहू का तम्बाकू का बहुत ही समृद्ध व्यापार था। एक विशेष प्रकार की सुंघनी का निर्माण करने के कारण इनका परिवार सुंघनी साहू के नाम से विख्यात था। उसमें जहां समृद्धि थी वहां औदार्य का भी अभाव न था। उनकी दुकान पर सुंघनी के साथ ही "साधु-सन्तों को कम्बल तथा रंगे हुये काठ के तुम्बे दिये जाते थे।'[4] इसके अतिरिक्त उनके घर में भी अनेक प्रकार के सदाव्रत चला करते थे। उनके दादा इतने उदार थे कि' सैंकड़ों का दान करना अपवाद की अपेक्षा

1. See, Personality : An experimental approach," Robert. W. Lundia, Page 5.
2. See, personality; an experimental approach, Robert, W Lundin, Page 5.
3. "personality is the dynamic organisation within the individual of those psychophysical systems that determine his unique adjustment to his environment,

   G. W. Allport, personality.
4. जयशंकर प्रसाद, जीवन दर्शन और कला, पृ० ७।

नित्य का नियम बन गया था।[1] इधर घर में कवियों, पंडितों, गवैयों, वैद्यों, यात्रियों तथा पहलवानों आदि के निरन्तर आगमन का क्रम चलता रहता था। अनेक कलाकारों को उनके यहां आश्रय और प्रोत्साहन प्राप्त होता था। इस प्रकार के परिवार में जन्म एवं प्रतिपालन के कारण उदारता, महत्ता, रसिकता, काव्य-प्रियता तथा स्वस्थ सौंदर्य आदि व्यक्तित्व के उपकरण उन्हें अनुवांशिक परम्परा से ही प्राप्त हो गए थे। उनकी माता धार्मिक प्रवृत्ति की अत्यन्त सरल हृदया गृहलक्ष्मी थीं। उनके ज्येष्ठ भ्राता शम्भूरत्न भी अत्यन्त सहज प्रकृति के निश्छल व्यक्ति थे जिनके स्नेह-साहचर्य से एक निश्छल संवेदनशील हृदय की प्राप्ति हुई।

प्रसाद जी को एक ओर यह रंग-बिरंगा वातावरण मिला। दूसरी ओर उनके यहां धर्म का कर्मठ, जटिल एवं अवरुद्ध दार्शनिक वातावरण भी छाया रहता था। अतः इस वातावरण का प्रभाव भी अवश्यम्भावी था। उनका कुल शैवानुगामी था। उनके परिवार की ओर से शिवालय में नित्य विधिवत् षोड्षोपचार सहित शिव पूजन होता था। इसके अतिरिक्त समय समय पर रुद्रीपाठ, हवन और ब्रह्मभोज होते थे। प्रतिवर्ष शिव रात्रि का महोत्सव मनाया जाता था जिसमें रात्रि-जागरण और नृत्य, संगीत आदि के कार्यक्रम होते थे। इनके कुल को शिव का परम इष्ट था। जयशंकर नाम इनकी शिव में अनुरक्ति का ही परिचायक है। उनकी सर्व-प्रथम रचना तथा चित्राधार में संकलित कतिपय कविताओं द्वारा उन पर शैवागम का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उन्होंने शैव-दर्शन का गहन अध्ययन किया था। शैव तत्त्व ज्ञान की आनन्द वृत्ति के कारण ही उनके जीवन में सतत् स्फूर्ति और उत्साह व्याप्त रहते थे। दुःख में, सुख में, समाज में, साहित्य में सर्वत्र आनन्द की साधना ही उनका लक्ष्य था। यह समरसता दार्शनिक या योगी की समरसता न होकर गृहस्थ की समरता थी जिसके द्वारा उन्होंने मानवता को एक व्यावहारिक आदर्श का सन्देश दिया था।[2] अपने समग्र काव्य में उन्होंने केवल एक स्थान पर ही कुछ नैराश्यपूर्ण पंक्तियां कही हैं जिनके कारण लोगों ने उन्हे पलायनवादी तक कह डाला है। उनकी वे पंक्तियां हैं-

ले चल वहां भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे।[3]

---

१. कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० १४।
२. कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० २१०।
३. लहर, पृ० १४ ।

शिक्षा-दीक्षा :

प्रसाद जी की स्कूली शिक्षा अधिक नहीं हुई। उनकी शिक्षा क्वींस कालेज में सप्तम श्रेणी तक ही हुई। बाद में गृह-कलह तथा मुकद्दमे बाजी आदि व्यवधानों के कारण विवश होकर उन्हें शिक्षा समाप्त कर देनी पड़ी। घर पर ही उन्हें हिन्दी, संस्कृत, उर्दू एवं अंग्रेजी की शिक्षा दी गई। श्री दीनबन्धु ब्रह्मचारी नामक एक सज्जन इन्हें संस्कृत और उपनिषद् पढ़ाते थे।[1] अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य से तो वे बहुत अधिक प्रभावित है। उनका 'प्रेमपथिक' मुक्त छन्द के मार्ग पर बढ़ने वाला प्रथम यात्री है जो निश्चय ही अंग्रेजी काव्य के प्रभाव का परिणाम है। संस्कृत का प्रभाव तो उनके काव्य एवं नाट्य साहित्य दोनों पर ही प्रभूत परिमाण में है। दर्शन में उनकी स्वाभाविक रुचि थी। उन्होंने वैदिक ग्रन्थों का स्वतः अध्ययन किया था। शिव दर्शन एवं वैदिक दर्शन का उनका मौलिक अध्ययन था। संस्कृति, इतिहास और पुरातत्व की ओर उनका विशेष आकर्षण था। उन्होंने उनका सूक्ष्म अध्ययन किया था, जो उनकी प्रायः सभी कृतियों से प्रकट होता है। बौद्ध दर्शन की करुणा प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य में परिव्याप्त है।

यात्राएं

कवि की कल्पना का निर्माण इस रूपात्मक जगत् के विभिन्न रूपों से ही होता है। इस रूपात्मक अवलोकन से ही यह नाना प्रकार के भावों एवं अनुभूतियों को ग्रहण करता है। अनुभूति और कल्पना के संयोग से ही काव्य का सृजन होता है। संवत् १९५७ में ग्याहरवें वर्ष के आरम्भ में उन्होंने अपनी माता के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, अयोध्या और ब्रज आदि प्राकृतिक सुषमा से समृद्ध स्थानों की यात्रा की। इस यात्रा में प्रकृति के उन्मुक्त सौंदर्य ने बालक प्रसाद के मनः पलट पर एक अमिट प्रभाव अंकित कर दिया। इसके कई वर्ष पश्चात् पुनः महोदधि, भुवनेश्वर एवं पुरी की यात्रा ने उनकी सुप्त अनुभूति को जाग्रत किया। भावुकता को प्रेरणा मिली और कल्पना के पंख फडफड़ाने लगे। प्रसाद जी का सम्पूर्ण काव्य इन यात्राओं के प्राकृतिक सौंदर्य के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से मण्डित है।

बाह्य व्यक्तित्व

सौन्दर्य के अमर चित्रकार प्रसाद को सामाजिक वैभव के साथ ही शारीरिक सौन्दर्य का वैभव भी पर्याप्त प्राप्त था। कामायनी के मनु के रूप में उन्होंने मानों स्वयं का ही चित्र अंकित किया है—

---

१. कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० २३ ।

अवयव की दृढ़ माँसपेशियां
अजेस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें संचार।[1]

अखाड़े में सधा हुआ परिपुष्ट गौर वर्ण वाला शरीर, पान की लालिमा से रंजित आत्मीय बना लेने वाली मुस्कान विकीर्ण करते हुये पतले पतले होठ, सदैव हंसते हुए रहने वाले विशाल नेत्र। यह था प्रसाद जी का वाह्य स्वरूप जो किसी को अपनी ओर अनायास ही आकर्षित करने के लिए पर्याप्त था। उनके व्यक्तित्व-निर्माण में सबसे अधिक प्रभावशाली थे उनके नेत्र। उनकी आंखों में एक जादू और एक रहस्य था। प्रसाद जी की आंखें उनके जीवन की कुंजी थी।[2] प्रसाद जी घर पर प्रायः खद्दर की धोती और कुर्ते मे रहा करते थे। परन्तु बाहर निकलने पर रेशमी कुर्ता, रेशमी गांधी टोपी, महीन खद्दर की धोती और रेशमी चादर या डुपट्टा, फुलस्ली पर जूते और एक घड़ी हाथ में रहती थी।[3]

अन्तः व्यक्तित्व

प्रसाद जी का व्यक्तित्व संश्लिष्ट कोटि का था। अतः उनके विचार अनुभूति और दर्शन सभी एक सूत्र में आबद्ध हैं। मौलिक चिन्तक होने के कारण नारी, प्रकृति-प्रेम, वेदना, राष्ट्र दर्शन एवं श्रद्धा, ईर्ष्या आदि विभिन्न भाव विषयक मान्यताएं उनकी अपनी है। कवि व्यक्तित्व का निकष व्यापकत्व होता है। वह लोक चेतना के रूपात्मक निरूपण में निहित रहता है। प्रसाद जी के वैयक्तिक व्यक्तित्व की पृष्ठ भूमि में उनका लोक जीवन ही है।

प्रसाद जी अपने जीवन में अत्यन्त संयमित, किन्तु स्वतंत्र प्रकृति के निश्छल पुरुष थे। मित्रों मे वे जितने खुले रहते थे, अपरिचितों से उतने ही शालीन और मितभाषी। यदि कहीं किसी वाद विवाद की सम्भावना देखते तो मौन ही रह जाते।[4] सामजिक जीवन में वह संकोची प्रवृत्ति के मानव थे। अपने परिवार और मित्र मण्डली के बाहर एक सार्वजनिक या सामाजिक व्यक्ति के रूप में प्रसाद जी कम ही आते थे[5] सभा-सोसाइटियों अथवा भाषण- व्याख्यानों से प्रसाद जी को

---

१. कामायनी पृ० ४
२. कवि प्रसाद की काव्य साधना पृ० २८५
३. नये साहित्य : नये प्रश्न पृ० १५३।
४. नया साहित्य नये प्रश्न, पृष्ठ १५४।
५. वही. ,, ,, ,,

वहुत कम रुचि थी। वहुत अनुरोध करने पर भी उन्होंने कभी भी किसी सभा का सभापतित्व स्वीकार नहीं किया।

संगीत में भी प्रसाद जी की अभिरुचि थी। शास्त्रीय संगीत पसन्द तो करते थे पर साथ ही संगीत में व्यर्थ की झांय-झांय को वह नापसन्द करते थे। उनका मत था कि मधुरता, भाव और एक तरह का दर्द, यही संगीत को आकर्षक वनाता है।[१] ऐसा लगता है कि प्रसाद जी स्वयं भी वहुत सुन्दर गाते थे। आचार्य वाजपेयी जी ने लिखा है– मैंने उन्हें नागरी प्रचारिणी सभा के वड़े समारोह में आंसू की पंक्तियों का सस्वर पाठ करते सुना। सारी सभा उनके कविता पाठ से मुग्ध हो गई थी।[२] उनके घर में भी सदैव संगीत मय वातावरण छाया रहता था, अतः उनके लिए संगीत का ज्ञान होना एक प्रकार से स्वाभाविक ही था।

प्रसाद जी जहां संगीत-मर्मज्ञ एवं कवि थे वहां उन्हें अच्छे खाने-पहनने का भी यथेष्ट शौक था।[3] कभी कभी पाक-शास्त्र पर वात छिड़ जाती थी तो प्रसाद जी पाक-दर्शन पर भी अपना खासा मन्तव्य देते थे।'[४] सादे वस्त्रों से भी वे वड़े ही आकर्षण पूर्ण ढंग से सज्जित होते थे। खान-पान में रुचि रखते हुए भी उन्हें पान के अतिरिक्त अन्य कोई व्यसन न था। पान की लालिमा सदैव उनके होठों पर छाई रहती थी।

प्रसाद जी पक्के सिद्धान्तवादी थे। अपने सिद्धान्तों की वलि उन्हें कदापि स्वीकार न थी। यही कारण है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से मत 'वैभिन्य होने के कारण उन्होंने सरस्वती में न लिख कर 'इन्द्व' में ही अपनी रचनाओं को प्रकाशित करवाया। सिद्धान्त पर अटल रहने के कारण ही वे सदैव अपने कर्तव्य के प्रति सचेत रहते थे। उनके सुपुत्र श्री रत्न शंकर ने उनकी जीवन-चर्चा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'वे अपने कर्तव्यों के प्रति, चाहे वे साहित्यिक हों अथवा व्यावसायिक, समान रूप से सचेष्ट थे। कुछ देर तक मसालों और सुर्तियों का काम करते-करते वे सहसा कलम पकड़ लेते और कामायनी की जिल्द में सहज ढंग से दस वीस छन्द ढल जाते…… ……लगभग आधी कामायनी और कितनी ही स्फुट कविताएं सुंघनी-साहू के सुर्ती के कारखाने में ही लिखी गई हैं।[५]'

---

१. प्रसाद का जीवन दर्शनःकला और कृतित्व पृष्ठ ३

२. नन्द दुलारे वाजपेयी, जयशंकर प्रसाद पृष्ठ २५

३. प्रसाद की याद, प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व, पृष्ठ ७

४. प्रसादजी के कुछ संस्मरण, प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व पृ० ४

५. प्रसाद का साहित्य पृ० २४

कर्तव्य निष्ठा के साथ ही उनका आत्म विश्वास भी अत्यधिक प्रबल था। हिन्दी-काव्य क्षेत्र में वे नवीन उपकरणों के साथ अवतरित हुए थे। द्विवेदी युगीन मान्यताओं ने उनका सत्कार नहीं किया। उनकी निरन्तर उपेक्षा की गई। फिर भी इन हलचलों और संघर्षों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे निर्द्वन्द्व भाव से साहित्य-सृजन में नित्य-निरत रहे।

प्रसाद जी के साहित्यकार का विकास बाल्यकाल से ही उनके कवि रूप से आरम्भ हुआ। प्रसाद जी सारस्वत कवि थे। डा० प्रेम शंकर ने उनके बाल्यकाल की एक घटना उद्धृत करते हुए कहा है कि अपने शैशव काल में उन्होंने अपने खिलौनों में से कलम को उठाकर अपने सारस्वत कवि का परिचय दिया।[1] बाल्यकाल से ही प्रसाद जी को साहित्यिक वातावरण मिला। उनके यहां बेनी-शिवदा आदि अनेक कवियों का आगमन होता रहता था। जिससे उनके घर में प्रायः समस्या पूर्ति और कविता पाठ के कार्य क्रम होते रहते थे। इन कार्यक्रमों में निरन्तर भाग लेने के कारण प्रारंभ में प्रसाद जी में भी स्वतः समस्या पूर्ति की प्रेरणा हुई। दी हुई समस्याओं पर वे प्रायः घर के लोगों के भय से उनसे छिपाकर तुक बंदियां जोड़ा करते थे।[2] उन्होंने अपनी सर्वप्रथम रचना ९ वर्ष की अवस्था में लिख कर दिखाई थी—

हारे सुरेस, रमेस, धनेस, गनेसहुं सेस न पावत पारे।
पारे हैं कोटिक पातकी पुंज, कलाकार ताहि छिनों लिखी तारे।

इस छन्द की रचना करके उन्होंने अपने गुरु रसमय सिद्ध को दिखा कर उनसे अपने महाकवि बनने का आशीर्वाद प्राप्त किया। कई बार कवि गोष्ठियों में उन्होंने तत्क्षण ही समस्या पूर्ति कर के अपने आशुकवित्व का परिचय दिया। अपने साहित्यिक जीवन में प्रसाद जी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से तत्कालीन साहित्यकारों से अवश्य परिचित थे। कुछ तो उनके अंतरंग मित्र थे। कुछ उनके घर यदा-कदा आते थे। कतिपय साहित्यकारों उनका नागरी प्रचारिणी सभा के कारण परिचय हो गया था।' उनकी साहित्यिक मित्र मण्डली में सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, श्रीमती महादेवी वर्मा, प्रेमचन्द, केशव, प्रसाद मिश्र बालकृष्णशर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भगवान दीन, हरिऔध जी, केदारनाथ पाठक, विनोद शंकर व्यास, रूपनारायण पाण्डेय, शिवपूजन सहाय, गोविन्द वल्लभ पंत, बेचन शर्मा तथा लक्ष्मीनारायण पाठक आदि थे। इन सभी युग के प्रतिनिधि

---

१. डा० प्रेम शंकर, प्रसाद का काव्य, पृ० २३
२. कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० १४

साहित्यकारों एवं कवियों से प्रसाद जी विचार विनिमय करते रहते थे।"[1] सर्व श्री रामनाथ' सुमन तथा रामकृष्ण दास के लेखों से भी यह प्रतीत होता है कि ये भी प्रसाद जी के अन्तरंग मित्रों में से थे।

प्रारंभिक काल में प्रसाद जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में कालीदास, भास, आदि संस्कृत कवियों का बहुत प्रभाव पड़ा है। इन कवियों के काव्यानुशीलन से ही उनके काव्य में कथा-तत्व का प्रवेश हुआ। वैदिक साहित्य में वर्णित उषा के सौन्दर्य ने इन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। उसी सौन्दर्य से अनुप्राणित होकर उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य से विभूषित कविताओं की रचना की। उनका यही काव्य-सौन्दर्य विकसित होता हुआ कामायनी में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा है। हिन्दी कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी में उनकी विशेष श्रद्धा थी। गोस्वामी जी का मर्यादाभाव उन्हें बहुत प्रिय था। इस मर्यादाभाव से अनुप्राणित होने के कारण ही उन के काव्य में शृंगार को सर्वत्र ही रीतिकाल के पंक से रहित सात्विक स्वरूप प्राप्त हुआ है। उनकी 'लहर' का सौन्दर्य परिष्कृत सौन्दर्य है। उनकी इसी मर्यादा-प्रियता के कारण ही उनके काव्य में नारी का उदात्त स्वरूप, शृंगार का सात्विक रूप, नवीन सौन्दर्य-चेतना और मानवीयता आदि के तत्त्व विद्यमान हैं।

प्रसाद जी अपने काव्य क्षेत्र में प्रारम्भ से ही स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे। यही कारण है कि उन्होंने द्विवेदी युगीन नीरसता, स्थूलता, इतिवृत्तात्मकता और रीतिकालीन ब्रज भाषा की घोर शृंगारात्मक कविताओं के विरुद्ध अपने स्वच्छन्दतावादी काव्य का सृजन किया। इनके काव्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के कारण ही वैयक्तिक तत्त्व की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। आंसू में कवि का वैयक्तिक पक्ष पूर्ण रूपेण प्रकट हुआ है। आंग्ल कवियों में वे शैली, कीट्स, वूड्सवर्थ और गेटे से अधिक प्रभावित थे। विश्व कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव उनके सौन्दर्य-दर्शन पर विशेष रूप से पड़ा है।

वस्तुत: सच्चे कवि के व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि वह पंक कमल न्याय से अपने चारों ओर के वातावरण में नित्य निमग्न रहते हुए भी उससे सर्वथा असम्पृक्त रहे और संसार को अपनी दिव्य सौन्दर्य सृष्टि का आनन्द प्रदान करे। प्रसाद जी का ऐसा ही व्यक्तित्व था। अपने जीवन में उन्हें निरन्तर एक के अनन्तर एक वेदना के गरल का अनुपान करना पड़ा। उनके जीवनाकाश में सदैव ही घनीभूत पीड़ा के घन छाए रहे। अल्पावस्था में अपने माता-पिता और किशोरावस्था में ज्येष्ठ भ्राता से वंचित हो गये। अपनी भाभी के अनुरोध से उन्हें विवाह भी करना पड़ा, परन्तु दैव की कुदृष्टि के कारण प्रथम एवं द्वितीय दोनों ही पत्नियों की मृत्यु के

१. कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ ६-७

पश्चात् तृतीय भार्या भी उन्हें जीवन पर्यन्त सहयोग न दे सकी। वह भी उन्हें अकेला ही वेदना के कोहरे में आवृत कर परमधाम को चली गई। इधर आर्थिक आधार भी डगमगा गया था। जीवन के इस संघर्ष के कारण उनके काव्य में वेदना एवं नियतिवाद का समावेश तो अवश्य है, किन्तु उन्होंने हिन्दी भारती के मन्दिर में उसकी शुद्ध साहित्यिक रचनाओं से ही नित्य अर्चना की। अपने अन्त समय में प्रसाद जी राजयक्ष्मा जैसे विकट रोग से पीड़ित थे। किन्तु उनके सम्पूर्ण साहित्य में ऐसे किसी भी प्रकार के उत्पतन का एक भी चिन्ह्य उपलब्ध नहीं होता।

आचार्य वाजपेयी ने उनके व्यक्तित्व का एक चित्र खींचा है—'जो कोई किसी की आशा करता है, वह अपने साथ प्रवंचना करता है। जो अपनी कृति पर अविश्वास करेगा, वही अपनी कीर्ति चाहेगा जो अपनी करनी से प्रसन्न नहीं है संसार में उसे कभी प्रसन्नता नसीब नहीं होगी। प्रसाद में यही पूरा बनारसी रंग था।'[१]

(अ) कृतित्व

प्रसाद जी की प्रखर प्रतिभा की कान्ति से हिन्दी साहित्य का कोना-कोना देदीप्यमान है। कविता, नाटक, निबन्ध, कहानी और उपन्यास, साहित्य की जिस किसी भी विधा ने उनकी पारस प्रतिभा का स्पर्श किया, वही अपनी स्वर्ण कान्ति से दीप्तिमान हो उठी। यदि सौभाग्य से उन्हें कुछ वर्ष और साहित्य सेवा का अवसर मिलता तो बहुत सम्भव था कि वे आलोचना क्षेत्र में भी अपना आलोक फैला जाते और हिन्दी की कतिपय अन्य काव्य-रत्न भी प्राप्त होते। काव्य के क्षेत्र में छायावाद की अवतारणा करने वाले प्रसाद जी ही थे। हिन्दी कथा-क्षेत्र में वे नवीन शैली के प्रवर्तक थे। हिन्दी नाट्य साहित्य को उन्होंने अपने अनेक मौलिक ऐतिहासिक नाटकों से समृद्ध बनाया। उनके नाटकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति का वैभव अपने चरम रूप में प्रतिविम्बित है। कंकाल, तितली और इरावती (अपूर्ण) उनके उपन्यास हैं। उनसे पूर्व हिन्दी साहित्य में केवल प्रेमचन्द ही मौलिक उपन्यासों की रचना कर रहे थे। प्रसाद जी ने अपने कंकाल और तितली में सामाजिक कुरूतियों को अपना लक्ष्य बनाया है। 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' की रचना करके उन्होंने संस्कृत साहित्य चम्पू काव्य परम्परा में योग दिया। उनकी 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध 'शीर्षक कृति तथा इन्दु' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित अन्य रचनाएं उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा की परिचायिका हैं। अपनी इसी बहुमुखी प्रतिभा के कारण वे हिन्दी साहित्य के रवीन्द्र कहलाते हैं।

---

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, जयशंकर प्रसाद, पृ० १९

प्रसाद जी का साहित्यिक जीवन कवि रूप से प्रारम्भ हुआ था। नौ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने एक छन्द की रचना करके अपने गुरु रसमय सिद्ध को दिखाया था। तभी से क्रमशः समस्या पूर्ति करते हुए उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा का विकास किया। उनके काव्य का प्रस्फुटन रीतिकालीन प्रवृत्तियों के मध्य हुआ जो द्विवेदी कालीन झंझावातों का सामना करता हुआ छायावाद काल में विकसित होकर अपना सम्पूर्ण सौरभ विकीर्ण कर हिन्दी साहित्य में अमर हो गया। काव्य क्षेत्र में पदार्पण करने के साथ ही प्रसाद जी ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी कविता के उद्धार का किया। रीतिकालीन कलुपित शृङ्गारिकता की शृंखलाओं में जकड़ी कविता-कामिनी सिसक रही थी। शृंगार के नाम पर नारी का स्थूल और उत्तेजक वर्णन किया जाता था। भावों के स्थान पर विकृत वासना ही शेष रह गई थी। प्रसाद जी ने उसे उद्याम शृङ्गार की शृंखलाओं से मुक्त कर उसका पवित्र शृङ्गार किया। उन्होंने कविता कामिनी का ऐसे नवीन भावों से अभिषेक किया जिसमें वासना की गन्ध तक न थी। इधर द्विवेदी जी के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में प्रसाद के समय में ही रीतिकालीन शृङ्गार के विरुद्ध उसके पूर्ण बहिष्कार का स्वर गूंज रहा था। शृंगार के बहिष्कार के कारण कविता इतिवृत्तात्मक एवं नीरस होती जा रही थी एक ओर अत्यधिक शृङ्गारिकता के कारण और दूसरी ओर उसके पूर्ण बहिष्कार के कारण दोनों ही रूपों में कविता जीवन से विलग हो गई थी। जीवन से असबद्ध होने के कारण तत्कालीन कविता उस चित्र के समान थी जिसकी बाह्य-रूप-रेखा मात्र तो स्पष्ट है किन्तु अभीष्ट रंगों के प्रयोग के अभाव में उसमें दृष्टि एवं मन को आकर्षित करने की क्षमता नहीं है। प्रसाद जी ने कविता का परिष्कृत शृङ्गार करके उसे स्वस्थ्य, वास्तविक, दृढ़ एवं उच्च जीवन भूमि पर प्रतिस्थापित किया।

काव्य क्षेत्र में जहां एक ओर प्रसाद जी ने जागरण के गीत गाये, वहां साथ ही उसमें नवीन प्रयोगों के अग्रदूत भी बने। हिन्दी में सोनेट काव्य (चतुष्पदी-अंग्रेजी कविता) का प्रचलन उन्हीं ने किया। उन्होंने ही सर्व प्रथम हिन्दी साहित्य में मुक्त छन्द की अवतारणा और गीतिनाट्य का समारम्भ किया।

प्रसाद जी के समस्त काव्य का विकास प्रकृति के सहयोग से हुआ है। उसमें चित्राधार से कानन कुसुम तक प्रकृति के विभिन्न रूप द्रष्टव्य हैं। किन्तु प्रकृति के प्रेमी होने पर भी उनके काव्य में प्रकृति की कोई स्वतन्त्रता सत्ता नहीं है। उसमें मानवीय भावों के अनुरूप ही प्रकृति के सुख-दुख के प्रतिबिम्ब परिलक्षित होते है। वह सुख के समय हंसती हैं, नवीन परिधान धारण करती है। और दुःख और वियोग के समय रोती, तड़पती एवं सिसकती हैं।

देखिए—

लहरों में यह क्रीड़ा चंचल
सागर का उद्वेलित अंचल
है पोंछ रहा आंखें छलछल
किसने ये चोट लगाई है ?[१]
जहां सांझ सी जीवन छाया
ढाले अपनी कोमल काया
नील नयन से ढ़लकाती हो
ताराओं की भांति घनी रे।[२]

प्रसाद काव्य की पृष्ठभूमि अतीत के वैभव एवं विलास के पर्याप्त चित्रों से सुसज्जित है। कवि सदैव अतीतकालीन वैभव की स्मृति के घेरे में घिरा रहता है। आंसू एवं कामायनी में देव सभ्यता के अंतर्गत वैभव और विलास के क्रीड़ामय चित्र द्रष्टव्य हैं–

कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतों में
स्वर लय का होता अभिसार[३]।

इसी प्रकार आंसू के कवि का विलास भी कुछ कम नहीं है—

'मेरे जीवन की उलझन
बिखरी थी उनकी अलकें
पीली मधु मदिरा किसने,
थी बन्द हमारी पलकें[४]।'

प्रसाद जी के काव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन अवश्य हुआ है, किन्तु उसमें कारुण्य के विस्तार का अभाव है। वियोग–व्यथा में ऐसा कारुण्य नहीं है जो अपना सर्वस्व खो जाने पर उत्पन्न होता है। इस वियोग में प्रिय के अभाव के कारण संसार के प्रति शून्यता का अभाव नहीं है। रुदन भी राजसी-रुदन है। वियुक्त प्रेमी प्रियतम की याद में ही नहीं रोता वरन् वैभव से परिपूर्ण विगत मिलन की स्मृति में भी रोता है–

---

१. प्रसाद, लहर, पृ० २०।
२. प्रसाद, लहर, पृ० १४
३. प्रसाद, कामायनी, पृ० ११
४. प्रसाद, आंसू, पृ० २५

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा[1]।

प्रसाद जी के काव्य की मुख्य प्रवृत्ति सौंदर्य एवं प्रेम है। उनके सम्पूर्ण काव्य में कवि की सौंदर्य-चेतना परिव्याप्त है। सौंदर्य को उन्होंने शारीरिक एवं लौकिक स्तर से उठाकर सात्विक-आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया है।

समय और रचना प्रणाली के आधार पर प्रसाद की काव्य कृतियों का विकासात्मक अध्ययन करने के लिए उसके चारवर्ग किए जा सकते है

(१) प्रथम चरण (सन् १९०६ ई०-१९१० ई० तक)—इसमें चित्राधार में संकलित सन् १९१० ई० तक की सम्पूर्ण कृतियां हैं।

(२) द्वितीय चरण (सन् १९१० ई० से १९२२ ई० तक)—इसमें कानन कुसुम से लेकर झरना तक की कृतियां हैं। खड़ी बोली के क्षेत्र में यहां प्रसाद जी ने अपने विभिन्न प्रयोग किये हैं और इन प्रयोगों के पश्चात् उन्होंने अपना निर्दिष्ट मार्ग प्राप्त किया है। अतः इसे प्रयोगात्मक काल भी कह सकते हैं।

(३) तृतीय चरण सन् (१९२३-१९२९)—तृतीय चरण तक आते आते कवि की रचनाओं में प्रौढ़ता के दर्शन होने लगते हैं। इनमें आंसू और लहर जैसी कृतियां हैं। इसे प्रौढ़ काल भी कहा जा सकता है।

(४) चतुर्थ चरण तथा अन्तिम चरण (सन् १९२९ ई० से १९३७ ई०)—इस चरण में कामायनी जैसी प्रौढ़तम कृति का सृजन हुआ है।

कतिपय विद्वानों ने इनके काव्य को दो वर्गों में विभाजित किया है।

(१) प्रारम्भिक प्रयोगात्मक काव्य (सन् १९०६ ई० से १९२५ ई० तक)

(२) प्रौढ़ काव्य (सन् १९२६ ई० से १९३७ ई० तक)

वस्तुत: दोनों प्रकार के वर्गीकरणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, केवल वर्ग विभाजन की संख्या में अन्तर कर दिया गया है।

---

१. प्रसाद, आंसू, पृष्ठ १२।

चित्राधार–

खड़ी बोली के अन्यतम कवि प्रसाद जी ने व्रज भाषा का हाथ पकड़ कर काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रसाद जी जिस युग में काव्य क्षेत्र में अवतरित हुए थे वह हिन्दी साहित्य का द्विवेदी युग था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा के विषय में व्रज भाषा के विरुद्ध एक नवीन क्रांति का सूत्रपात किया। हिन्दी साहित्य में उनके रीतिकालीन शृङ्गार के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक आदर्शों का नाश गूंज रहा था। फिर भी अभी कवियों के एक वर्ग पर, जो व्रज भाषा में रीतिकालीन परम्परा में ही काव्य-रचना करना श्रेयस्कर समझता था, भारतेन्द्रकालीन प्रभाव अवशिष्ट था। इन कवियों की सम्मेलनस्थली काशी थी। उन्होंने शृंङ्गार रस से परिपूर्ण समस्या पूर्ति वाली काव्य-परम्परा को जो रीतिकाल से भारतेन्दु काल तक निरन्तर प्रवाहित होती आ रही थी, फलत: प्रसाद जी के सम्मुख व्रजभाषा काव्य का माधुर्य अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित था। शैशव में भी उन्होंने रीतिकालीन कवियों की सरल कविताओं का आस्वादन किया था। अतः अपने कवि-जीवन के आरम्भ में उन्होंने व्रज भाषा वाली रीतिकालीन शैली को ही अपनाया।

चित्राधार प्रसाद जी की व्रजभाषा की कविताओं का संग्रह है। इसके प्रथम संस्करण (१९७५ ई०) में व्रज भाषा एवं खड़ी बोली दोनों ही रचनाएं संग्रहीत हैं किन्तु द्वितीय संस्करण (१९८५ वि०) में केवल व्रजभाषा की ही रचनाओं का ही संकलन है। चित्राधार की व्रजभाषा की कविताओं पर रीतिकालीन प्रभाव होते हुए भी भाव पक्ष में उनकी नूतनता दर्शनीय हैं। परम्पराओं के प्रति कवि का मोह होते हुए भी यहां उसकी हृदय वृत्ति ही प्रधान है। भावों की सूक्ष्मता, शैली की गीतात्मकता तथा अभिव्यक्ति की नवीनता के दर्शन प्रसाद जी की इन आरंभिक कविताओं में ही हो जाते हैं। हां, विषय की दृष्टि से इनमें मौलिकता नहीं है। माधुर्य भाव के अन्तर्गत इनमें मुख्यतः मुक्ति, प्रणय तथा प्रकृतिक विषयक कविताएं हैं। चित्राधार की कविताओं में भी प्रकृति एवं सौंदर्य के प्रति कवि का सहज आकर्षण स्पष्ट परिलक्षित होता। प्रकृति के प्रति उनमें एक जिज्ञासा का भाव है। उसके प्रत्येक उपकरण में वे उसके विराट स्वरूप का दर्शन करते हैं किन्तु इससे उन्हें परितुष्टि नहीं होती अपितु उपनिषदों के अध्ययन के कारण उसके प्रति एक जिज्ञासा ही बनी रहती है। इसी जिज्ञासा की भावना का उनके काव्य में क्रमशः विकास हुआ हैं।

चित्राधार की रचनाओं को स्थूल रूप से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं-(कालिदास से प्रभावित आख्यानमूलक काव्य-(ख) पराग एवं मकरंद शीर्षकों के अन्तर्गत संगृहीत मुक्तिपूरक एवं स्फुट कविताएं हैं (ग) चम्पू काव्य।

(क) आस्थानमूलक कविताएं

आस्थानमूलक कविताओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इन कवितायों के सृजन की प्रेरणा कवि को वाल्मीकि, कालिदास, एवं तुलसी आदि कवियों से प्राप्त हुई है। चित्राधार में कवि की तीन आस्थानमूलक कविताएं—(१) अयोध्या का उद्धार (२) वन मिलन (३) प्रेमराज्य हैं।

(१) अयोध्या का उद्धार

'अयोध्या का उद्धार' का कथानक रघुवंश के सोलहवें सर्ग पर आधारित है। संक्षेप में इसकी कथा इस प्रकार है—महाराजा रामचन्द्र के पश्चात् कुश को कुशावती और लव को श्रावस्ती आदि प्रदेश प्राप्त हुए। अयोध्या का राज्य छिन्न भिन्न हो गया। एक दिन महाराज कुश को स्वप्न में अयोध्या की राज्य श्री के दर्शन हुए जिसमें उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों कोई सुकंठी गाती हुई वीणा बजा रही है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह अयोध्या की राज्यश्री है। इसके अनन्तर वह (अयोध्या की राज्यश्री) रघुवंश की अनेक प्रशस्तियां गाती है और कुश के प्रश्न करने पर अपनी करुण कथा सुनाती है। उस समय नागवंश का राजा कुमुद अयोध्या पर शासन कर रहा था। उसकी नृशंसता से पीड़ित होकर ही वह कुश को अपने उद्धार के लिए प्रेरित करती है—'मैं अयोध्या की राज्यश्री हूँ, उसे शासन हीन पाकर नागवंशीय कुमुद ने हस्तगत कर लिया है। हे तात ! तुम उसका उद्धार करो।' प्रातःकाल होते ही कुश उसके उद्धार में तत्पर होते हैं। कुश तथा कुमुद में युद्ध होता है जिसमें कुमुद पराजित होता है और कुश को परम सुन्दरी कुमुदनी एवं अनेक बहुमूल्य रत्न आभूषण प्रदान करता है। कुश तथा कुमुदनी परिणय–सूत्र में बन्ध जाते हैं।

सम्भवतः यह प्रसाद जी की प्रथम प्रबन्धात्मक कविता है। यही कारण है कि इसमें स्थान-स्थान पर छन्द परिवर्तन हुआ है। कालिदास से अनुप्राणित होते हुए भी कथा-विन्यास में मौलिकता है। अयोध्या की नगर देवी के वर्णन तथा ग्रीष्म के चित्रण में कालिदास के समान विशद कल्पना एवं सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय मिलता है। जलक्रीड़ा के समय रानियों के सौन्दर्य—चित्रण में कवि ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का अद्भुत परिचय दिया है। इस कविता में ब्रज भाषा का सौन्दर्य अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रतिष्ठित है। आरम्भ में ही कुशावती का सजीव चित्र उपस्थित हुआ है—

नवल तमाल कल कुंज सों घने।
सरित तीर अति रम्य हैं बने॥

अरध रैनि महं भाजि भावति ।
लसत चारु नगरी कुसावती ।[1]

इसी कृति में व्रज भाषा का खड़ी बोली की ओर विकसित होता हुआ नवीन रूप भी दृष्टिगत होता है—

युग याम व्यतीत यामिनी,
बहुतारा किरणालि मालिनी ।
निज शान्ति सुराज्य थापि के,
शशि की आज बनी जु भामिनी ।[2]

(२) वन मिलन—

यह प्रसादजी का द्वितीय आस्थानमूलक काव्य है। इसके सृजन की प्रेरणा प्रसादजी को कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से मिली। इसका आरम्भ अभिज्ञान शाकुन्तल के अन्त से होता है। अतः यह शाकुन्तल का उपसंहार सा प्रतीत होता है।

कण्व के आश्रम में अनसूया एवं प्रियंवदा शकुन्तला के लिए उद्विग्न हैं। गौतमी ने हस्तिनापुर से आकर शकुन्तला परित्याग का वृतान्त उन्हें नहीं बताया था। इसीलिए दोनों ही सखियां इस बात से खिन्न हैं कि शकुन्तला ने राजरानी बनकर उन्हें विस्मृत कर दिया है। बहुत दिनों के पश्चात् कश्यप ऋषि के शिष्य गालव ने कण्व के आश्रम में यह सूचना दी कि शकुन्तला और भरत सहित महाराज दुष्यन्त मरीचि के आश्रम से यहां पधार रहे हैं। यहीं शकुन्तला, प्रियम्वदा, अनसूया एवं मेनका का संयोग होता है और मालिनी की तरंगमालाएं मंगल गान गाने लगती है।

कविता का प्रवाह कालिदास की शैली के अनुरुप है। कवि द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता के नीरस प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं रह पाया है। अतः भाव पक्ष की अपेक्षा बुद्धिपक्ष प्रधान हो उठा है। प्रकृति वर्णन अधिक रम्य एवं संवेद्य नही हो सका है। व्रजभाषा तत्सम प्रधान होकर अपना नैसर्गिक स्वरूप खो बैठी है। क्रियापदों के अतिरिक्त समस्त पदावली में व्रजभाषा का स्वाभाविक माधुर्य नहीं है। प्रारम्भ में ही हिमालय के सौन्दर्य का वर्णन है—

अरुण विभा विलसित हिम-शृंग मुकुटवर छाजत ।
मालिनी मन्द प्रवाह सुखद-सुदुकूल विराजत ॥

---

१. प्रसाद, चित्राधार
२. वही, ,,

तरगन राजि कतहुं-परकत-हारावलि लाजे ।
सांचहुँ भूधरनृपति समान हिमालय राजे ॥[1]

अनसूया एवं प्रियम्वदा का सात्विक सौन्दर्य भी दर्शनीय है—

वल्कल वसन विभुषित अंग मृगन की माला ।
कर्णिकार को कर्नफूल किसलय विसाला
कुंदवली-सों कलित केश-अवली मन राजत
चम्पक-कलिका-हार मुरुचि गल-बीच विराजत
सुन्दर सहज सुभाव वदन पर मुनि मन मोहैं ।
अधी विमल चितौन मृगन से नैन लजो हैं ॥
जेहि पवित्र मुख भाव लखे सब ही सुर नारी ।
निज विलोल नव हास विलासहि करती वारी ॥[2]

(३) प्रेमराज्य

चित्राधार में संकलित प्रेम राज्य उनकी तृतीय प्रबन्धात्मक कविता है। इसकी आधारशिला ऐतिहासिक है। इसमें वीर एवं शृंगार रस का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। सन् १५६४ में विजयनगर और टालिकोट के युद्ध से इसके कथा सूत्र प्राप्त कर के कवि ने अपनी कल्पना के सहयोग से प्रेमराज्य का सृजन किया है। इसके कथानक को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पूर्वार्द्ध एवं उतरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में विजयनगर के हिन्दु राजा सूर्यकेतु और बहमनी वंशी यवन राजाओं के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। मंत्री के विश्वासघात के कारण सूर्यकेतु की पराजय होती है। वे युद्ध में जाने से पूर्व अपने एकमात्र पुत्र चन्द्रकेतु को एक भील सरदार को सौंप जाते हैं। यह कुमार को लेकर हिमालय की तराई में चला जाता है। किन्तु अन्ततः मन्त्री को भी कोई लाभ नहीं होता। वह स्वयं भी अपनी इकलौती कन्या ललिता सहित तपस्वी जीवन व्यतीत करने को निकल पड़ता है। उतरार्द्ध में चन्द्रकेतु एवं ललिता की शृंगार रस प्रधान प्रणय-कथा है। यही प्रेम और परिणय का 'प्रेमराज्य' है। इसमें प्रसादजी ने बीच-बीच में देश-प्रेम, राष्ट्रोत्थान तथा युद्ध-विरोध सम्बन्धी अपने विचार भी प्रकट किए हैं। अन्त में सम्पूर्ण लौकिक कथा लौकिक धरातल से ऊपर उठकर आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित हो पर्यवसित हो जाती है। उत्तरार्द्ध में शिव के विश्वम्भर स्वरूप का वर्णन है जो प्रसादजी पर शैव दर्शन के प्रभूत प्रभाव का परिचय देता है।

---

१. वन मिलन, पृष्ठ ६३
२. वन मिलन, पृष्ठ ६४

इसमें कवि की सौन्दर्यवृत्ति का भी अच्छा परिचय मिलता है। उतरार्द्ध की समस्त कथा की अवतारणा प्रकृति की रम्य रंगस्थली पर हुई है जिससे उसमें स्वाभाविकता की वृद्धि हुई है क्यों कि प्रेम और सौन्दर्य का स्वच्छन्द विकास प्रकृति के क्रोड़ में ही स्वाभाविक रूप से हो सकता है। परियल से प्रेरित प्रभंजन इधर-उधर विचरण कर रहा है। इसी अवसर पर वाला का प्रवेश होता है। वाला के अंग–अंग सौन्दर्य श्री से परिपूरित है। ललिता के सौन्दर्य वर्णन में प्रसादजी की नवीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

(ख) स्फुट कविताएं

उक्त आख्यानक काव्यों के अतिरिक्त चित्राधार में पराग एवं मकरन्द विन्दु शीर्षकों के अंतर्गत कुछ स्फुट कविताएं संकलित हैं। पराग शीर्षक के अंतर्गत अष्टमूर्ति, 'विनय' एवं 'विभो' भक्ति एव विनय संबन्धी कविताएं हैं और शारदीय महापूजन 'स्तोत्रात्मक कविता है। इनके अतिरिक्त उसमें शारदीय शोभा, रसाल मंजरी, रसाल, वर्षानदी में कूल, उद्यानलता, प्रभातकुसुम नीरद, शरद्-पूर्णिमा, संध्यातारा, चन्द्रोदय तथा इन्द्रधनुष आदि प्रकृति मूलक कविताएं हैं और नीरवप्रेम, विस्तृत प्रेम तथा विसर्जन आदि प्रेम संबन्धी कविताएं हैं। ये कविताएं कवि का प्रारम्भिक प्रयास हैं और विषय के अतिरिक्त प्रायः सभी रीतिकालीन व्रज॰ भाषा काव्य से प्रभावित हैं। साथ ही वे द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मक प्रभाव से भी सर्वथा असम्पृक्त नहीं हैं। इनमें प्रकृतिमूलक कविताओं की प्रेरणा कवि को अमरकण्टक तथा महोदधि आदि यात्राओं से मिली थी। यहां प्रकृति के प्रति कवि की भावना जिज्ञासा पूर्ण ही है, परवर्ती रचनाओं की भांति वह उससे पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाया है, केवल दर्शक मात्र ही रह गया है। अतः ये कविताएं विषय वर्णन प्रधान हो गई हैं। कवि की मधुवृत्ति का परिचय इन्हीं कविताओं से मिल जाता है। इनमें प्रायः प्रकृति के मनोरम पक्षों का ही उद्घाटन हुआ हैं। द्विवेदी युग की श्रृंगार वहिष्कारक प्रवृत्ति को प्रसाद की ये प्रेममूलक कविताएं एक चुनौती हैं। उन्होंने इनमें स्वस्थ श्रृंगार का प्रतिपादन किया है। भक्ति परक कविताओं में ईश्वर के सौन्दर्य तथा उसकी महत्ता एवं विश्वव्यापकता आदि का वर्णन है। साथ ही उनमें विश्व कल्याण की कामना भी निहित है। किन्तु भक्त कवियों के समान दैन्य एवं लघुत्व की भावना यहां परिलक्षित नहीं होती। वस्तुतः कवि भक्त हृदय नहीं हैं। उसकी प्रमुखवृत्ति सौन्दर्य एवं प्रेम ही है।

मकरन्द शीर्षक के अन्तर्गत कवित्त, सवैया एवं पद शैली पर रचित पूर्ण रूपेण मुक्तक रचनाएं हैं। इनका विषय भी वहीं ईश प्रेम और प्रकृति है। इनमें रीतिकालीन समस्यापूर्ति जैसी कविताओं की प्रतीति होती है। संक्षेप में चित्राधार

की पराग एवं मकरन्द बिन्दु की रचनाओं में ब्रजभाषा में ही छायावाद के प्रारंभिक सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं। इनमें अभिव्यंजना प्रणाली सरल है, पर रीतिकालीन अलंकारों का मोह भी अल्प नहीं है।

(ग) चम्पू–काव्य

चित्राधार में उर्वशी एवं बभ्रुवाहन नामक दो चम्पूकाव्य संकलित हैं। इन कृतियों की रचना की प्रेरणा प्रसाद जी को तत्सम्बन्धी आख्यानों तथा प्राचीन पौराणिक कथाओं से मिली है। इनमें भी प्रसाद जी ने प्रकृति के बड़े ही मनोरम एवं आकर्षक चित्र प्रस्तुत किये हैं।

कानन कुसुम–

कानन कुसुम प्रसाद जी का खड़ी बोली का सर्व प्रथम कविता संग्रह है। उसके प्रथम संस्करण (१९१३) से पूर्व उसके ये कुसुम चित्राधार में अपना सौरभ विकीर्ण कर चुके थे। इनमें कवि की चित्राधार की अर्धप्रस्फुटित जिज्ञासा का और अधिक विकास हुआ है। इसकी प्रारम्भिक कविता में ही कवि ईश्वर को सम्बोधित करते हुए कहता है 'स्वच्छन्द राकेन्द्र की विशाल रश्मियां तेरे देदीप्यमान मुख-चन्द्र के प्रकाश की ओर इंगित करती हैं। अनन्त अम्बुधि तेरी दया का प्रसार प्रदर्शित करता है। तरंग मालाएं तेरी प्रशंसा के गीत गाती हैं। चन्द्रिका तुम्हारी स्मित का दिग्दर्शन कराती है। सरिताएं तुम्हारे हास्य की ध्वनि की ओर इंगित करती हुई अपना कल-कल निनाद करती चली जाती है। 'यहां कवि में प्रकृति के पीछे पुरुष की भावना आ गई है। इस संकलन में यदि एक ओर पुरानी रीति-कालीन परिपाटी की कविताएं हैं तो दूसरी ओर मौलिक एवं नवीन विषयों पर लिखी गई प्रभूत रचनाएं भी विषय की दृष्टि से इनमें कुछ भक्ति तथा विनयमूलक कुछ प्रकृति सम्बन्धी, कतिपय सामयिक, रहस्यात्मक एवं कथात्मक, कतिपय प्रगति-मूलक और कतिपय अन्तः प्रकृति निरूपिणी कविताएं हैं।

भक्ति और विनयमूलक कविताओं के अन्तर्गत 'वन्दना', 'करुण क्रन्दन', 'नमस्कार करुणा कुंज', 'भक्तियोग,' 'विनय', 'तुम्हारा स्मरण', 'याचना,' 'प्रियतम', 'मोहन', आदि कविताएं हैं। ये ईश्वर विषयक कविताएं आत्मपरक हैं। कवि युग की प्रवृत्ति के अनुसार समाज और जाति की कल्याण कामना नहीं करता। इन कविताओं में तो कवि के आत्मबोध का ही विस्तार दृष्टिगत होता है।

प्रकृति विषयक कविताओं के अन्तर्गत 'सरोज', 'नव वसन्त', 'ग्रीष्म का मध्याह्न', 'जलद आवाहन', 'रजनीगंधा', 'कोकिल', 'एकान्त में', 'निशीथ', 'दलित कुमुदिनी', तथा 'खंजन' आदि कविताएं आती हैं। प्रकृति-सौन्दर्य से प्रसाद जी प्रारम्भ से ही अभिभूत हैं, किन्तु उसके चित्र उन्होंने मानव भावनाओं की

सापेक्षता मे ही अंकित किए हैं। प्रकृति के साहचर्य के अभाव के कारण प्रसाद जी कालिदास, पंत तथा वर्ड्सवर्थ की भांति प्रकृति के बाह्य स्वरूप का चित्रण अधिक नहीं कर पाए। फिर भी कवि की प्रकृति निरीक्षण में रुचि है। जड़ प्रकृति में भी कवि ने मानव व्यापारों की कल्पना करके उस पर चेतना का आरोप किया है। कहीं उसने प्रकृति से उपदेश ग्रहण किया है और कहीं उसके माध्यम से रहस्यात्मक भावों की अभिव्यक्ति की है। कवि ने यहां प्रकृति को प्रतीक रूप में भी प्रयुक्त करने की चेष्टा की है परन्तु इस दृष्टि से अभी उसकी प्रतिमा अविकसितावस्था में है।

सामाजिक कविताओं में मन्दिर, श्रीकृष्ण जयन्ती आदि रचनाएं उल्लेखनीय हैं। 'ठहरो' आदि कविताओं में कवि ने सामयिक समस्याओं के प्रति अपनी जागरुकता का परिचय दिया है। इन्हीं कविताओं में उसका मानवतावादी दृष्टिकोण भी प्रकट हुआ है। धर्मनीति तथा गान इत्यादि कविताओं में धर्म, देश और समाज के प्रति उसके प्रगतिवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ है।

चित्रकूट, भरत, शिल्प सौन्दर्य, कुरुक्षेत्र, वीर बालक आदि प्रबन्धात्मक पुष्प है। इन कविताओं का मूल इतिहास पुराणों में है। यद्यपि इनकी कथा वस्तु प्राचीन हैं तथापि इनमें आधुनिक युग की विषम परिस्थितियों और उनके समुचित निराकरणों को भी प्रस्तुत किया गया है। 'प्रभो', 'विरह', महाक्रीड़ा', 'करुणाकुंज', आदि कविताएं रहस्यवाद सम्बन्धी हैं। इनमें कवि ने विश्व में व्याप्त अज्ञात तथा रहस्यमय चेतन सत्ता की ओर संकेत किया है। 'प्रभो', 'भक्तियोग', 'मलिना', 'जल विहारिणी', 'दलितकुमुदिनी', 'निशीथ नदी', नववसन्त, आदि कविताएं उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की ओर संकेत करती हैं।

कानन कुसुम में संकलित कविताएं प्रायः निबन्धात्मक हैं। उनकी यह निबन्धात्मकता पर्याप्त मात्रा में है। कवि यहां क्रमशः स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को अपनाता हुआ छायावाद की ओर उन्मुख हुआ है। परवर्ती कविताओं की भावात्मकता, रहस्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, वैयक्तिक्तात्माभिव्यंजना सौन्दर्यानुभूति, लाक्षणिकता तथा वैयक्तिकतात्मकता आदि के प्रारम्भिक चिह्न इन कविताओं में ही परिलक्षित हो जाते हैं।

छन्दों के क्षेत्र में प्रसाद जी ने इन कविताओं में जहां एक ओर कवित्त छन्दों का प्रयोग किया है वहां दूसरी ओर संस्कृत के द्रुतविलम्बित आदि वर्णवृत्तों के साथ ही अधिकांश कविताओं में नवीन भिन्न तुकान्त छन्द भी प्रयुक्त किये हैं। इन कविताओं में उनका उर्दू छन्दों की ओर झुकाव भी परिलक्षित होता है। छन्दों में

पर्याप्त प्रवाह एवं स्वच्छता है। छन्दों के समान ही अलंकार क्षेत्र में भी कवि की नवीनता दर्शनीय हैं। उपमा, रूपक, संदेह, व्यतिरेक काव्यलिंग, हेतुत्प्रेक्षा, प्रौढ़ोक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त मानवीकरण, प्रतीकीकरण तथा विशेषण विपर्यय आदि की नियोजना भी बड़े सुन्दर ढंग से हुई है।

भाषा ओजपूर्ण, प्रवाहमयी, सशक्त एवं विषयानुकूल उतार-चढ़ाव से युक्त है। संस्कृत, ब्रजभाषा और यत्र-तत्र उर्दू शब्दों की छटा भी दर्शनीय है। संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। सन्धियों एवं समासों के प्रयोग से भाषा में कसावट और मुहावरों से उर्दू का चुटीलापन आ गया है। कवि का यह प्रयोगकाल था। समग्र कविताओं में भावना की सरल स्वाभाविकता मन को बलात् आकृष्ट करती है। कवि ने अपनी भावुक अभिव्यक्ति के लिए कल्पना और प्रकृति से पर्याप्त सहायता ली है। वह जो कुछ कहना चाहता है वह प्रकृति के माध्यम से कुछ कहने का प्रयास करता है। उसकी भी मूल वृत्ति रोमाण्टिक है। यही कारण है कि उसने प्रायः प्रकृति के कोमल, मधुर एवं भव्य पक्ष को ही ग्रहण किया है। उसके काव्य में प्रकृति के परुष रूप का अंकन यदि हुआ भी है तो वह अत्यन्त विरल है। उनकी सौन्दर्य चेतना के दर्शन उनकी इन कविताओं में ही हो जाते हैं। एक स्थान पर वे प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति मानव के उपेक्षा भाव से क्षुब्ध होकर कहते हैं–

> तुम तो अविरत चले जा रहे हो कहीं
> तुम्हें सुघर ये दृश्य दिखाते हैं नहीं
> शरद-शर्वरी शिशिर-प्रभजंन-वेग में
> चलना है अविराम तुम्हें उद्वेग में[1]

और फिर अपनी उदात्त सौन्दर्य चेतना का परिचय देते हैं—

> है यही सौन्दर्य में सुषमा बड़ी, लोह हिय को आंच इसकी ही कड़ी
> किन्तु प्रिय दर्शन स्वयं सौन्दर्य है, सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है।
> मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी, दिव्य शिल्पी के कला कौशल सभी
> लिखते-लिखते चित्र वह बन जायगा, सत्य सुन्दर तब प्रकट हो जायगा।[2]

महाराणा का महत्व

महाराणा का महत्व प्रसाद जी का एक ऐतिहासिक खण्ड काव्य है। इसकी रचना भी करुणालय की भांति भिन्न तुकान्त छन्द में हुई है। यह काव्य नाट्य

---

१. 'कानन कुसुम', पृ० १३
२. वही, पृ० ५०

कला से प्रभावित है, अतः सम्पूर्ण काव्य नाटकीय दृश्यों में विभाजित सा प्रतीत होता है। कवि राजपुताने के गौरव से प्रभावित है। इसमें मेवाड़ के राणा प्रताप की आदर्श वीरता का वर्णन किया गया है। संक्षिप्त कथा इस प्रकार है। दिल्ली के सम्राट अकबर के आदेश से सेनापति खानखाना रहीम खां प्रताप को वश में करने के लिए मेवाड़ भेजे जाते हैं। रहीम खां मेवाड़ बड़े उत्साह से जाते हैं, परन्तु अन्त में उन्हें असफल मनोरथ होना पड़ता है। यवन सैनिकों के संरक्षण में बीहड़ वन-मार्ग से जाती हुई उनकी बेगम राजकुमार अमरसिंह के नेतृत्व में राजपूत सैनिकों द्वारा घेर ली जाती है। दोनों ओर से शस्त्र निकल आते हैं और यवनदल पराजित होता है। सालूम्ब्राधिपति वीर कृष्ण सिंह वार्तालाप के बीच में ही महाराणा को यवन बेगम के बन्दी बनाए जाने की सूचना देते हैं। महाराणा को इस बात से कि अर्य जाति के क्षत्रिय वीरों ने एक नारी को बन्दी बनाया, अत्यन्त ग्लानि एवं दुःख होता है। यवन बेगम उनके आदेश से ससम्मान अपने पति के पास पहुंचा दी जाती है। वह खानखाना को महाराणा की महत्ता से अवगत कराती है और खानखाना सम्राट अकबर से प्रताप गुणों की प्रशंसा करके ऐसे महान् व्यक्ति से युद्ध न करने का सुझाव प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार महाराणा का ओज और वीरता पूर्ण आदर्श चरित्र ही इस कथा का आधार है।

इस काव्य में प्रसाद जी राजसी वैभव एवं विलास का सजीव चित्र अंकित किया है। मुगलों के वैभव का एक दृश्य देखिए—

> तारा हीरक हार पहिनकर, चन्द्रमुख
> दिखलाती, उतरी जाती थी चांदनी
> शाही महलों के सुन्दर मीनार से
> जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
> मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।[१]

यहां वैभव वर्णन के साथ ही प्रसाद ने अपनी सौन्र्यान्मुख प्रवृति का भी परिचय दे दिया हैं। इसमें इक्कीस मात्रा के अरिल्ल छन्द का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। दुग्ध-फेन-निम शैया को यों छोड़ कर तथा[२] अस्त होते दिनकर के प्रकाश में अर्बुद गिरि की घनी शैलमाला ऐसी शान्त थी जैसे कर्म योगरत मानव को जीवन के अन्त में शान्ति मिलती है[३] आदि पंक्तियों में उपमा का सौन्दर्य दर्शनीय है। अन्य अलंकारों का भी स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। वीर तथा शृंगार दोनों ही रसों का

---

१. महाराणा का महत्व, पृ० १९
२. वही, पृ० १५
३. वही, पृ० १७

सम्यक् परिपाक हुआ है। भावों में ग्लानि, क्षोभादि संचारियों की स्थिति बहुत दृष्टव्य है। भाषा ओज एवं प्रसाद गुणों से सम्पन्न तथा गति एवं प्रवाह से युक्त है। उर्दू शब्दों का प्रयोग होते हुए भी सर्वत्र संस्कृत निष्ठ हिन्दी का ही प्रयोग हुआ है।

प्रकृति सौन्दर्य प्रसाद-काव्य का अनिवार्य उपादान है। प्रस्तुत कृति में उसके कोमल पक्ष के अतिरिक्त करुण पक्ष के सौन्दर्य का भी उद्घाटन हुआ है—

'कानन में पतझड़ भी कैसा फैल के
भीषण निज आतंक दिखाता था, कड़े
सूखे पत्तों के ही 'खड़-खड़' शब्द से,
अपना कुत्सित क्रोध प्रकट था कर रहा
प्रबल प्रभंजन वेग-पूर्ण था चल रहा
हरे हरे द्रुमदल को खूब लथेड़ता
घूम रहा था क्रूर सदृश उस भूमि में [1]

इसमें प्रकृति के सुकुमार सौन्दर्य का स्वतंत्र रूप से प्रस्तुतीकरण दृष्टव्य है। वन प्रदेश में प्रवाहित सरिता के कलकल निनाद का चित्रांकन करते हुए कवि कहता है—

विस्तृत तरुशाखाओं के ही बीच में
छोटी सी सरिता थी, जल भी स्वच्छ था
कल कल ध्वनि भी निकल रही संगीत-सी
व्याकुल को आश्वासन-सा देती हुई। [2]

प्रेमपथिक

प्रसादजी के प्रेमपथिक की यात्रा तो चित्राधार (प्रथम संस्करण) से ही आरम्भ हो गई थी। परन्तु तब यह ब्रजभाषा के मार्ग पर आरूढ़ था। स्वतन्त्र रूप से इसका संस्करण खड़ी बोली में निकला। प्रेमपथिक भाव प्रधान आख्यानक काव्य है। यह प्रसाद जी की प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी भावधारा का प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य वाजपेयी जी के शब्दों में 'कवि के स्वच्छन्द जीवन क्षणों में लिखा गया इसका छोटा सा कथानक हिन्दी में एक नवीन भावधारा का आगमन सूचित करता है।' [3] प्रेमपथिक की प्रेरणा प्रसाद जी को सम्भवतः श्रीधर पाठक

---

१. महाराणा का महत्व, पृ० १–२
२. महाराणा का महत्व, पृ० ४
३. जयशंकर प्रसाद, पृ० १४

द्वारा अनुदित गोल्डस्मिथ के ऊजड़ग्राम तथा एकान्तवासी योगी से प्राप्त हुई। इसका कथानक ऐतिहासिक न होकर विशुद्ध काल्पनिक प्रेम-कथानक है। इसके मूल भाव सौन्दर्य एवं प्रेम है, सर्वत्र प्रणय और सौन्दर्य के उदात्त स्वरूप का चित्रण हुआ है। संक्षेप में कथानक की रेखाएं इस प्रकार हैं– पथिक आनन्द नगर का निवासी है। उसके पिता अन्त समय में उसे अपने प्रिय को सौंप के गए थे। वहीं उसका उनकी पुत्री चमेली (पुतली) से परिचय होता है। प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण मे निरंतर विचरण करने से दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। किन्तु कालान्तर मे पुतली की सगाई किसी अन्य व्यक्ति से हो जाती है, और विवाह भी शीघ्र होना निश्चित हो जाता है। पथिक ठेस पाकर उस नगर का परित्याग कर इस असीम संसार में भटकने को निकल पड़ता है। वह रेगिस्तान, मैदान, पर्वतीय प्रदेशों में अपनी व्यथा लिए भ्रमण करता रहता है। इधर पुतली का पाणिग्रहण संस्कार हो जाता है, किन्तु वह अपने पाषाण देवता की आराधना में ही अपने दिन काटती है। कुछ समय पश्चात् पति का स्वर्गवास हो जाता है। वैधव्य दुःख सन्तप्ता रूपवती पुतली कामलोलुपों से अपनी लज्जा एवं यौवन की सुरक्षा का भरसक प्रयत्न करती है। उसी समय उसे एक सात्विक एवं सदाशयी वृद्ध अपने ग्राम की भूमि पर एक शान्त कुंज का निर्माण कर ईश्वर-भजन में समय व्यतीत करने का परामर्श देता है। पुतली वहीं अपना आवास ग्रहण करती है। एक दिन एक पथिक मार्गश्रम के कारण रात्रि में वहीं विश्राम करता है। तपस्विनी वेशधारिणी पुतली पथिक से अपनी कथा सुनाने का अनुरोध करती है। कहानी सुनते समय दोनों एक दूसरे को पहचान लेते हैं। भावुक पुतली में पूर्व मोह का प्रस्फुरण होता है, किन्तु पथिक उसे, आत्मा के सात्विक प्रेम एवं सच्चे सौन्दर्य की व्याख्या करके, आत्म लोक का पथिक बनने की प्रेरणा देता है। समस्त कथा पथिक द्वारा उत्तम पुरुष में कही गई है।

कल्पना एवं भावुकता के उपादानों से निर्मित यह पुष्प समूह सात्विक प्रणय तथा उदात्त सौन्दर्य से सौरभ के संयुक्त है। प्रारम्भ में ही चमेली का वर्णन अत्यन्त भावुकता पूर्ण एवं कलात्मक हैं। कवि ने अपने इस वर्णन द्वारा भोली और सुकुमार कन्याओं के भविष्य का जो भावुकता पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है वह सहृदयों को बलात् आकृष्ट कर लेता है। अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता वर्णन की प्रभावोत्पादकता भाषा के संगीतमय प्रवाह तथा प्रसाद-माधुर्यादि गुणों के कारण रचना में एक ऐसी स्निग्धता, माधुर्य एवं प्राणवत्ता आ गई हैं कि सहृदय पाठक का मन पुनःपुनः इस प्रेम-पारावार में डूब जाना चाहता है। इसके अतिरिक्त इस कथा में प्रसाद के विचार एवं जीवनानुभव भी संचित हैं। जगत, जीवन, मैत्री तथा परिवर्तनशीलता पर कवि ने बड़े ही मार्मिक विचार प्रस्तुत किए हैं। साथ ही इसमें नारी

जीवन की विवशता, वैधव्य की विडम्बना तथा वैवाहिक सम्बन्धों में स्वतंत्रता-परतंत्रता विषयक सामाजिक समस्याओं की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है।

प्रसाद ने प्रेम की अत्यन्त सात्विक व्याख्या की है। प्रेम स्वार्थ और वासना से हीन एक अमर विभूति है। कवि ने उसे अत्यन्त व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करके विश्व की मूल प्रेरणा माना है—

प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो[1]

इसी व्यक्तिगत निःस्वार्थ प्रेम का पर्यवसान विश्व प्रेम में होता है—

इसका परिमित रूप नहीं, जो व्यक्ति मात्र में बना रहे,
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है, जहां कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।[2]

अन्त में यही प्रेम आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाता है—

क्षण-भंगुर सौन्दर्य देखकर रीझो मत देखो। देखो ।।
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छाई है।
आत्म समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व प्रेम में विश्व स्वयं ही सुन्दर है।[3]
स्निग्ध-शान्त गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधा सागर के कण
ये सब बिखरे हैं जग में, विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रसादजी ने अपनी सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा भी स्पष्ट कर दी है। कवि की यही सौन्दर्य-कल्पना आदर्श है। सौन्दर्य ईश्वर का अंश है। विश्व में चतुर्दिक उसी का सौन्दर्य परिव्याप्त है। संसार में मानव, मानव-निर्मित पदार्थों तथा प्रकृति में जो सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है वह उसका एक अंश मात्र है। वैसे चमेली के लाक्षणिक वर्णन में नारी सौन्दर्य और पुतली की कुटिया के चतुर्दिक परिवेश के वर्णन में प्रकृति-सौन्दर्य का अंकन भी अत्यन्त प्रभावशाली हुआ है। प्रेम-पथिक में प्रसाद के रहस्यवाद, प्रतीकवाद एवं नियतिवाद का भी आभास हो जाता है। साथ ही उसमें करुणालय के अतिप्राकृतिक तत्त्वों का भी समावेश है-चन्द्रबिम्ब देवदूत सा एक उज्ज्वल व्यक्ति निकलता है और आदर्श प्रेम के स्वरूप का वर्णन करता हुआ आकाशवाणी करता है। आचार्य नन्ददुलारे

---

१. प्रेम पथिक, पृ० २२
२. वही, पृ० २२
३. प्रेम पथिक, पृ० ३०-३१

वाजपेयी के शब्दों में प्रसाद के अन्तर के समस्त प्रेम सौन्दर्य और आदर्शों को सन्निहित किए हुए बाह्यप्रकृति की रमणीयता के साथ यह छोटी सी आख्यायिका हिन्दी में नवीन भावधारा का आगमन सूचित करती है।[१]

झरना

जैसा कि प्रकाशक के वक्तव्य से स्पष्ट है 'झरना' में प्रसादजी की छायावादी कविताएं संकलित हैं। हिन्दी में इस प्रकार की छायावादी काव्य रचनाओं का अवतरित करने का श्रेय 'झरना' के सीकरों को ही है। संस्कृत में मुक्तक कविताओं अथवा गीतों में निहित जिस ध्वनि तथा आन्तरिक लावण्य का उल्लेख हुआ है उसके दर्शन प्रसादजी के 'झरना' में हुए। उनके इस काव्य संग्रह का नामकरण अत्यन्त सार्थक है। झरना से न केवल जल स्रोत का बोध होता है प्रत्युत उसके अभिधार्थ के साथ ही लाक्षणिक एवं व्यंजक अर्थ की भी प्रतीति होती है।[२] जिस प्रकार झरना कहने के साथ ही उसकी वनपर्वतप्रदेशीय स्थिति, निरन्तर कल-कल शब्द, अजस्र जल प्रवाह और शान्तशीतल वातावरण का ध्यान हो जाता है उसी प्रकार प्रसादजी के झरना द्वारा कवि की भावुकता, गाम्भीर्य, ऐकान्तिक प्रेम और प्रेममग्नता का स्वतः ही आभास हो जाता है। झरना में कुल ४८ कविताएं संकलित हैं। इन कविताओं में विषय वैविध्य का अभाव है। इसके अधिकांश प्रगीतों का विषय प्रेम है और वही इनकी सृजन प्रेरणा है। प्रेम में भी इनमें विप्रलम्भ श्रृंगार को ही अधिक चित्रित किया गया है। इन गीतों में कवि के हृदय की तीव्र भावप्रवणता और वैयक्तिक प्रणयानुभूति अभिव्यक्त हुई है। कवि को यहां तक आते-आते स्पष्ट अभिव्यक्ति का साहस प्राप्त हो चुका था। उसने जो कुछ भी कहा निःसंकोच कह डाला।

कवि यह अनुभव करता है कि प्रेम दो आत्माओं में संबंध स्थापित करने वाली एक दिव्य शक्ति है। लालसा हरित विटपि झांई में उसके प्रेम का झरना बह चलता है।[3] विश्व के नीरव निर्जन में कवि जब कभी अव्यवस्थित हो उठता हैं, और कुछ विचार संकलित करना चाहता है तभी कामना के नुपुरों की झंकार होने लगती है और वह विश्व से अधिक दूर नहीं जा पाता। यह कामना के नुपुरों की झंकार ही कवि का आत्मबोध है जो गीतिकाव्य का प्राण है। सौन्दर्य एवं स्वानुभूति के प्रभाव से सफल प्रणय काव्य की रचना नहीं हो सकती। कवि को यहां विश्व ही सुन्दर प्रतीत होता । उसे अपने प्रिय से तादात्म्य का अनुभव होता है। इसीलिए

---

१. जयशंकर प्रसाद, पृ० ५७
२. 'झरना' समर्पण
३. वही (झरना)

उसका मन मधुर स्वर्गीय गान गाने लगता है, प्राण-पपीहा आनन्द विह्वल हो बोल उठता है और प्रेम सुतीर्थ में सद्यःस्नाय मन पवित्र एवं उत्साहपूर्ण हो उठता है।[1] झरना में कवि की इसी प्रणयानुभूति के मध्य उसके अनेक भावों की अवतारणा हुई है। कभी उसका मन प्रिय की रूप मुद्राओं पर रीझ उठता है, प्रिय को उपालंभ देता है कभी क्षुब्ध हो उठता है और कभी लज्जा, ग्लानी और अज्ञात संकोच से आक्रान्त हो जाता है। वह चाहता है कि प्रिय का रूप एक बार पुनः प्रभात की कांतिवान अरुण किरण के समान उसे चेतन्य कर दे। इस प्रकार की निच्छल आत्मभिव्यक्ति में कवि के प्रणयी हृदय की पुकार है, जो उस महान् अस्तित्व में अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए लालायित है।

प्रस्तुत कृति में प्रसादजी ने प्रेम और सौन्दर्य का चित्रण प्रकृति, मानवीकरण तथा कल्पना-विन्यास के माध्यम से अत्यधिक संवेदक रूप में किया है। उसकी नायिका का रूप-सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

ये वङ्किम भ्रू युगल कुटिल कुन्तल घने
नील नलिन से नेत्र चपल मद से भरे
अरुण राग रंजित कोमल हिम खण्ड से
सुन्दर गोल कपोल सुन्दर नासा बनी
धवल स्मित जैसे शारद घन बीच में
(जो कि कौमुदी से रंजित है हो रहा)
चपला सी ग्रीवा हंसी से बढ़ी।
रूप जलधि में लोल लहरियां उठ रही
मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बू में
चंचल चितवन चमकीली है कर रही
सृष्टि मात्र को, मानों पूरी स्वच्छता
चीनांशुक बन कर लिपटी है अंग में
अस्तव्यस्त है वह भी ढंक ले कोन सा
अङ्ग न जिसमें कोई दृष्टि लगे उसे।
सिंचे हुए वे सुमन सुरभि मकरन्द से
पंख तितलियों के करते है व्यंजन से।[2]

सौन्दर्य-वर्णन में एक प्रकार के रहस्यात्मक एवं दार्शनिक पुट का आभास है। इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। भावक एवं कल्पनाशील प्रेमी की यह प्रवृत्ति होती

---

१. झरना, (प्रथम प्रभात)
२. 'झरना'

है कि वह प्रिय को कल्पना के ऐसे सुरम्य एवं अलोक पूर्ण लोक में पहुंचा दे जहां वह चिर सौन्दर्य से सुशोभित होकर उसे नित्य अत्मोल्लास तथा अखण्ड प्रेरणा प्रदान करता रहे। 'झरना' के सौन्दर्यांकन में इसी लिये दार्शनिक स्पर्श है।

झरना में प्रकृति को एक नवीन धरातल प्राप्त हुआ है यहां वह केवल उपमान रूप में ही नहीं, मानवीकृत प्रतीकों प्रतीकीकृत आलंकारिक एवं उद्दीपक रूपों में भी प्रयुक्त होकर भावोद्‌बोधन एवं भावोत्तेजन करती है। प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन अत्यन्त विरल है।

'झरना' की भाषा सरल एवं स्वाभाविक खड़ी बोली है जिसमें यत्र-तत्र भाषा की किंचित झलक सी दीख पड़ती है। इसमें कवि ने नवीन छन्दों का प्रयोग किया है। पर उनका निर्माण दोहा आदि पुराने छन्दों के आधार पर उनकी मात्रादि में न्यूनाधिक्य लाकर कर लिया है। साथ ही अतुकान्त छन्दों का भी प्रयोग हुआ है पर उनमें प्रवाह का पर्याप्त ध्यान रखा गया। अलंकारों की दृष्टि से प्रसाद जी ने नवीन मौलिक एवं लाक्षणिक उपमाओं तथा मानवीकरण द्वारा कला के सौन्दर्य का उद्‌घाटन किया है। किरण तथा 'विषाद' के प्रति कहे गये कवि के शब्दों में यह सौन्दर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'किरण तुम क्यों बिखरी हो आज रंगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान उड़ाती हो परमाणु पराग॥
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती सी तुम कौन॥'[1]

प्रसादजी की उत्कट प्रणयानुभूति की यह अभिव्यक्ति सूफियों से भी पर्याप्त प्रभावित है।

'क्लान्त तारागण की मद्यप-मण्डली
नेत्र निमीलन करती है फिर खोलती
रिक्त चषक सा चन्द लुढ़क कर है गिरा
रजनी के आपानक का अब अन्त है।'[2]

झरना के गीतों में कवि ने मानव-भावनाओं की गहनता का स्पर्श करने का प्रयास किया है, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। श्री रामनाथ सुमन के शब्दों में झरना के प्रगीतों को देखकर उस गुलदस्ते की याद आती है जिसमें जुही और रजनीगंधा, गुलाब और मंदार कुसुम एक साथ लगे हुए हैं और जहां सरो का एक गुच्छा है तो नीम की पत्तियों का भी संग्रथन है। गंधों में एक प्रकार का संघर्ष

---

१. झरना (किरण), पृ० १४
२. झरना (पावस—प्रभात), पृ० ११
३. प्रसाद की काव्य साधना, पृ० ७०

है।'[1] इन पंक्तियों से सुमनजी का तात्पर्य है कि झरना की कविताओं में कला और भाव विदग्धता की दृष्टि से भरि असमानता है। संक्षेप में कवि यहां वैयक्तिक प्रणय एवं सौन्दर्यानुभूति से विश्वप्रेम और विश्वसौन्दर्य की भावभूमिपर आ खड़ा हुआ है।

आंसू

हिन्दी साहित्य की विरह-काव्य-सरिता में प्रसाद के आंसू की एक और धारा का समागम हुआ। इसका सर्वप्रथम संस्करण सम्वत १९८२ वि० में चिरगांव झांसी से प्रकाशित हुआ। इसमें कवि ने १२६ छन्दों में करुण विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन किया था। प्रारम्भ में यह घनीभूत पीड़ा से बरसने वाला स्मृति-काव्य था परन्तु आठ वर्ष पश्चात् इसका संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें छन्दों की संख्या परिवर्द्धन के साथ ही उसकी पंक्तियों में संशोधन तथा उनके क्रम में परिवर्तन कर दिया गया। फलस्वरूप वैयक्तिक वेदना, विश्ववेदना के प्रशस्त पथ पर बढ़ चली। प्रथम संस्करण में वर्तमान वेदना का वर्णन है और द्वितीय में भूतकालीन वेदना का। द्वितीय संस्करण में वैयक्तिक यौवन और सौन्दर्य चिर यौवन होकर विश्वमात्र से सम्अन्वित हो गया। आंसू में कवि वेदना को विश्वकल्याण के एक माध्यम के रूप में प्रस्तुत करता ।

आंसू का वस्तुतः कोई कथानक नहीं है। उसमें घटनाओं का अभाव है। वास्तव में आंसू में लौकिक प्रेम की असफलता से सम्बन्वित घटना का ही वर्णन है। उसमें प्रेम की असफलता से उत्पन्न विरहोद्‌गार, जिसका पर्यवसान लोक मगल की भावना में होता है, ही प्रमुख रूप से व्यक्त हुए हैं। उसका 'आश्रय स्वयं कवि है और आलम्बन कदाचित् परकीया नायिका। उसका आरम्भ प्रिय से वियुक्त प्रेमी के अतीत की मधुर स्मृतियों के साथ होता है। कवि के करुणा कलित हृदय में विकल रागिनी बजने लगती है, हृदय-वीणा के हाहाकार स्वरों में वेदना का असीम गर्जन होने लगता है, नीले-निलय में फैले हुए नक्षत्र लोक के समान हृदय में स्मृतियों की एक बस्ती बस जाती है- इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती? क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती? उसे निलय में नक्षत्र अपनी ज्वाला-मयी जलन के स्फुलिंग प्रतीत होते हैं, अपने महामिलन के चिह्न स्वरूप लगते हैं। उसकी हृदय हिला देने वाली कथा और उससे अप्रभावित प्रिय की निष्ठुरता तथा उपेक्षा द्रष्टव्य है—

रो रो कर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी

---

१. प्रसाद की काव्य साधना, पृ० ७०

तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी ।[१]

तदनन्तर कवि अपने प्रथम मिलन का परिचय देता है। प्रथम परिचय में ही प्रिय उसे न जाने कब का परिचित प्रतीत होता है—

"मधुरा का मुस्क्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित से जाने कब के[२]
तुम लगे उसी क्षण हमको ।"

राका में जिस प्रकार जलनिधि का हिमकर से परिचय होता है—चन्द्र-रश्मियाँ ऊपर से आकर जलनिधि की तरंगावलियों का आलिंगन करती हैं—उसी प्रकार उसके प्रियतम का आगमन हुआ। परिचय के पश्चात् कवि प्रिय के रूप सौन्दर्य का वर्णन करता है। यहां उसके नेत्र, अंजन, बरौनी, स्मित-रेखा, भ्रु युग्म, दन्तपंक्ति, हास्य, कर्ण, बाहु तथा अलकावलि आदि का अत्यन्त अलंकृत वर्णन किया गया है। रूप-वर्णन के पश्चात् कवि ने सम्भोग श्रृंगार का वर्णन किया है।

"हिलते-द्रुमदल, कल किसलय
देती गलबांही डाली
फूलों का चुम्बन, छिड़ती
मधुपों की तान निराली ।"[३]

इस प्रकार प्रकृति के अप्रस्तुत विधान द्वारा कवि ने लौकिक श्रृंगार को अलौकिक श्रृंगार के उच्चस्तर पर आसीन किया है। कवि अभी अपने सुखमय क्षणों में ही लीन था कि अकस्मात् प्रिय का वियोग हो गया। और अब प्रिय वियोग की स्मृति आते ही कवि व्याकुल हो उठता है। वह उन क्षणों के लिए छटपटाता है। अब तो उस मिलन की एक विस्मृति, मादकता और मूर्च्छना ही अवशिष्ट है। वह मिलन एक कल्पना और स्वप्न बन कर रह गया है। अब यह प्रिय वियोग की विष-प्याली ही नेत्रों में मदिरा बन कर छलछला रही है और जीवन में प्रेम बन गई है। प्रिय मादकता के समान आए और संज्ञा के समान चले गए और कवि उतरे हुए नशे के समान व्याकुल, बिलखता रहा। किन्तु यह हृदय भी उसके रंग में ऐसा रंग गया है कि छुटाए नहीं छूटता। यह अनोखा रंग आंसुओं से धुल कर और भी अधिक निखरता जाता है। प्रिय विरह की नाना स्थितियों का वर्णन करते-करते कवि का

---

१. आंसू, पृ० १५
२. आंसू पृ० १७
३. आंसू, पृ० २६

मन अत्यन्त वेदना से आक्रान्त हो जाता है। समस्त जगती में उसे दुख ही दुख दृष्टिगोचर होता है—

नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन सी करती
अपने खारे आंसू से
करुणा सागर को भरती।[1]

कवि वेदना का भावात्मक वर्णन करते हुए तथा उसे सदा सुहागिन मानवता की मांग की रोली बताते हुए उससे निवेदन करता है कि सागर की पवित्र वड़वानल के समान वह उसके समस्त कालुष्य को जला दे-

निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला
जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे।[2]

अन्त में कवि अपने वेदनामय जीवन में आनन्द को प्रवाहित करने के लिए वेदना को स्वीकार कर लेता है। जीवन में सुख और दुःख के समन्वय द्वारा समरसता का प्रतिपादन करते हुए वह वेदना से यह अनुरोध पूर्वक कामना करता है—

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा
आंसू इस विश्व सदन में[3]

आंसू में प्रसाद जी की सौन्दर्य-चेतना को पर्याप्त अवकाश मिला है। कवि सौन्दर्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहता है—

छाया नट छवि परदे में
सम्मोहन वेणु बजाता

---

१. आंसू, पृ० ४८
२. आंसू, पृ० ७४
३. आंसू, पृ० ७६

संध्या कुहुकिनि अंचल में
कौतुक अपना कर जाता ।'[1]

तदन्तर कवि ने प्रकृति के अप्रस्तुत उपादानों द्वारा अपने प्रिय के अलौकिक रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवि की प्यासी मछली सी आंखें उस रूप के जल में विकल है, परन्तु उसमें शारीरिकता की गन्ध रंचमात्र भी नहीं है। प्रसाद की तूलिका से रूप-सौन्दर्य के पवित्र चित्र ही अंकित हुए हैं। उनके प्रिय के सौन्दर्य की पावनता दर्शनीय है—

चंचला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी ।'[2]

इस पावन शोभा के उपादान-प्रिय के केश, मुख, दन्तावली, नेत्र आदि भी अद्भुत सौन्दर्य श्री से सम्पन्न हैं—

बांधा था विधु को किस ने
इस काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ।'[3]

प्रिय के नीलम की प्याली के समान सुन्दर नेत्रों में काली कज्जल रेखा को देख कर सौन्दर्य लुब्ध मन को जो पीड़ा होती है वह मानों 'कालापानी' का दण्ड है—

तिर रही अतृप्ति जलधि में, नीलम की नाव निराली
काला-पानी वेला सी, है अंजन की रेखा काली ।[4]

इसके अतिरिक्त कोमल कपोल प्रदेश में सुन्दर सरल स्मिति और भोहों का वक्र सौन्दर्य भी द्रष्टव्य है—

कोमल कपोल पाली में, सीधी सादी स्मित-रेखा
जानेगा वही कुटिलता, जिसने भौं में बल देखा'[5]

---

१. वही, पृ० ३३
२. आंसू, पृ० २४
३. वही, पृ० २१
४. वही, पृ० २२
५. वही, पृ० २२

इस प्रकार कवि ने प्रिय के सौन्दर्य वर्णन में नवीन उपमानों के चयन, कल्पना सौष्ठव तथा सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण द्वारा अपनी कलात्मक सुरुचि का अच्छा परिचय दिया है। गीतिकाव्य की वैयक्तिकता से युक्त इस विरह काव्य में प्रसाद जी ने आनन्द छन्द की अवतारणा की है जो अब आंसू छन्द नाम से ही विख्यात हो गया है। भाषा लोच, कान्ति और सौकुमार्य आदि गुणों से युक्त तथा भावानुकूल है। संक्षेप में प्रेम–सौन्दर्य प्रधान यह काव्य शिल्प, भाव–विन्यास तथा कला पक्ष की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है है जिसमें जगत्, जीवन, नियति, सुख-दुःख तथा आनन्द आदि महत्वपूर्ण विचार बिन्दुओं का भी यथास्थान निर्देश है।

लहर

झरना के पश्चात् प्रसाद जी का मुक्तक काव्य संग्रह 'लहर' प्रकाशित हुआ। इसकी कविताओं में कतिपय ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय संस्कृति से सम्बन्धित कथा प्रधान कविताएं हैं। अशोक की चिन्ता, प्रलय की छाया पेशोला की प्रतिध्वनि, शेरसिंह का शस्त्र समर्पण आदि कविताओं में ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख के साथ ही सामाजिक समस्याओं की ओर भी संकेत किया गया है। 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' में लालसिंह नामक सिक्ख अंग्रेजों के साथ सहयोग कर देश के प्रति विश्वासघात करता है। इस स्थिति में अंग्रेजों द्वारा सतलज के पार खदेड़े गए पन्चनद प्रवीर रणजीतसिंह की सेना के योद्धा शेरसिंह के शस्त्र समर्पण की कथा है। करुणा, क्षोभ, ग्लानि, ओज और वीरता आदि भावों से युक्त यह कविता एक सफल कथा मूलक रचना है। 'पेशोला की प्रतिध्वनि' में प्रकृति की गम्भीर एवं सौन्दर्यपूर्ण पृष्ठ भूमि पर राष्ट्रीय सांस्कृति चेतना को स्थापित किया गया है। कवि ने यह प्रश्न पूछा है कि अरावली शृंग के समान समुन्नत सिर वाला वह कौन वीर है जो ऐसे अन्धड़ में देश की पतवार को थाम सके। 'अशोक की चिन्ता' में कलिंग विजय में भीषण नर संहार से उत्पन्न अशोक की विरक्ति का वर्णन है। इसमें जीवन की क्षणभंगुरता, वैभव की निस्सारता तथा जीवन एवं जगत् की परिवर्तन-शीलता आदि दार्शनिक भावों का प्रतिपादन किया गया है। इस कविता पर बौद्ध-दर्शन का विशेष प्रभाव है। 'प्रलय की छाया' में नारी हृदय की रूप और यौवन की अकांक्षाओं का सुन्दर मनोविश्लेषण है। प्रेम, सौन्दर्य, यौवन, विलास और प्रकृति के ध्वन्यात्मक चित्रण से यह एक अनुपम कृति बन गई है। नारी हृदय के झंझावात का तो इसमें विलक्षण वर्णन हुआ है।

आस्थानक कविताओं के अतिरिक्त लहर की शेष कविताएं, प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति एवं रहस्य आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। लहर की प्रेम–साधना कवि की अन्तःसाधना बन चुकी है। लहर में कोमल एवं परिपक्व प्रेम का अनेक उदात्त

भावनाओं के साथ प्रस्फुटन हुआ है। यह प्रेम व्यक्तिगत सीमा को लांघ कर विश्वमंगल की ओर उन्मुख हो गया है। इसमें औदार्य, आशा, कामना, स्मृति, उत्कण्ठा, अभिलाषा, विश्वास उपालम्भ, अनुनय तथा आत्मविस्मृति आदि अनेक मानसिक स्थितियों में प्रणयीहृदय की दशा द्रष्टव्य है।

लहर में कवि की दृष्टि प्रिय के वाह्य रूप से अधिक आकृष्ट नहीं है। प्रेम यहां आकर उस स्थिति तक पहुंच गया है जहां आत्मा-आत्मा से एकीकरण के लिए उत्सुक है। यहां प्रेमी में प्रिय के प्रति आत्मसमर्पण की ललक है। अतः प्रिय के सौन्दर्य-वर्णन की अपेक्षा उस सौन्दर्य का प्रभाव कैसा है, इसी का वर्णन अधिक हुआ है। फिर भी प्रिय के शील-सौन्दर्य के साथ ही उसके रूप-सौन्दर्य के भी पर्याप्त चित्र प्रस्तुत किये गये हैं—

'काली आंखों का अन्धकार।'[1]
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुरमाया में[2]

इस प्रेम और सौन्दर्य के सम्बन्ध में ही प्रकृति-सौन्दर्य का ही चित्रांकन हुआ है। कवि ने जो कुछ भी रहस्यमय प्रिय के बारे में कहा है वह सब कुछ प्रकृति के माध्यम से ही वर्णित है। उषा, संध्या, शरद्, रात्रि, लहर, सिन्धु आदि का मानवीकरण द्वारा सौन्दर्योद्‌घाटन हुआ है। विशेष रूप से कवि को उषा का सौन्दर्य अधिक आकृष्ट करता है —

वीती विभावरी जाग री।

अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट उषा नागरी
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस नागरी।[3]

प्रस्तुत कविता में प्रकृति के सुकुमार दृश्यों के सौन्दर्य का वर्णन है। इसी प्रकार 'कोमल कुसुमों की मधुर रात' में रजनी-नायिका का अद्भुत सौन्दर्य चित्रित किया गया है।' 'सागर संगम अरुण नील में प्रकृति के दिव्य एवं विराट सौन्दर्य का चित्रण है।

---

१. लहर, पृ० ३७
२. लहर, पृ० ११
३. वही, पृ० १६

लहर की काव्य शैली छायावादी शैली है। शिल्प की दृष्टि से गीत सटेक और अटेक दोनों ही प्रकार के हैं। छन्दों में विविध छन्दों का प्रयोग है। मुक्त एवं अतुकान्त छन्दों का सफल प्रयोग हुआ हैं। विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगों में कल्पना का सौन्दर्य द्रष्टव्य हैं। करुणा की नव अंगड़ाई सी मलयानिल की परछाई सी आदि में कल्पना की सूक्ष्मता और उपमाओं में लाक्षणिक सौन्दर्य निहित है। लहर प्रसाद जी के प्रेम, सौन्दर्य और रहस्य की लहरों से परिपूर्ण काव्य-सागर है।

कामायनी

प्रसाद जी की अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ काव्यकृति 'कामायनी' हिन्दी छाया-वादी युग की अनुपम देन है। मानव-मन की वृत्तियों को आधार बना कर प्रसाद जी ने इस अनुपम महाकाव्य की रचना कर-डाली है। कवि ने मनु और इड़ा की पौराणिक कथा को आख्यान की गरिमा और रोचकता प्रदान की है। मानव-मन की वृत्तियों एवं ऐतिहासिक कथानक दोनों के ही तत्व समाहित रहने के कारण इसके बारे में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। यदि एक ओर कतिपय आलोचक इसे दर्शन और मनोविज्ञान का ग्रन्थ कह कर इसके काव्यत्व की उपेक्षा करते हैं तो दूसरी ओर अन्य आलोचक इसे मानव के स्वरूप चिन्तन का सफल प्रयास मानते हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय आलोचक इसे रामचरितमानस का अभिनव संस्करण सिद्ध करने में भी प्रयत्नशील हैं। वास्तव में प्रसाद जी ने वेदों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित ऐतिहासिक पौराणिक कथावस्तु द्वारा ही अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर विलक्षण काव्य शक्ति का परिचय दिया है और यही इस काव्यकृति का उद्देश्य भी हैं।

कामायनी का कथानक ऋग्वेद एवं अथर्ववेद की जलप्लावन की घटना पर आधारित .इस घटना का वर्णन शत पथ ब्राह्मण, जैमिनी ब्राह्मण तथा कतिपय पुराणों में कुछ प्रकारान्तर से प्राप्त होता है। बाइबिल कुरान तथा अवेस्ता आदि ग्रन्थों में भी जलप्लावन की इस घटना का उल्लेख है। देवताओं के निर्बाध विलास के कारण सृष्टि में जलप्लावन होता है। समग्र सृष्टि नष्ट हो जाती है। केवल मनु ही हिमालय के उतुंग शिखर पर पहुंच कर बच रहते हैं। ऊषा के आगमन के साथ जब जल कुछ उतरता हुआ प्रतीत होता है तो उनके हृदय में किंचित आशा का संचार होता है। मनु अभी चिन्ता में लीन ही थे कि कला की उपासिका श्रद्धा उच्छिष्ट यज्ञान्न को देखते हुए वहां पहुँच जाती है। दोनों एक दूसरे के सौन्दर्य से प्रभावित होते हैं। श्रद्धा निरास मनु को काम से प्रेरित कर्म के लिए प्रोत्साहित करती है और काम की उदात्त निर्मल एवं मङ्गलमय महत्ता बताते हुए कहती है कि काम ही जीवन का सृष्टा है और वही सृष्टि को गतिशील बनाता है। श्रद्धा के

मुख के काम की प्रशंसा सुनकर उसके रूप, गुण और शील से सम्मोहित मनु में काम के पश्चात् वासना का स्फुरण होता है। मनु मानों अपनी स्नेह वृत्ति के प्रसार के अवसर की खोज में ही थे। भावावेश में वे श्रद्धा के पाणिपल्लव को ग्रहण कर लेते हैं और उसकी रूपमाधुरी का गान आरम्भ कर देते हैं। कामातुर मनु के हाथ पकड़ लेने से श्रद्धा में नारी-सुलभ लज्जा भाव का प्रादुर्भाव होता है। यहां लज्जा का भाव रूप में वर्णन काव्य-शिल्प और सौष्ठव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त उत्कृष्ट है। लज्जा भाव के साथ अनुभावों का तो बहुत ही चित्ताकर्षक वर्णन है। जीवन में विषय और भोग की लालसा ही मानव को कर्म क्षेत्र में प्रवृत होने के लिए प्रेरित करती है। प्रसाद के मनु भी सोमपान सृष्टि विकास एवं यज्ञ की लालसा उत्पन्न होने पर कर्म में प्रवृत होते हैं—किलात और आकूली के साथ यज्ञ कर्म का आरम्भ करते हैं, और मृगया के लिए प्रयाण करते हैं। श्रद्धा भी अपने गार्हस्थिक कार्यों में लीन हो जाती है। इधर गर्भधारिणी श्रद्धा नवागत शिशु एवं गृह प्रबन्ध के लिए चिन्तित है और उधर श्रद्धा पर पूर्णाधिकार की भावना से परिपूर्ण मनु का मन इर्ष्यालु हो उठता है। उन्हें यह कदापि सह्य नहीं कि श्रद्धा उनके अतिरिक्त अन्य किसी की चिन्ता करे। अतः वे श्रद्धा का परित्याग कर चल पड़ते हैं। श्रद्धा का परित्याग कामायनी की एक विशिष्ट घटना है। मनु सारस्वत प्रदेश में पहुंचते हैं, जहां उनका परिचय वहां की रानी इड़ा से होता है। इड़ा को जो उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश को बसाने के लिए समर्थ पुरुष की आवश्यकता थी और श्रद्धा विमुख मनु को नारी की। दोनों ने मिलकर उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश को पुनः बसाया। इड़ा का यहां व्यसायत्मिका बुद्धि के रूप में अत्यधिक सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन हुआ है। इधर एक दिन श्रद्धा आगत और अनागत को स्वप्न में देखती हैं। उसे स्पप्न में ही मनु एवं इड़ा का संयोग दिखाई देता है। विषयासक्त मनु इड़ा के साथ बलात्कार करने के लिए उद्यत होते हैं। इससे सम्पूर्ण सारस्वत प्रदेश की प्रजा उनका विरोध करती है किन्तु विषयासक्त मनु प्रजा से युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाते हैं और लड़ते हुए चेतना विहीन होकर भूमि पर गिर पड़ते हैं। इस संघर्षमय स्वप्न को देखकर अनिष्ट की आशंका से व्याकुल श्रद्धा अपने शिशु पुत्र सहित सारस्वत प्रदेश पहुंच जाती है। वहां वह मनु की सेवा करके उन्हें स्वस्थ करती है। इड़ा को बुलाकर उसे इस संसार का रहस्य समझाते हुए बुद्धिवाद की सीमाओं से अवगत कराती है और अपने पुत्र मानव को इड़ा को सौंप कर मनु के साथ अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए हिमालय की ओर प्रस्थान करती है। अंत में प्रसाद जी ने दर्शन, रहस्य और आनन्द सर्ग में अपने दार्शनिक सिद्धांतों को विस्तार से समझाते हुए इस बात की ओर संकेत किया कि त्रिपुर रहस्य को समझ कार सामरस्य की स्थिति पर पहुंचना ही अखण्ड आनन्द की प्राप्ति है और यही

कामायनी के कथानक का वस्तुतः उद्देश्य है।

कामायनी का कथानक जायसी के पद्मावत के समान रूपक तत्त्व से युक्त है। यदि एक ओर कवि इसमें पौराणिक कथा कहता है तो दूसरी ओर मानव-मन की वृत्तियों का विश्लेषण करते हुए अपने दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है। महाकाव्यत्व की दृष्टि से इसमें प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों एवं नवीन महाकाव्य की विशेषताओं का अद्भुत सामंजस्य है।

कामायनी में प्रसाद जी की सौन्दर्य चेतना को पर्याप्त अवकाश मिला है उन्होंने इसमें अपने सौन्दर्य दर्शन का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने इसमें सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

उज्जवल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं[1]।

उसकी नायिका श्रद्धा में नारी-सौंदर्य का चरम उत्कर्ष है। यदि एक ओर वह अद्भुत रूप लावण्य से समृद्ध है तो दूसरी ओर नारी के शील सौन्दर्य के समस्त आवश्यक उपादानों–लज्जा, करुणा, दया, माया, ममता आदि से विभूषित है। इसके मुख-चन्द्र एवं केश-राशि का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग।
घिर रहे थे घुंघराले बाल
हंस अवलम्बित मुख के पास
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।[2]

इसी प्रकार उसका आन्तरिक सौन्दर्य भी आश्चर्योत्पादक है, शील, सेवा, करुणा एवं ममत्व आदि अनेक गुणों की प्रतिमूर्ति यह नारी भावुक प्रसाद की दिव्य सृष्टि है—

दया, माया, ममता लो आज
मधुरिमा लो अगाध विश्वास
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ[3]

---

१. कामायनी, पृ० ४१
२. वही, पृ० ५७
३. कामायनी, पृष्ठ ५६

अन्त में नारी सौन्दर्य का चरम उद्घाटन प्रसाद जी इन शब्दों में करते हैं-

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पद तल में
पीयूषस्त्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में[१]

प्रकृति सौन्दर्य तो कामायनी की शोभा है। उसके आलम्बन, उद्दीपन, मानवीकृत प्रतीक एवं रहस्यात्मक रूपों का चित्रण हिन्दी-प्रकृति-काव्य की अक्षय निधि हैं।

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीडा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग ।[२]

इसके अतिरिक्त सिन्धु शैय्या पर बैठी मानिनी प्रकृतिवधू के सौन्दर्य का भी अवलोकन कीजिये-

सिन्धु सेज पर धरा वधु अब
तनिक सकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किए सी ऐंठी सी ।[३]

नारी और प्रकृति-सौन्दर्य का अंकन तो प्रायः सभी छायावादी कवियों की तूलिका से हुआ है परन्तु प्रसाद जी की तूलिका ने पुरुष सौन्दर्यांकन में भी अपना कौशल दिखाया है—

अवयव की दृढ़ मांस पेशियां
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार ।[४]

इस प्रकार कामायनी अपने काव्य-वैभव के कारण अनुपम काव्यकृति है। नाटकों में संकलित स्फुट गीत एवं कविताओं के रूप में प्रसाद जी के काव्य श्रोत के बहुत से सीकर यत्र-तत्र उनके नाटकों में बिखरे हुए हैं। प्रसाद प्रधानतः कवि थे,

---

१. कामायनी, पृ० ११४
२. कामायनी, पृ० २१
३. कामायनी, पृ० २४
४. ,, ,, ४

अतः नाटकों में भी उनका कवित्व ही प्रमुख हो उठा है। उनके नाटकों में सम्मिलित गीन एवं कविताओं की यह विशेषता है कि ये नाटकों को भावुकता प्रदान करने के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी काव्य और कला के समस्त तत्वों से संयुक्त होने के कारण शुद्ध काव्य की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। अजातशत्रु, कामना, जन्मेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में उनके ये अनुपम गीत संकलित हैं। ये गीत उत्कृष्ट गीतिकाव्य की प्रायः सभी विशेषताओं अनुभूति की गहनता, कल्पना की उड़ान, भावों की स्वाभाविकता आदि से संयुक्त है। इन गीतों में भी प्रसाद जी की सौन्दर्य चेतना का पर्याप्त प्रकाशन है। प्रकृति, नारी एवं रहस्यात्मक सौन्दर्य उनके प्रायः प्रत्येक गीत में नीहित है। अगरु धुम की श्याम लहरियां '(स्कन्दगुप्त), हिमालय के आंगन में (स्कन्दगुप्त),' अस्ताचल पर युवती संध्या की '(ध्रुवस्वामिनी)' सखे यह प्रेममयी रजनी (चन्द्रगुप्त) तथा' 'तुम कनक किरण के अन्तराल में' (चन्द्र गुप्त) आदि गीत सौन्दर्य, रस, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ है। इन गीतों में प्रसादजी की सौन्दर्य भावना अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचती हुई प्रतीत होती है---

> तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?
> हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों ?
> अधरों के मधुर कगारों में, कल-कल ध्वनि की गुंजारों में,
> मधु सरिता सी यह हंसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ? [1]

हिन्दी साहित्य को प्रसाद जैसे बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न, सौन्दर्य के कुशल चित्रकार कवि ने अपने उपहारों द्वारा अद्भुत सौन्दर्य प्रदान किया है।

नाटक

प्रसाद को अपने से पूर्व नाटक की एक विकसित होती हूई परम्परा प्राप्त हुई थी। वे अपने ऐतिहासिक नाटकों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। इनसे पूर्व भारतेन्दु, रायकृष्णदास एवं बद्रीनाथ भट्ट आदि अनेक नाटककार इतिहास की पृष्ठ-भूमि पर नाट्य रचना कर चुके थे। किन्तु प्रसाद जी ने ही सर्व प्रथम इतिहास की गहरी खोज की साथ ही उसकी पुष्टि के लिए शिलालेख आदि साक्ष्यों का भी अध्ययन किया था, यह उनके नाटकों के प्राक्कथनों से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रसाद जी ने अनुसंधान से प्राप्त सामग्री का उपयोग करके एक नयी परम्परा का सुत्रपात किया है।[2]

प्रसाद सांस्कृतिक कलाकार हैं। उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों की

---

१. प्रसाद, चन्द्रगुप्त पृ० ११

२. वेदपाल खन्ना, हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १५९

आधार भूमि भारतीय इतिहास के ऐसे काल को बनाया है जब संस्कृति अपने वैभव के उच्चतम शिखर पर थी। उनके नाटकों में इतिहास के साथ कल्पना का भी समुचित सामंजस्य हुआ है, किन्तु इससे ऐतिहासिक तथ्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

उनके नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों का अपूर्व समन्वय हुआ है। एक ओर उनके मंगलाचरण स्वस्ति वाक्य, अर्थ प्रकृतियों, गर्भसंधीयों, विदूषक एवं रसादि का निर्वाह हुआ है तो दूसरी ओर घोर अन्तर्द्वन्द एवं संघर्ष का भी सूत्र पात हुआ है। उनके नाटकों का अन्त उनका अपना होता है। इसलिए इसे प्रसादान्त कहा जाता है।

कवि होने के कारण उनके नाटक भी इनसे अस्पृश्य नहीं रह सके हैं। नाटकों में संकलित गीतों से नाटक के सौन्दर्य में तो वृद्धि हुई ही है साथ ही उनका स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। स्वतन्त्र गीति के रूप में बड़े सुन्दर बन पड़े हैं।

उनके नाटकों पर प्रायः जटिलता का आरोप लगाया जाता है। वस्तुतः प्रसाद जी की भाषा की शुद्धता को अधिक महत्वपूर्ण मानते है। उनकी भाषा शुद्ध संस्कृत निष्ट होते हुए भी पात्रानुकूल कोमलता, ओज एवं भावगाम्भीर्य से परिपूर्ण है।

१. सज्जन

तत्कालीन अनेक नाटककार पुराणों एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों की कथाओं के आधार पर अपनी नाट्यकला का विकास कर रहे थे। सज्जन का कथानक महाभारत की कथा में से उद्धृत किया गया है। धर्मराज युधिष्ठिर की सज्जनता के सूत्र में इसकी कथा आबद्ध है। दुर्योधन की कुटिल राजनीति की विजय हुई। विजयोन्मत्त दुर्योधन के चाटुकार मित्र उसे अनीति के लिए उत्साहित करते हैं। पाण्डव शांतिपूर्वक वन में कालयापन करना चाहते हैं, परन्तु उनकी शान्ति में विघ्न डालने के लिए उसके मित्र परामर्श देते हैं कि वह वन में जाकर महोत्सव मनाए एवं मृगया खेले। पांडव इस समाचार को सुन कर ईर्ष्या करेंगे। दुर्योधन उत्सव मनाने के लिए वन में आता है। महोत्सव के पश्चात् मृगया आरम्भ होती है। वन का रक्षक एक गन्धर्व चित्रसेन है। वह दुर्योधन को सावधान करता है कि यह वन गन्धर्वो का क्रीड़ास्थल है, मृगया हेतु नहीं। परन्तु विजयगर्वित दुर्योधन इसे नहीं सुनता। फलस्वरूप युद्ध होता है और दुर्योधन अपने मित्रों सहित बन्दी बना लिया जाता है। वन के अन्य भाग में निवास करने वाले पांडवों को इसकी सूचना मिलती है। धर्मराज उसी समय वीर अर्जुन को आज्ञा देते हैं कि वह अपने बाहुबल से

दुर्योधन को मुक्त करे। युधिष्ठिर की आज्ञा पालन के लिए अर्जुन चित्रसेन की सेना सेना से युद्ध करते हैं। युद्ध के बीच में ही चित्रसेन अपने मित्र अर्जुन को पहचान जाता है। वह युद्ध रोक देता है और अर्जुन के साथ ही युधिष्ठिर के समीप जाकर क्षमा याचना करता है। दुर्योधन आदि बन्धन मुक्त हो जाते हैं। दुर्योधन युधिष्ठिर की उदारता एवं सज्जनता को देखकर लज्जित होता है।

इस नाटक में नवीनता का अभाव और कथांश की लघुता कथानक के उचित विकास में बाधक है। यही दशा चरित्र-चित्रण की है। घटनाक्रम में पात्रों के चरित्र की रेखाएं भर उभर पाती हैं, उनमें सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाया है। एक, ओर उद्धत दुराग्रही, उच्छृङ्खल एवं विद्वेषी दुर्योधन है और दूसरी ओर मनुष्योचित दुर्बलताओं एवं दुर्भावनाओं से सर्वथा विरहित सज्जनता की साक्षात् प्रतिमूर्ति धर्मराज हैं जिनकी शीतलता के कतिपय बिन्दुओं की वर्षा से ही दुर्योधन की विद्वेष-ज्वाला शांत हो जाती है। एक सत् प्रवृत्तियों का प्रतीक है तो दूसरा असत्। सत् और असत् में संघर्ष दिखाते हुए अन्त में 'सत्यमेव विजयते' के सिद्धांत को प्रतिपादित किया है।

प्रायश्चित एवं कल्याणी परिणय को हम प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का आरम्भ मान सकते हैं।

प्रायश्चित :

कल्याणी परिणय के समान ही इसकी भी रचना ऐतिहासिक तानोंबानों द्वारा हुई है। परन्तु इसमें इतिहास की घटनाओं का प्रबल आग्रह न होकर एक चोट खाए व्यथित हृदय का उच्छ्वास ही अधिक है। पाशविक वृत्तियों का अनुकरण कर मानव अल्पकाल के लिए अपने मन को व्यर्थ असन्तोष देने का प्रयत्न भले ही करले, उसे वास्तविक शान्ति तो हृदय की मधुर एवं सद्वृत्तियों की क्रोड़ में मिलती है।

मुसलमान आक्रमणों के समय में प्रसिद्ध जयचन्द तीव्र प्रतिकार एवं द्वेष के कारण अनेक दुर्भावनाओं में आबद्ध हो जाता है। जिनकी प्रेरणा से वह पृथ्वीराज पर आक्रमण कर बैठता है। युद्ध में पृथ्वीराज को चिर–निद्रा में सुलाकर वह अमानुषिक हर्ष से उत्तेजित हो जाता है। उसी समय आकाशवाणी द्वारा उसके दुष्कर्मों के लिए उसकी भर्त्सना की जाती है। इस भर्त्सना का उस पर अप्रत्याशित प्रभाव होता है। इस समस्त हत्याकांड की विभिषिका का कारण स्वयं को पाकर पाश्चाताप की अग्नि में झुलसने लगता है। अन्तरिक्ष के निर्जन शून्य में से उसे प्रिय संयोगिता ही झांकती सी प्रतीत होती है। उसकी अवस्था अर्धविक्षिप्त के समान हो जाती है। इसी स्थिति में वह युद्ध भूमि से वापस आता है। उसी समय मुहम्मद गोरी

उस पर चढ़ाई कर देता है। किन्तु वह इसमें कोई रुचि नहीं लेता। समस्त युद्ध संचालन का एवं राजकीय कार्य-व्यापारों का भार मन्त्री एवं पुत्र पर डाल कर वह स्वयम् पश्चाताप की ज्वाला में जलते हुए प्राणों को शीतल करने के लिए गंगा में विसर्जित कर देता है।

इस एकांकी में प्रसाद की नाट्कीय शैली उत्तरोत्तर विकास की ओर संकेत करती है। नान्दीपाठ एवं सूत्रधार के द्वारा प्रारम्भ करने की परम्परा अब दृष्टिगत नहीं होती। नाटक के अन्त में प्रशस्तिवाक्य को भी लोप कर देते हैं। परन्तु फिर भी उनका अंत ऐसे वाक्यों से होता है जो स्वस्ति-वाचन का सा आभास देते हैं। सद्वृत्तियों की अथवा सत्य की विजय को वह उस सुन्दर स्वरूप में प्रकट करते हैं कि वह मंगल विधायक बन जाता है। बीच-बीच में गद्य-पद्यात्मक अस्वाभाविक शैली का भी सर्वथा परित्याग कर दिया गया है। परम्परा विहित रूप में केवल आकाश-वाणी का प्रयोग हुआ है। स्वाभाविकता को ही दृष्टि में रखते हुए लेखक ने भाषा का प्रयोग पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुकूल ही किया है। बाद के नाटकों में भाषा सामाजिक है। परन्तु नाटक की भाषा नदी के उतार चढ़ाव के समान प्रत्येक पात्रों की मनोस्थिति को स्पष्ट करने में अत्यन्त समर्थ है, यही प्रसाद की कलात्मकता है।

कल्याणी परिणय

प्रस्तुत एकांकी प्रसाद की ऐतिहासिक नाट्य कला का आरम्भिक चरण है।

अपने प्रबल पराक्रम एवं नन्दकुल को विनष्ट करने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से सेल्यूक्स जैसे वीर विजेता को परास्त किया था। फिर उसी की पुत्री कार्नेलिया से परिणय सम्बन्ध स्थापित किया था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। इसी सत्य को प्रसाद ने सौन्दर्य से सुसज्जित किया है। उसमें शौर्य और वीरता के प्राण फूंके हैं। शृंगार और शौर्य, सुन्दर और उदात्त का अलौकिक सामन्जस्य प्रसाद की अपनी विशेषता है।

प्रारम्भ में कौटिल्य यथा नाम तथा गुण को सार्थक करता हुआ प्रकट होता है। वह अपने गुप्तचरों द्वारा भावी कार्य-व्यापारों का संयोजन करता है। दूसरे दृश्य में चन्द्रगुप्त उन सुन्दरियों के प्रति अपने आकर्षण को प्रकट करता है, जिन्हे उसने मृगया के समय देखा था। इसी समय वह शत्रुओं के आक्रमण की सूचना से अवगत होता है और अपने सेनापति चण्डविक्रम को ग्रीक सेना पर प्रत्याक्रमण करने की व्यवस्था के लिए आदेश देता है। "आगे चल कर कथा के क्रम में कार्नेलिया प्रथम दर्शन के आधार पर ही चन्द्रगुप्त से प्रेम प्रकट करती है और सिल्यूकस

पराजय के अपमान का अनुभव करता है। इसी समय सीरिया पर एण्टीगोनस की चढ़ाई की सूचना से त्रस्त होकर वह संधि प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। परिणामतः सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ होता है और चन्द्रगुप्त अपने श्वशुर की सहायता के लिए सेनापति चण्डविक्रम को नियुक्त करता है।[1]

मैदान में बहने वाली धारा के समान कथा का विन्यास सरल और सीधा हुआ है। उसमें रूपकोचित कथा के उतार चढ़ाव का अभाव है। यद्यपि पश्चात् के प्रौढ़ नाटकों की अपेक्षा इसमें चरित्र-चित्रण का विशेष विकास नहीं हुआ है तथापि प्रारम्भिक प्रयास एवं एकांकी की दृष्टि से प्रमुख पात्रों के चरित्रों की विशेषताएं उभर ही आई हैं। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिल्यूकस आदि के चरित्र-विकास की रेखाएं स्पष्ट हैं।

चन्द्रगुप्त एक वीर योद्धा है। उसमें रण कौशल के साथ साथ व्यवहार-पटुता भी पर्याप्त है वह मैत्री और विरोध दोनों में उदार है।[2] अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सदैव तत्पर रहता है। चाणक्य अपने नाम के अनुसार दूरदर्शी, तत्पर-बुद्धि वाला, कुशल-कर्मठ राजनीतिज्ञ है। यही कारण है कि सम्पूर्ण नाटक उसके द्वारा परिचालित है। इन विशेषताओं के साथ वह निःस्पृह कर्मयोगी भी है। आद्योपान्त वह चन्द्रगुप्त की मंगलकामना में ही निरत हैं। सिल्यूकस के चरित्र-विकास को अधिक अवकाश नहीं मिल पाया है। वह वीर होने के साथ-साथ अवसरवादी भी है।

भारतीय नाट्यशास्त्र की प्रणाली के अनुसार नाटक का आरम्भ नान्दीपाठ से तथा अन्त प्रशस्ति एवं मांगलिक वाक्य है। इसके अतिरिक्त गीत भी यथावसर प्रसंगानुकूल प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु इन गीतों में वह कलात्मकता, माधुर्य एवं सौष्ठों नहीं हैं जो अजात शत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्तादि नाटकों में है। प्रसाद जी के गीतों ने ऐतिहासिक नाटकों को भी मधुसुपमा से मण्डित गौरवमय व्यक्तित्व प्रदान किया है।

करुणालय

"चित्रधार" में संकलित करुणालय एक गीति-नाट्य है। इसकी रचना अतुकान्त मात्रिक छन्दों में हुई है। इससे पूर्व इस प्रकार की अतुकान्त रचनाओं का अस्तित्व नहीं था। इसमें कवि ने नरबलि जैसे जघण्य कर्म को रोक कर मानव की

---

१. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ ७१८

२. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ८।

करुणा द्वारा विश्वमांगल्य की कामना की है। इसका आधार विख्यात हरिश्चन्द्र और रोहित का पौराणिक वृत्त है।

प्रस्तुत गीति-नाट्य का विभाजन नाटकीय पद्धतियों के अनुसार ही हुआ है। नाटक पांच दृश्यों में विभाजित है। प्रथम दृश्य में महाराज हरिश्चन्द्र अपने सेनापति ज्योतिष्मान के साथ नौका विहार करते हुए प्रकट होते हैं। उसी समय आकाशवाणी द्वारा यह स्मरण कराया जाता है कि उन्होंने राजकुमार को बलि चढ़ाने की प्रतिज्ञा की थी। उसे अभी तक पूरा नहीं किया है। महाराज हरिश्चन्द्र वचन देते हैं कि वह शीघ्र ही प्रतिज्ञा का पालन करेंगे और लौट आते हैं। द्वितीय दृश्य में राजकुमार रोहित के दर्शन होते हैं। वह वन-प्रांत में विचरण कर रहा है। पिता ने बलि की आज्ञा तो दे दी परन्तु वह निरर्थक ही अपना जीवन क्यों दे दे। क्या पिता की यह आज्ञा भी मान्य होनी चाहिये ? इसी प्रकार जीवन सम्बन्धी अनेक तर्क-वितर्कों के पश्चात् वह निश्चय करता है कि उसे प्रकृति की शरण में चला जाना व नेपथ्य से प्रकृति इस निर्धनता से दुखी अजीगर्त के सम्मुख रोहित प्रकट होता है। रोहित उनसे निवेदन करता है कि यदि ऋषि उसे बली के लिए एक पुत्र दे दे, तो वह उन्हें सौ गाएं दे देगा। ऋषि अपने मंझले पुत्र शुनःक्षेप को रोहित को दे देते हैं। चतुर्थ दृश्य में हरिश्चन्द्र एवं रोहित में वाद-विवाद होता है। रोहित का प्रयत्न वहां से भाग जाना है। इसी समय वसिष्ठ जी आकर वाद-विवाद को समाप्त करवा कर रोहित का समर्थन करते हुए यह व्यवस्था देते हैं कि शुनः क्षेप की बलि दी जा सकती है और यज्ञ-आयोजन का आदेश देते हैं। अन्तिम दृश्य अति नाटकीय है। महाराज हरिश्चन्द्र एवं रोहित उपस्थित हैं। होता के स्थान पर वसिष्ठ विराजमान हैं। शुनःक्षेप यज्ञ-यूप से आबद्ध खड़ा है। शक्ति उसका वध करने के लिए आगे बढ़ता है, परन्तु करुणा उसे विचलित कर देती है और वह रुक जाता है। यह देखकर अजीगर्त स्वयं उसका वध करने के लिए तत्पर होते हैं। शुनः क्षेप कातर दृष्टि से पुकार रहा है :—

त्राहि त्राहि करुणालय। करुणासद्म में
रखो, बचालो। विनती है पद-पद्म में।

तभी विश्वामित्र अपने मधुच्छदा प्रभृ त शत पुत्रों सहित प्रवेश करते हैं। वे इस कुकर्म के लिए वसिष्ठ एवं मनुष्य को धिक्कारते हैं कि वह कितना नीचे गिर गया है। भय और प्रलोभन उससे आसुरी कर्म करवा रहे हैं। विश्वामित्र से प्रेरित वसिष्ठ लज्जित हो जाते हैं। इसी समय एक राजदासी अजीगर्त को धिक्कारती और न्याय मांगती हुई आती है। यह स्त्री सुव्रता है— विश्वामित्र की पत्नी शुनःक्षेप विश्वामित्र का ही पुत्र है। उन्होंने सुव्रता से समस्त कथा को ज्ञात कर राजा से शुनःक्षेप को मुक्त करवा लिया और नरबलि के कर्म को भी सदैव के लिए अलम् कर

दिया। उस परम सत्य की अनन्त करुणा की स्थापना के साथ नाटक की परिसमाप्ति होती है—

> जगन्नियन्ता का यह सच्चा राज है
> सबका ही वह पिता, न देता दुख है
> कभी किसी को। उसने देखा सत्य को।[1]
>
> ०० ०० ००
>
> जय जय विश्व के आधार।[2]

शिल्पादि बाह्य उपादानों की दृष्टि से चाहे नाटक सम्पन्न न हो किन्तु फिर भी वह एक अनुपम सुषमा से आच्छादित है। इसमें प्रकृति-सौन्दर्य उन्मुक्त रूप में प्रकट हुआ है। प्रेम और सौन्दर्य के गान से ही नाटक का आरम्भ होता है। 'एक ओर सांध्यनीलिमा का विस्तार हो रहा है दूसरी ओर विमल विधु का विकास हो हो रहा है। प्रकृति आगतपतिका नायिका के समान शृंगार किए हुए है। शृंगार के अनुकूल वातावरण में वंशीरवमुखरित हो रहा है। नदी की कल-कल छल-छल से प्रेम के स्वर निकल रहे हैं। इसी प्रेम-मदिरा से विह्वल हो पवन मन्द-मन्थर-गति से झूम-झूम कर नौका को खेता है। प्रकृति चन्द्रमा से अमृतमय प्रेम का आलोक फैला रही है।[3] नाटक के बीच में भी यत्र-तत्र नाटककार ने प्रकृति-सौन्दर्यांकन का प्रयास किया है। अतः इसकी विवेचना नाटकीय तत्वों के आधार पर न करके काव्यात्मक दृष्टि से होनी चाहिए।

राज्य श्री

प्रस्तुत नाटक को प्रसाद जी ने अपना पहला ऐतिहासिक नाटक कहा है।[4] इसकी कथावस्तु हर्षकालीन इतिहास में से ली गई। यह एक घटना-प्रधान नाटक है, जिसका केन्द्र हर्षवर्द्धन की भगिनी राज्य श्री है तथा उसीके सौन्दर्य (बाह्य एवं अंतः) का उद्घाटन लेखक का उद्देश्य प्रतीत होता है। नाटक के प्रमुख पात्र राज्य श्री के सौन्दर्य से अभिभूत एवं उसे प्राप्त करने की लालसा में संघर्षरत दिखाई देते हैं। उसके पति ग्रहवर्मा कहते हैं—

> सबसे यह आनन्द बड़ा है प्रियतमें,
> तुम-सा निर्मल कुसुम भी मिला है हमें।

---

१. करुणालय, पृ० ३७
२. वही, पृ० ३८
३. वही, पृ० १–२
४. राज्य श्री, नाटक की भूमिका।

देवगुप्त भी इसी ओर आकृष्ट है। वह भी राज्य श्री के रूप में राज्य श्री ...त करना चाहता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह अपने सत् असत् सभी प्रकार के प्रयत्न करता है। वह जानता है कि कान्यकुब्जाधिपति के जीवित रहने तक उसकी उद्देश्य-सिद्धि संदिग्ध है, अतः वह अपनी समस्त शक्तियों को उस ओर केन्द्रित कर देता है और अन्त में ग्रहवर्मा को छलसे मारने में सफल भी हो जाता है।

इधर भिक्षु विकट घोष भी राज्य श्री की रूपज्वाल का पतंगा है। उसी को पाने की कामना से वह भिक्षु से साहसिक की वृत्ति अपनाने के लिए वाध्य होता है। उसका कहना है कि जिसके आलोकमय रूप ने उसे साहसिक बनने के लिए वाध्य किया है यदि उसे ही प्राप्त नहीं किया तो व्यर्थ ही लुटेरा बनने का पाप मोल लिया। इसी उद्देश्य से वह रज्यवर्द्धन की सेना में भर्ती हो जाता है। देवगुप्त और राज्यवर्द्धन के युद्ध के समय अवसर से लाभ उठाकर वह राज्य श्री को करावास से मुक्त करता है। स्वयं को राज्यवर्द्धन का दूत विज्ञापित करके उसके विश्वास को जीत लेता है। राज्य श्री उस पर विश्वास कर उसके साथ चल पड़ती है। निर्जन वन में पहुंच कर वह अपना मन्तव्य उसके सम्मुख प्रकट करता है। विवश भयभीत राज्य श्री आर्त्तनाद करती है, जिसे सुनकर परिव्राजक महात्मा दिवाकर मित्र उसकी रक्षा करता है। अपने उपदेशों द्वारा वह विकटघोष की सुप्त आत्मा को पुनः जाग्रत करता है। उधर देवगुप्त के भी समस्त, प्रपंच असफल हो जाते हैं। उसे राज्यवर्द्धन द्वारा वन्दी वना लिया जाता है। अन्त में राज्य श्री भिक्षुणी बनने का संकल्प कर लेती है। उत्तरापथ के विजेता हर्ष को जब यह विदित होता है तो वह उसके इस कार्य का प्रतिवाद करता है। राज्य श्री के स्वीकर नहीं करने पर वह स्वयं भी काषाय ग्रहण करने के लिए तत्पर होता है। इस पर राज्य श्री समस्त उत्तरापथ की सम्पत्ति भूखे और कंगालों में बांट देने का अनुरोध करती है। वह भाई के साथ कामना करती है कि "मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूंगी। मेरे अकेले भाई। चलो हम लोग एक दूसरे के सुख-दुख में हाथ बटावें। जहां तक हो सके लोक सेवा करके अन्त में काषाय हम दोनों साथ ही लेगें।' इस प्रकार विश्व-बन्धुत्व की मंगल-कामना के साथ नाटक का अंत होता है।

अजातशत्रु

इस नाटक में प्रसाद जी ने गौतम बुद्ध के इतिहास से सामग्री ग्रहण की है। सारे नाटक में सद्-असद् का संघर्ष दिखलाते हुए सर्वत्र बुद्ध की करुणा का व्यापक प्रसार किया है। नाटक के नामकरण के अनुसार तो नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु का केन्द्र अजात शत्रु को होना चाहिए, किन्तु गुम्फित कथावस्तु एवं अत्यधिक पात्रों

के कारण यह निश्चित नहीं हो पाता कि कौन अधिक महत्वपूर्ण है। ऐसा लगता है कि शायद प्रसाद सभी प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री को प्रयोग में लाने के लिए कृत संकल्प हैं। इसमें चार राज्यों - मगध, काशी, कौशल एवं कौशाम्बी की कथाओं को लेखक ने बड़े कौशल से एक सूत्र में आबद्ध किया है। कौशलराज प्रसेनजित की बहन वासवी का विवाह मगधराज बिम्बसार से हुआ था। मगध की राजपुत्री पद्मावती का विवाह कौशाम्बी-नरेश उदयन से हुआ था। प्रसेनजित ने अपनी बहन के विवाह में काशी को दहेज स्वरूप बिम्बसार को प्रदान की थी।

प्रस्तुत नाटक में एक ओर वासवी पद्मावती एवं बिम्बसार हैं दूसरी ओर अजात एवं उसकी माता छलना। छलना अधिकार-लिप्सु महत्वाकांक्षी मां है, जो अपने पुत्र को एक छत्र कठोर दृढ़ शासक के रूप में देखना चाहती है। अजात के पिता बिम्बसार युवराज्याभिषेक के लिए सहमत नहीं होते। परन्तु वासवी एवं गौतम के समझाने से अजात को युवराज पद पर अभिषिक्त कर देते हैं और स्वयं वासवी के साथ वानप्रस्थ ग्रहण कर कुटिया में रहने लगते हैं। छलना इससे भी आश्वस्त नहीं होती। उसे वासवी की ओर से आशंकाएं बनी रहती हैं। वह वासवी को अजात के मार्ग से बिल्कुल बाहर निकालना चाहती है। अजात अपने क्रूरकर्मी स्वभाव के कारण बिम्बसार का दान बन्द करवा देता है, भिक्षुओं को वापस लौटा दे ा है। इससे बिम्बसार को बहुत क्षोभ होता है। व सवी इसका एक हल प्रस्तुत करती है कि काशी राज्य की राजस्व व्यवस्था इस प्रकार कर देनी चाहिए कि उसकी आय बिम्बसार को मिले। फिर वह स्वतन्त्रतापूर्वक दान दे सकता है। सुदत्त नामक काशी से आए हुए कोषाध्यक्ष को वह यह समाचार दे देती है। कौशलराज प्रसेनजित भी बहिन की अवस्था जानकर काशी के दण्डनायक और प्रजा के पास यह आदेश भेज देते हैं। अजात इसे पिता के विद्रोह के रूप में लेता है और कौशल पर आक्रमण कर देता है। कौशलनरेश बन्दी होते होते बच जाते हैं। काशी मागध के आधीन हो जाती है।

कौशल इस अपमान के बदले में उदयन के साथ मिलकर प्रत्याक्रमण करता है। इस बार अजात कौशल के बन्दीगृह में रख दिया जाता है। यहां उसका कौशल-कुमारी बाजिरा से परिचय होता है। बाजिरा के प्रति उसके हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है। प्रेम से उसकी वृत्तियों का परिष्कृत संस्कार होता है।

मगध में बिम्बसार और वासवी बन्दी जीवन बिता रहे होते हैं। अजात के बन्दी होने के समाचार से छलना परेशान हो उठती है। उसमें वात्सल्य उमड़ आता है। क्षमामयी वासवी छलना को क्षमाकर कौशल जाकर अजात को मुक्त करवा देती है। परन्तु अजात वहीं रह जाता है। बाजिरा से उसका विवाह सम्पन्न

होता है। कुछ समय पश्चात् अजात को पुत्र-रत्न की प्राप्ति होती है। पुत्र-स्नेह में डूब कर अजात को पितृ-स्नेह की महत्ता का ज्ञान होता है और वह बिम्बसार से क्षमा याचना करने जाता है। अब तक बिम्बसार रोगशैया पर पड़े पड़े आसन्नमृत्यु हैं। दोनों पक्षों के मिलन से गौतम के अभयदान के साथ पटाक्षेप हो जाता है।

अजातशत्रु की कथा के समानान्तर ही कौशल में प्रसेनजित शक्तिमति और विरुद्धक की कथा चलती है। अन्तर केवल इतना है कि अजात का सरल पिता ने राज्याभिषेक कर दिया था और विरुद्धक को उसका पिता विद्रोह की आशंका मात्र से बाहर निकाल देता है और माता को अपदस्थ कर देता है। विरुद्धक स्वयं उद्धत एवं साहसी होने के कारण शैलेन्द्र नामक डाकू बन जाता है। शैलेन्द्र अजातशत्रु से मिलकर प्रसेनजित से प्रतिशोध लेने की योजना बनाता है। वह श्यामा (अम्बपालि) के प्रेमजाल में आबद्ध हो जाता है, परन्तु वह उसका भी गलाघोंट कर खेतों में फेंक जाता है अन्त में मृत सेनापति बन्धुल की पत्नी मल्लिका द्वारा उसकी वृत्तियों का परिष्कार होता है। मल्लिका ही उसे प्रसेनजित के निकट ले जाती है। विरुद्धक और उसकी माता प्रसेनजित द्वारा स्वीकार कर लिए जाते हैं।

'अजातशत्रु' में प्रसाद की नाट्यकला अपने सम्पूर्ण वैभव में प्रकट हुई है। प्रायः सभी पात्र ऐतिहासिक है। अपनी कल्पना से प्रसंगों का सुचयन करके नाटककार ने उनकी दीप्ति बढ़ा दी है। नाटक का संदेश बुद्ध की करुणा का है। मानव का महत्व जगती पर अरुणा-करुणा से ही फैलता है। इस करुणा की साक्षात प्रतिमूर्ति है मल्लिका, जिसके समक्ष अजात जैसे धृष्ठ व्यक्तियों का हृदय भी अनायास नत होने लगता है। इस करुणा द्वारा ही धैर्य, दया, सहानुभूति, सेवा-सौहार्द एवं कर्तव्यनिष्ठता आदि गुणों का आलोक फैला है। इसी करुणा का प्रसार नाटककार का उद्देश्य है।

ध्रुवस्वामिनी

शक आक्रमण के समय शकराज को परास्त कर चन्द्रगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी का पुनः परिणय ही इसका कथानक है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की विवाहिता पत्नी होते हुए भी उसके कायर एवं मद्यप होने के कारण उससे घृणा करती है, तथा मन ही मन चन्द्रगुप्त की वीर-मूर्ति पर अनुरक्त है। एक बार शकराज रामगुप्त की कमजोरी से लाभ उठाकर उसके पास घृणित प्रस्ताव भेजता है कि या तो ध्रुवस्वामिनी को उसके शिविर में भेज दिया जावे अन्यथा युद्ध अवश्यम्भावी है। कायर रामगुप्त अपनी पत्नी को शक-शिविर में भेजना स्वीकार कर लेता है। वीर चन्द्रगुप्त को इस प्रस्ताव के द्वारा हुआ अपमान असह्य है। वह स्वयं स्त्री-

वेश में शत्रु-शिविर में जाने की योजना बनाता है। ध्रुवस्वामिनी भी शिविका में उसके साथ जाती है। वहां दोनों एकान्त में शकराज से भेंट निश्चित करती है। शकराज चन्द्रगुप्त के हाथों द्वन्द युद्ध में मारा जाता है। रामगुप्त इस विजयोपलक्ष में उत्सव मनाना चाहता है, परन्तु ध्रुवस्वामिनी महादेवी होने से अस्वीकार कर देती है। उसका कहना है कि जो रानी शत्रु के लिए उपहार में भेज दी जाती है वह महादेवी की उच्च पदवी से पहले ही वंचित हो जाती है।

रामगुप्त के अत्याचार बढ़ते जाते हैं। राज्य में रामगुप्त के विरुद्ध विद्रोह फैल जाता है। वह अन्य सामन्त-कुमारों के साथ चन्द्रगुप्त को भी बन्दी बनाने की आज्ञा देता है तथा ध्रुवस्वामिनी परपुरुषानुरक्ता होने का आरोप लगाता है। क्रोध में आकर चन्द्रगुप्त लोह-शृंखला तोड़ डालता है और राज्य के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लेता है। राजपुरोहित भी ध्रुवस्वामिनी के विवाह को अवैध घोषित करके उसे रामगुप्त से मुक्ति दिलवा देता है। भयभीत रामगुप्त छल से चन्द्रगुप्त को मारने की चेष्टा करता हुआ एक सामन्तकुमार के खड्ग के प्रहार से मारा जाता है।

प्रस्तुत नाटक को एक समस्या-प्रधान नाटक कह सकते हैं। स्त्री-स्वतन्त्रता, समाज में उसकी स्थिति एवं विवाहादि से सम्बन्धित तत्कालीन समस्याओं एवं उनके समाधान को इतिहास के परिवेश में नाटककार ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक प्रस्तुत किया है।

चन्द्रगुप्त

इस नाटक को प्रसाद जी की नाट्य रचना में सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है।[1] इसकी कथा वस्तु विश्व विजेता सिकन्दर के आर्यावर्त पर आक्रमण के समय की है।

ब्राह्मण चाणक्य, मागध चन्द्रगुप्त एवं मालव सिंहरण तक्षशिला में अपनी शिक्षा समाप्त करके घर जाने को प्रस्तुत हैं। उसी समय उन्हें यवनों के देश में आगमन एवं गान्धार नरेश के षड्यंत्र की सूचना मिलती है। चाणक्य मालव एवं मागध का भेद विस्मृत कर, दोनों को आर्यावर्त की स्वतंत्रता के लिए प्रतिश्रुत करवा लेता है। इधर मगध सम्राट नन्द अपनी विलास-क्रीड़ाओं में निमग्न है। अपने अत्याचारों के कारण वह मंत्री शकटार एवं चाणक्य के परिवारों का विनाश करवा देता है। चाणक्य आश्रय की सहायता के लिए नन्द की राज सभा में जाता है, परन्तु वहां से अपमानित होकर नन्द-वंश को समूल नाश का शाप एवं भविष्य की

१. देखिए, चन्द्रगुप्त, प्रकाशकीय

राजनीति का संकेत देकर लौट आता है। गान्धार-कुमारी अलका यवनों के विरुद्ध अपने पिता एवं भाई से छिपाकर सिंहरण की सहायता करती है। चन्द्रगुप्त भी चाणक्य को मगध के बन्दीगृह से मुक्त कर देता है।

चाणक्य सहायता के लिए पर्वतेश्वर के पास जाता है, वहां भी उसे मुंह की खानी पड़ती है। दाण्ड्यायन के आश्रम में सिल्यूकस, सिकन्दर एवं चन्द्रगुप्त चाणक्य की भेंट होती हैं। वहीं दाण्डयायन चन्द्रगुप्त के लिए भावी सम्राट होने की भविष्यवाणी करते है।

चन्द्रगुप्त यवन सेनापति के अनुरोध से ग्रीक शिविर में जाता है। वहां वह यवन रण-नीति एवं कोर्नेलिया से परिचित होता है। यवन सेनापति के आक्रमण आरम्भ हो जाते हैं, परन्तु उसे सर्वत्र निराशा ही मिलती है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सहयोग से अलका व सिंहरण का विवाह सम्पन्न हो जाता है तथा देश में यवनों के विरुद्ध एकता स्थापित होती है। मगध सम्राट अभी तक वैभव में भूले हुए हैं। वह प्रजा एवं राज्याधिकारियों पर अत्याचार करता है। किन्तु चाणक्य की बुद्धि मगध में विद्रोह का सूत्रपात कर देती है। वह दण्डित मौर्य, शकटार, एवं वररुचि को लेकर न्याय के लिए नन्द के पास जाता है। उत्तेजित प्रजा नन्द के विरूद्ध है। शकटार क्रोध में नन्द के छुरा मार कर प्रतिशोध ले लेता है। चन्द्रगुप्त को सम्राट नियुक्त किया जाता है। राजकुमारी कल्याणी भी पर्वतेश्वर की हत्या करके स्वयं भी आत्महत्या कर लेती है। अन्त में जैसा कि प्रसाद के अन्य नाटकों में हुआ है, सभी के विरोधी हृदय परिवर्तित हो जाते हैं। चन्द्रगुप्त एवं कार्नेलिया का विवाह सम्पन्न होता है। इस प्रकार आर्यावर्त एवं ग्रीक मैत्री का दृढ़ सूत्रपात हो जाता है।

राजकीय प्रस्तुत नाटक में आद्यन्त युद्ध, छल कुचक्र एवं मन्त्रणाओं का ही प्राधान्य है किन्तु प्रसाद जी ने बड़ी कुशलता से उसमें मानवीय कोमल भावनाओं का भी सृजन किया है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण एवं राक्षस सभी के हृदय का एक कोमल पक्ष है, जो प्रणय की धीमी सी आंच में पिघल जाना चाहता है।

स्कन्दगुप्त

भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यकला का अपूर्व समन्वय प्रस्तुत करते हुए प्रसाद जी ने स्कन्दगुप्त नाटक की रचना की। इस नाटक के ऐतिहासिक चित्रपट में लेखक ने कल्पनाओं एवं भावनाओं के बड़े गहरे रंग भरे हैं। स्कन्दगुप्त का आर्य साम्राज्य का पतनोन्मुख काल है। स्कन्द के सिंहासनासीन होने से पूर्व ही साम्राज्य में भीतरी षड़यन्त्र उठ खड़े हुए थे तथा देश पर हूण-आक्रमणों का आतङ्क छाया हुआ था। ऐसे ही पतितगामी काल में स्कन्दगुप्त प्रकट हुआ। केवल स्कन्दगुप्त की

ओर ही सम्पूर्ण भारतवर्ष आशा भरी आंखों से देख रहा था। ऐसे समय में स्कन्द ने ही लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से एक छत्र साम्राज्य की स्थापना की थी। परन्तु उसे भी अपने प्रतिद्वन्द्वी पुरगुप्त के लिए त्याग कर स्वयं आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करली। ऐसा था स्कन्द का अजेय पौरुषमय व्यक्तित्व। इसमें कथा का विस्तार अत्यधिक होने पर भी प्रासंगिक कथाओं की उद्भावना नहीं है। सम्पूर्ण नाटक को पांच अंकों में विभाजित किया गया है। कथानक इस प्रकार है——

सम्राट् कुमार गुप्त मगध के शासनाधिपति हैं। वृद्ध सेनापति के साथ ही कुमार स्कन्दगुप्त पुष्यमित्रों के युद्ध में सम्मिलित होने के लिए आए हैं। परन्तु उनमें कुछ वैराग्य एवं उदासीनता का उदय हो रहा है। वे अधिकार के सुख की मादकता को त्याग कर साम्राज्य की सेवा की भावना से एक सैनिक मात्र बने रहना चाहते हैं। वृद्ध पर्णदत्त, जो चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन कर, अब भी गुप्त साम्राज्य को नासीर सेना में गरुड़ध्वज के नीचे वीर गति का सम्मान प्राप्त करना चाहते हैं, कुमार की इस विरक्ति से चिन्तित हैं। अयोध्या से भी चिन्तनीय समाचार मिल रहे हैं। वृद्ध सम्राट् की विलासिताएं निरन्तर बढ़ रही हैं। कुमारात्यमहाबलाधिकृत स्वार्गारूढ़ हो गए हैं। इन समाचारों से चिन्तित पर्णदत्त स्कन्दगुप्त को समझाते हैं और अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट होने के लिए प्रेरित करते हैं। स्कन्द को अभी पुष्यमित्र ही नहीं म्लेच्छों के आक्रमणों के लिए भी प्रस्तुत रहना है। चर से ज्ञात होता है कि कपिशा भी श्वेत हूणों द्वारा पदाक्रांत हो गई है।

पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित युवराज की विरक्ति का कारण गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार—नियम बतलाता है। पारिवारिक कलह का सूत्रपात्र करने वाली इस बात पर पर्णदत्त पुत्र की भर्त्सना करते हैं। इसी समय चर आकर विज्ञापित करता है कि पुष्यमित्र अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित कर आगे बढ़ रहे हैं। नासीर-सेना-नायक से सहायता मांगी है। दशपुर के दूत ने समाचार दिया है कि महाराज विश्वकर्मा के देहांत के पश्चात् नवीन नरेश बन्धुवर्मा ने अभिवादन भेजा है और सहायता मांगी है। पश्चिमि मालवअसुरक्षित है शक राष्ट्रमण्डल चंचल हो रहा है और म्लेच्छवाहिनी ने सौराष्ट्र को भी पदाक्रान्त कर दिया है। वलमी से भी शुभ समाचार नहीं मिला है। इन सब विपत्तियों पर विचार करते हुए स्कन्दगुप्त ऐसी योजना बनाता है कि दोनों ओर से दृढ़ सुरक्षा का प्रबन्ध कर देता है। पर्णदत्त को पुष्यमित्रों के अवरोध के लिए भेज देता हैं और स्वयं मालव की रक्षा के लिए तत्पर होता है।

इधर कुसुमपर विलासिता पूर्ण वातावरण छाया हुआ है। लंका का विद्धसक कुमार धातुसेन भी मगध आया हुआ है। कुमार गुप्त के लिए एक षड्यन्त्र

की रचना हो रही है। एक ओर देशभक्त पृथ्वीसेन कमला आदि हैं। दूसरी ओर स्कन्द की विमाता अनन्त देवी, पुरगुप्त, भटार्क, प्रपंच बुद्धि आती हैं। ये सब मिलकर कुमारगुप्त को सिंहासन से च्युत करके पुरगुप्त को वहां आसीन करना चाहते हैं। शर्वनाग की पत्नी रामा इस भेद से परिचित हैं। अनन्तदेवी नाना प्रलोभनों द्वारा सबको अपने वश में रखती है। अंत में इनका षड़यन्त्र सफल होता है। सम्राट की हत्या करके उनका निधन हो गया, इस प्रकार प्रसिद्ध कर दिया जाता है। पुरगुप्त को सम्राट् स्वीकार करवाया जाता है। इसके विरोध में महाप्रतिहार दण्डनायक और पृथ्वीसेन छुरा मार कर अपने जीवन का अंत कर लेते हैं।

हूणों के विरुद्ध उत्तर पश्चिम के मोर्चे में गोविन्दगुप्त और कश्मीरी कवि मातृगुप्त नेतृत्व करते हैं। हूण पराजित होते हैं। स्कन्दगुप्त थोड़ी सी सेना के साथ बन्धुवर्मा की सहायता के लिए जाते हैं। शत्रुओं से घिरी हुई अवन्ती नगरी में भीम वर्मा और बन्धुवर्मा शत्रुओं का प्रतिरोध करते है। द्वार फिर भी टूट जाता है, इसी समय स्कन्द सैनिकों सहित आ जाते हैं।

श्रेष्ठिकन्या विजया का हृदय स्कन्द की भयानक-सुंदरमूर्ति के सम्मुख हार जाता है, किन्तु स्कन्दगुप्त में फिर वैराग्य जन्म ले रहा हैं। त्याग और कर्त्तव्य के द्वन्द्व में उलझे हुए स्कन्दगुप्त कुसुमपुर से संदेश प्राप्त कर वहां प्रस्थान कर देते हैं। कुसुमपुर में ग्रहचक्र चल रहा हैं। प्रपंचबुद्धि स्कन्ध की माता के वध हेतु शर्वनाग को तैयार करता है। वह इसका भेद अपनी पत्नी के सम्मुख खोल देखता है। रामा स्कन्द तक सूचना भिजवा देती है और वह ठीक अवसर पर पहुंचकर अपराधियों को रंगे हाथों पकड़ कर माता की रक्षा कर लेता है। बन्धुवर्मा मालव के राज्य को स्कन्दगुप्त को अर्पित कर देते हैं। एक विचित्र परिस्थिति में भटार्क कमला और विजया बन्दी बना लिए जाते हैं। विजया यह कह कर कि उसने भटार्क को वरण किया है स्कन्द के हृदय को ठेस पहुंचाती है।

प्रपंचबुद्धि मालव पहुँचकर देवसेना को समाप्त करना चाहता है। इसके लिए वह विजया की सहायता लेता है। वह भी स्कन्द को प्राप्त करने की अभिलाषा से अनुचित कार्य करना स्वीकार कर लेती है। वह किसी भी युक्ति से उग्रतारा की बलि के लिए देव सेना को श्मशान भूमि में ले आती है। छिपा हुआ मातृगुप्त सारी षड़यन्त्र योजना पहले से ही सुन चुकता है। यथावसर पहुंचकर प्रपंचबुद्धि को निरस्त्र कर दिया जाता है और देवसेना आश्वस्त हो स्कन्द से लिपट जाती है।

मगध में इस वार बहुत गहरा कुचक्र चल रहा है। भटार्क स्कन्द से बदला लेने के लिए देशद्रोही का आचरण करने के लिए तत्पर है। हूणों को एक वार ही पराजित करने के लिए स्कन्द ने समस्त देश के सामन्तों को निमन्त्रित किया है। भटार्क मगध की सहायक सेना का संचालन करते हुए ही बदला लेने की योजना

बनाता है। शक और हूणों के प्रति स्कन्दगुप्त का विरोधी अभियान आरम्भ हो जाता है। बन्धुवर्मा और गोविन्दगुप्त उसके सहयोगी हैं। इसमें गोविन्दगुप्त ने वीर गति प्राप्त की। शक पराजित हुए। बन्धुवर्मा गुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत के पद पर प्रतिष्ठित हुए। मातृगुप्त को देवसेना की रक्षा के उपलक्ष में काश्मीर का राज्य प्राप्त हुआ। सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की उपाधि से अलंकृत हुए। इसी समय कुभा के रणक्षेत्र में भटार्क की मगध की सेना विश्वासघात करती है। स्कन्दगुप्त की विजयी सेना हूणों का पीछा करना चाहती है तभी भटार्क बांध तुड़वा देता है और सैनिकों को कुभा के जल में समाधि लेनी पड़ती है।

अनन्तदेवी भटार्क के साथ खिलवाड़ कर रही है। वह उसके कार्य सिद्धि का एक साधन मात्र है, इससे अधिक उसका कुछ महत्व नहीं है। यह रहस्य जब विजया पर प्रकट होता है तो वह निराशा और आत्मप्रतारणा से पीड़ित हो जाती है। अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग द्वारा उसे उद्बोधन प्राप्त होता है। शर्वनाग उसे देश-कल्याण के प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा देता है। विजया स्वयं भी कवि मातृगुप्त को कोमल कल्पनाओं के लचीले गानों को छोड़कर उद्बोधन के गीत गाने के लिए प्रेरित करती है।

पुत्र-वियोग में देवकी प्राणत्याग करती है। भटार्क को भी आत्मपरिचय होता है, वह शस्त्र त्याग कर पुनः माँ को कष्ट न पहुंचाने की प्रतिज्ञा करता है। गांधार में कनिष्क चैत्य के समीप रहते हुए स्कन्दगुप्त देवसेना, शर्वनाग, पर्णदत्त, रामा और कमला जनता में हूण-विरोध का प्रचार कर रहे हैं। यहां स्कन्दगुप्त में फिर अस्तित्वहीनता की भावना आ जाती है, किन्तु कमला और पर्णदत्त उसे उत्साहित करते रहते हैं। कमला उस आर्य पताका के नीचे समग्र विश्व के होने की कामना से सोते हुओं को जगाने का, रोने वालों को हंसाने का और आसुरीवृत्तियों के नाश करने का उद्बोधन मन्त्र देती है। पीछा करते हुए विकट हूणों से आत्म-सम्मान की रक्षार्थ देवसेना आत्महत्या करना चाहती है। उसी समय वृद्ध पर्णदत्त उसकी रक्षा करते हैं। बन्धुवर्मा की धरोहर देवसेना की पुकार सुनकर स्कन्द विचलित हो जाता है। उसे कमला द्वारा सूचना मिली है कि देवसेना चैत्य के समीप सुरक्षित है।

ज्यों-ज्यों नाटक का अंत समीप आता है उसमें और भी अधिक नाट-कीयता एवं अनुभूति की गहनता बढ़ती जाती है। स्कन्द और देवसेना के कोमल आंतरिक द्वन्द्व को ऐतिहासिक परिवेश में इतनी सहजता से प्रस्तुत करना प्रसाद जी की ही सामर्थ्य में था। स्कन्दगुप्त अपनी माता एवं सती जयमाला की समाधियों पर फूल चढ़ाने आता है, वहीं उसकी भेंट देवसेना से होती है। वह देवसेना से महादेवी के सम्मुख प्रतिश्रुत होने के लिए अनुरोध करता है कि भविष्य में वे दोनों

कभी विलग नहीं होंगे। वह अपना ममत्व उसे अर्पण करके उऋण हो जाना चाहता है। किसी कानन के कोने में उसे देखते हुए जीवन व्यतीत करना चाहता है। उसे साम्राज्य की इच्छा नहीं है। अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहता।

किन्तु देवसेना से निषेध पाकर स्कन्दगुप्त कुमार जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करता है। इसी समय विजया भी समर्पण भावना से वहां आती है। उसके पास अभी दो रत्नगृह शेष हैं। किन्तु इस घृणित प्रस्ताव को स्कन्द ठुकरा देता है। असह्य अपमान से प्रताड़ित हो विजया आत्महत्या कर लेती है। भटार्क को भी स्कन्दगुप्त आत्महत्या करने से बचाता है। इधर हूण सेनापति को बौद्धों की ओर से निराशा मिलती है, जिनका नेतृत्व प्रख्यातकीर्ति के हाथों में होता है। खिंगिल की सेना से स्कन्द के सैनिकों का युद्ध होता है। खिंगिल के साथ ही पुरगुप्त और अनन्तदेवी भी बन्दी बना लिए जाते हैं। उदार हृदय स्कन्दगुप्त माता को सदैव क्षम्य मानता है और पुरगुप्त का रक्त से अभिषेक करते हुए उसे राज्य सौंप देता है। देवसेना भी श्रीचरणों में कुछ निवेदन करना चाहती है कि वह भी मृतभाई के स्थान पर यथा शक्ति सेवा कर अब छुट्टी चाहती है। यही स्कन्द के हृदय का कोमल पक्ष है, वह विचलित हो उठता है।

'देवी ! वह न कहो। जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग एक दूसरे का मुंह देखकर काट लेंगे।....परन्तु इस नंदन की वसंत-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ, ऐसा मैं किस मुंह से कहूं (ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूं। देवसेना! देवसेना ! तुम जाओ ! हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह !"

देवसेना के शब्दों में प्रसाद जी ने नारी सौन्दर्य की दार्शनिक प्रतिष्ठा के साथ नाटक की परिणति को और भी अधिक प्रभावशाली बना दिया है।

'देवसेना:—कष्ट हृदय की कसौटी, तपस्या अग्नि है। सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिससे सुखों का अन्त न हो इसके लिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !"

एक घूंट

सौन्दर्य की भित्ति पर आनन्दवाद की प्रतिष्ठा के लिए ही प्रस्तुत नाटक का प्रणयन हुआ है। वास्तव में नाटक में कथानक नामक तत्त्व की उपस्थिति तो गौण है, प्रसाद ने पात्रों के माध्यम से अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

अरुणाचल पहाड़ी के निकट कुछ लोगों ने मिल कर एक आश्रम के रूप में स्वास्थ्य-निवास का निर्माण कर लिया है। जिसका उद्देश्य है सरलता, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य।

प्रभात के मनोरम प्राकृतिक वातावरण में मोनश्री अपनी साड़ी के आंचल की बेल को देखती हुई बैठी है। नेपथ्य से बन्धन मुक्ति के भाव से भरे हुए किसी गीत के स्वर सुनाई देते हैं। गीत सुन कर वह और भी अधिक उत्कण्ठित हो जाती है। उसमें अपनी संचित स्नेह से किसी को भी अभिषिक्त कर देने वाली मधुर भावना हिलोरें लेने लगती है। वह इसी प्रकार की कल्पनाओं में निमग्न होती है कि उसका पति रसाल आता है। उसे आज आश्रम के अतिथि आनन्द के सम्मान में परिचय स्वरूप कुछ बोलना है। बन्धन से मुक्ति को विच्छिृङ्खलता की भूमिका समझ, वह गीत के भावों के लिए पति पर व्यंग करती है। उसे क्षोभ है कि ये निरीह भावुक प्राणी। जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हंसी और कलनाद का अर्थ समझ लेते हैं परन्तु उसके आर्तनाद को कभी समझने की चेष्टा नहीं करते।

दूर से प्रेमलता और आनन्द आदि बातचीत करते हुए आते हैं। आनन्द मुकुल को अपना स्वच्छन्द आनन्दवादी सिद्धांत समझा रहा है। उसका आनन्दवाद किसी भी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं करता। प्रेम की स्वतन्त्रात्मा को कारा में डालने से उसके स्वास्थ्य, सरलता और सौन्दर्य नष्ट हो जाते हैं। नियमबद्ध प्रेम-व्यापार से जीवन का लक्ष्य ही भ्रष्ट हो जाता है। उसके अनुसार विश्व चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम जीवन है'। जीवन का लक्ष्य सौन्दर्य है, क्योंकि आनन्दभरी प्रेरणा जो इस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ अपने आत्मभाव हमें, निर्विशेष रूप से रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोहमूलक अधिकार के लिए वह झगड़ेगी। दुख, क्लेश अभावादि के अस्तित्व के विरोध में दुःखों के नाश करने का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है। समस्त दुःखों का कारण मोह है। वनलता हृदय की भूख का प्रश्न उठाती है। इससे आनन्द को अपने पक्ष में एक प्रमाण और मिल जाता है। वह कहता है कि वैवाहिक जीवन में भी जब हृदय क्षुधित ही रह जाता है तो प्रेम बन्धनों को स्वीकार क्यों करें, प्रसन्नता के वातावरण में प्रेमलता एक गीत सुनाती है।

वनलता को आनन्द जी के स्वच्छन्द प्रेमवाद में तनिक भी आस्था नहीं है। सभा आरम्भ होती है। रसाल आनन्दजी के विचार प्रस्तुत करता है कि अरुणाचल आश्रम इस देश की बड़ी सुन्दर संस्था है। इसका उद्देश्य भी बड़ा स्फूर्तिदायक है। स्वास्थ्य, सरलता और सौन्दर्य आनन्द जी का कहना है कि इसमें प्रेम को और मिला दीजिए। इससे इन तीनों में प्राण प्रतिष्ठा हो जाएगी। इन विभूतियों का

एकत्र होना विश्व के लिए आनन्द जीका उत्स खुल जाना है। इस संदेश एवं वनलता के साथ नाटक की परिसमाप्ति होती है।

विशाख

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की दूसरी कड़ी प्रस्तुत नाटक है। इसकी कथा का आधार कल्हण की 'राजतरंगिणी' है, जिसे प्रसाद ने अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा नवीन रूप में विकसित कर दिया है।

सम्पूर्ण नाटक की कथा सुश्रुवा नाग की कन्या चन्द्रलेखा के सौन्दर्य-सूत्र में पिरोई गई है। तक्षशिला का सद्यस्नातक विशाख शिक्षा प्राप्त कर लौट रहा है। वह अभी सामाजिक व्यवहार व विषमताओं से अनभिज्ञ है। मार्ग में उसे दरिद्रता के कारण सेम की फलियां तोड़ती हुई सुश्रुवा नाग की कन्याएं इरावती एवं चन्द्र-लेखा दीख पड़ती हैं। विशाख चन्द्रलेखा के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उनके सम्मुख प्रकट होता है और उनके दुःख का कारण जानना चाहता है। वे दोनों विशाख को खेत का रक्षक समझ कर भयभीत होती हैं। विशाख उनके भय का निवारण करता है कि वह रक्षक नहीं एक पथिक है और सम्भवतः उनकी सहायता कर सकता है। इरावती उसे अपना परिचय देती है। किसी समय उनका पिता इस रम्याटवी का स्वामी था, किन्तु देश के राजा ने उनकी भूमि-सम्पत्ति छीन कर एक बौद्ध महन्त को दे दी। वार्तालाप के बीच में ही मठाधीश सत्यशील आता है। दोनों बहनें चली जाती हैं परन्तु बौद्ध महन्त मन ही मन भयभीत होता हुआ भी विशाख से उलझ पड़ता है। विशाख भी बड़ी चतुराई से उससे पीछा छुड़ा कर भागता है।

लोकव्यवहार-शून्य विशाख चन्द्रलेखा और इरावती की सहायता के उद्देश्य से राजा नरदेव के सम्मुख सुश्रुवा नाग की समस्या उठाना चाहता है। अनेक तर्क वितर्क के पश्चात् राजपुरोहित महापिंगल उसे राजा नरदेव से भेंट कराने राजा-दरबार में ले जाते हैं। विशाख सम्पूर्ण समस्या नरदेव के समक्ष रखता है व राजा भी न्याय के प्रति आग्रह दिखाता है।

विशाख के गुरु प्रेमानन्द घूमते घामते कानीर विहार में आतिथ्य ग्रहण करते हैं। विशाख उनसे भेंट करना चाहता है। इसके लिए वह एक भिक्षु से झगड़ ही रहा था कि सत्यशील के साथ प्रेमानन्द विहार से निकलते हैं। उन्हें देखते ही आवेश में आकर विशाख सत्यशील का भण्डा-फोड़ कर देता है और बताता है कि चन्द्रलेखा विहार में वन्दिनी है। इस तथ्य को जानकर प्रेमानन्द सत्यशील की भर्त्सना करते हैं। परन्तु सत्यशील उनकी उपेक्षा करता है। विशाख को वे उत्तम उद्देश्य के लिए स्वार्थ-प्रेरित होकर भी सत्यकार्य करणीय है का उपदेश देकर चले जाते हैं।

चन्द्रलेखा अपने पिता के कष्टों के लिए प्राणों से भी अधिक चिन्तित होती हुई विशाख में आसक्त होती है। राजा नरदेव स्वयं संघाराम में उपस्थित होते हैं। घबराए हुए भिक्षु चन्द्रलेखा को मुक्त कर देते हैं। स्वयं नरदेव भी चन्द्रलेखा के सौन्दर्य से अभिभूत होते हैं कि ऐसा सौन्दर्य तो उनके राजमहल में भी नहीं है। राजा सत्यशील को कोठरी में बन्द करवा कर चैत्य में आग लगाने का आदेश देता है, तभी प्रेमानन्द एवं विशाख आते हैं। प्रेमानन्द राजा को सुन्दर करुणा एवं आराधना की भूमि को नृशंसता एवं बर्बरता की भूमि न बनाने का उपदेश देकर आग लगवाने की आज्ञा को रद्द करवा देते हैं।

चन्द्रलेखा ने मन से विशाख को आत्मसमर्पण कर दिया है। विशाख के प्रति चन्द्रलेखा का इतना अधिक अनुराग देखकर उसकी बुआ अत्यन्त प्रसन्न होती है। वह बताती है कि राजा ने उनकी समस्त सम्पत्ति लौटा दी है और सुअवसर आने वाला है। चन्द्रलेखा और विशाख का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

राजा नरदेव स्वयं चन्द्रलेखा के सौन्दर्य की विरहाग्नि में जल रहा है। राजा महापिंगल के साथ मृगया के मिस रमण्याटवी की ओर जाता है। विशाख कहीं घूमने गया हुआ है। इसी बीच एकान्त में नरदेव एवं महापिंगल वहां आते हैं। चन्द्रलेखा उनका दूध एवं मंच प्रदान द्वारा स्वागत करती है। राजा उससे अपना प्रणय निवेदन करते हैं परन्तु चन्द्रलेखा उन्हे तिरस्कृत करती है। आगत विपत्तिके अंधड़ की आशंका से भयभीत हो ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना करती है।

महापिंगल एक चाल खेलता है। वह एक सीधे साधे बौद्ध भिक्षु से प्राणों का भय दिखाकर चन्द्रलेखा को भयभीत करने की योजना को कार्यान्वित करवाने की स्वीकृति ले लेता है। चन्द्रलेखा चैत्य की पूजा करने आती है। अचानक जलता हुआ दीप बुझ जाता है। चैत्य के पीछे छिपा हुआ भिक्षु आड़ में से उसे राजा नरदेव से प्रेम करने की आज्ञा देता है। इस पर चन्द्रलेखा उसे चैत्य का अपदेवता कहकर चैत्य का ही अपमान कर देती है। इसी समय भिक्षु भयनाक गर्जना करता है, जिसे सुनकर चन्द्रलेखा मूर्च्छित हो जाती है। समीप ही भिक्षु प्रेमानन्द किसी गृहस्थ को परेशान न करने के विचार से वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। वे भिक्षु को पकड़ लेते हैं। चन्द्रलेखा को आश्वस्त करते हैं। इसी समय विशाख भी तलवार सहित प्रगट होकर भिक्षु को मारने के लिए उद्यत होता है परन्तु प्रेमानन्द उसे क्षमा सर्वोत्तम दण्ड का विधान बतलाते हैं।

राजा नरदेव अभी भी महापिंगल के साथ चन्द्रलेखा को प्राप्त करने की योजना में लीन हैं। उनके उद्देश्य से महारानी भी अवगत हो जाती है। वे राजा को महापिंगल की मैत्री त्यागने के लिए अनुरोध करती हैं और चेतावनी देती हैं कि अन्याय का राज्य बालू की भीत है।

इधर महापिंगल विशाख के पास जाकर उसे चन्द्रलेखा को महल में भेजने की आज्ञा देता है। इस अपमान को विशाख सहन नहीं कर सका और उसने तलवार से महापिंगल का शिरोच्छेदन कर दिया। राजसैनिक उसे बन्दी बना लेते हैं। चन्द्रलेखा भी बन्दिनी बनाई जाती है। इस काण्ड से प्रेरित होकर एक नाग रमणी नागों में उत्तेजना फैलाने का प्रयास करती है। परन्तु प्रेमानन्द उन्हें देश की शान्ति भंग न करके सत्य और आत्मबल पर भरोसा करके न्याय की मांग करने के लिए कहते हैं।

विशाख और चन्द्रलेखा राजसभा में उपस्थित किए जाते हैं। विशाख अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। दण्डस्वरूप राजा उसका सर्वस्व अपहरण कर उसे राज्यनिष्कासन की आज्ञा देता है। चन्द्रलेखा के लिए विचार करना वह स्थगित कर देता है। विशाख हटपूर्वक बाहर जाना ही नहीं चाहता। इस पर नरदेव क्रोधित होकर दोनों को सूली पर चढ़ाने की आज्ञा देता है। इसी समय कोलाहल के साथ नाग सरदार आकर न्याय की मांग करते हैं। प्रेमानन्द भी आते हैं, परन्तु राजापमान से हतप्रभ हो जाते हैं। जनता विशाख और चन्द्रलेखा को मांगती है। राजा सैनिकों को प्रहार करने का आदेश देता है। जनता राजभवन में आग लगा देती है। नागलोग विशाख और चन्द्रलेखा को लेकर भाग जाते हैं। प्रेमानन्द आग के बीच में नरदेवको उठाकर बाहर आते हैं।

अन्तिम दृश्य अतिनाटकीय एवं हृदयस्पर्शी है। इरावती की छुटी में नरदेव स्वस्थ हो रहा है। वह पश्चाताप की अग्नि में जल रहा है। उसे यह ज्ञान मिलता है कि परमात्मा की सुन्दर सृष्टि को व्यक्तिगत मानापमान एवं राग-द्वेश द्वारा आन्दोलित करने का अधिकार किसी को नहीं है। इसी समय चन्द्रलेखा नरदेव के पुत्र को गोद में लिए हुए आती है। नरदेव इस अपूर्व क्षमा और करुणा को देखकर द्रवीभूत हो जाता है। वह चन्द्रलेखा एवं अन्य सब लोगों से क्षमायाचना करता है। विशाख के हृदय में अभी भी नरदेव के प्रति रोष एवं हिंसा की भावना है। प्रेमानन्द उसे सत्पथ पर लाने का उपदेश देते है। वे बताते हैं कि प्रतिहिंसा पाशविक वृत्ति है। नरदेव अब सन्यासी हो गया है। तुम्हें नरदेव के पुत्र को राजानुकूल शिक्षा देकर योग्य राजा बनाना है। तुम्हें भी कर्म करने के पश्चात् मेरे ही मार्ग का अनुसरण करना है। वे नरदेव की क्षमायाचना के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि भगवान से प्रार्थना करो, तुम्हे शान्ति मिलेगी इसके साथ ही पटाक्षेप हो जाता है।

भारतीय नारी को उसके सम्पूर्ण चारुत्व सहित प्रतिष्ठित करना ही इस नाटक में प्रसाद जी का उद्देश्य प्रतीत होता है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप चन्द्रलेखा में सौन्दर्य की उद्भावना की गई है। उसकी बाह्य रूपाकृति पर तो सब मुग्ध है ही साथ ही वह आदर्श पुत्री है, मधुर प्रेमिका है एवं पति की

मंगलकामना में निरत सती-पत्नी है। वह अभिजात्य और नारीत्व के समस्त गुणों से अलंकृत है। लज्जा, शील, संकोच, स्वाभिमान, आचरण की पवित्रता एवं अतिथि सत्कारादि मर्यादित व्यवहार, आदि विशेषताओं से युक्त उसके रम्य रमणी रूप को ही कलाकार ने अपूर्व कुशलता के साथ चित्रित किया है।

कामना

अजातशत्रु के उपरान्त प्रसाद जी का ध्यान उन दार्शनिक विचारों की ओर गया जो सम्भवत: उनके अवचेतन में उथल पुथल मचाये हुए थे। यहां मनोवृत्तियों के संघर्ष को ही उन्होंने प्रतीक रूप में उपस्थित किया है। मनोवृत्तियां सत् और असत् दो प्रकार की होती हैं। सत और असत् वृत्तियों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की परम्परा प्रसाद जी को प्रबोध-चन्द्रोदय आदि नाटकों द्वारा प्राप्त हुई थी। रविन्द्रनाथ ने भी इसी के अनुरूप उसी वर्ष रक्त-करबी नामक नाटक मनोवृत्तियों का आधार बनाकर लिखा था। इस नाटक में भी वर्तमान विषाक्त सभ्यता एवं शासन-प्रणाली के दोषों का परिचय करवाया गया है।[1] फिर भी यह नाटककार की सर्वथा मौलिक कृति है क्योंकि इसमें इतिहास का रंचमात्र भी आग्रह नही है।

प्रस्तुत नाटकावलोकन से प्रतीत होता हैं कि लेखक भौतिक सभ्यता के विकास को मानवता के लिए अहितकारी समझता है। भौतिक-समृद्धि के साथ ही ऐसी राजनीति का विकास होता है, जिसमें स्वर्ण और विलास के लिए ईर्ष्या, मत्सर, हिंसा आदि अप्राकृतिक गुणों का पोषण होता हैं। कामना से विलास और लालसा का परित्याग करवा कर संतोष और विवेक आदि मंगलविधायक गुणों से उसका समागम करवाकर प्रसाद जी ने विश्व मांगल्य की कामना की हैं। यही इस नाटक का प्रतिपाद्य है।

फूलों के सुन्दर से द्वीप में एक छोटा सा मानव-समाज निवास करता है। कपास ओटकर, कृषि कार्य द्वारा सभी संतोष से स्वाभाविक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। महत्व और आकांक्षा की उत्सुकता वहां नही हैं। नियम, राजनीति, भय, ईर्ष्या, बन्धन एवं अभिशाप आदि से यहां के निवासी नितान्त अपरिचित हैं। ये द्वीप निवासी स्वयं को तारा की सन्तान कहते हैं। प्रकृति द्वारा इन्हें पिता के सन्देश प्राप्त होते हैं। समस्त निवासी उपासना-गृह में एकत्रित होकर उस पिता से प्रार्थना करते हैं। उपासना का नेतृत्व क्रम से सभी निवासियों को प्राप्त होता है।

इस समय उपासना का नेतृत्व कामना कर रही है। एक दिवस जब वह अपने ही विचारों में खोई हुई समुद्र-तट पर बैठी हुई थी, तभी एक विदेशी युवक विलास स्वर्ण पट्ट मस्तक पर धारण किए हुए, नाव द्वारा वहां आता है। उसे देख

---

१. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० २४०

कर कामना प्रसन्न हो उठती है। शनैः शनैः विलास स्वर्ण और मदिरा के चमत्कार द्वारा कामना को सम्पूर्ण रूप से अपने वश में कर लेता है। वह द्वीप निवासियों को असभ्य बताकर सभ्यता का प्रचार करना चाहता है और उसकी रानी कामना को भय आदि से परिचित करवाता है। वह स्वर्ण और मदिरा द्वारा उनमें तीव्रता उत्पन्न करवाता है। फलतः सारे द्वीप वासियों में ऐहिकता, विलासिता एवं नवीन आवश्यकताओं के लिए स्पर्धा होती है। इनकी पूर्ति के लिए हिंसा आवश्यक हो जाती है। मद्यपान, जीवहिंसा और कुविचार का ही सर्वत्र प्रसार हो जाता है। संतोष और विवेक की बातों को लोग पागल समझते हैं। शांतिदेव की हत्या हो जाती है, करुणा व्याकुल हो वन का आश्रय-ग्रहण करती है। उक्त द्वीप पर शासन करने वाली रानी कामना का भी हृदय चंचल है। सन्तोष के पूछने पर वह यही उत्तर देती है कि मेरे दुःखों को पूछ कर मुझे और दुखी न बनाओ। सेनापति विलास किसी अन्य व्यक्ति की पत्नी को पकड़ लेता है। स्वयं उसकी पत्नी लालसा किसी अन्य युवक के साथ सहर्ष चली जाती है। शांति देव की मृत्यु के पश्चात् मद्यप करुणा का पीछा करते हैं। विवेक उसकी रक्षा करता है। भूकम्प के कारण वह मद्य-नगर नष्ट हो जाता है और कामना पुनः अपने पिता विवेक की कोड़ में आश्रय लेती है। विलास से पीड़ित जनता उन्हें अपने देश से निकाल देती है। विलास और लालसा एक नाव पर आरूढ़ होते हैं, जिसे जनता स्वर्ण फेंक २ कर भर देती है। सभी मद्यप पात्र तोड़ डालते हैं। इस भांति विलासी सभ्यता का द्वीप से निष्कासन होता है और पुनः नैसर्गिकता की ओर प्रत्यावर्तन होता है।

प्रसाद की प्रतिभा मूलतः सौन्दर्यवादी है। उनकी वृत्ति मधुमयी है। यदि वर्तमान राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष एवं शोषण से घबराकर उनका मन प्रकृति की सौन्दर्यमयी शांत क्रोड़ में विश्राम करना चाहे तो कोई आश्चर्य नहीं, कृत्रिमता और कुरूपता से स्वाभाविकता और सुन्दरता की ओर आह्वान ही 'कामना' का उद्देश्य है।

जनमेजय का नागयज्ञ

अजातशत्रु से चार वर्ष पश्चात् इस नाटक की रचना प्रकाशित हुई थी। शिल्प की दृष्टि से यह नाटक उनकी रचनाओं के सन्धिकाल का नाटक कहा जा सकता है। इससे पूर्व राज्यश्री, विशाख और अजातशत्रु की रचनाएं हो चुकी थीं स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी आदि इसकी परिवर्ती रचनाएं हैं।

नागयज्ञ की कथावस्तु महाभारत में से उद्धत की गई है। महाभारत में जनमेजय की तक्षशिला-विजय एवं नाग-जाति के संहार के साथ ही ब्रह्महत्या के पश्चाताप स्वरूप अश्वमेघ यज्ञ का विवरण उपलब्ध होता है। लेखक ने प्रायः सभी नाटकों में इतिहास की शुद्धता का ध्यान रखा है। इस नाटक की भूमिका में

लेखक ने लिखा है 'इस नाटक में ऐसी कोई रचना नहीं जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो। घटनाओं की परम्परा ठीक करने में नाटकीय स्वतन्त्रता से अवश्य कुछ काम लेना पड़ा है, परन्तु उतनी से अधिक नहीं जितनी किसी ऐतिहासिक नाटक लिखने में ली जा सकती है।'

कथा का सम्बन्ध आर्य और नाग जाति के संघर्ष से है। नाग जाति सरस्वती तट पर निवास करने वाली भारतवर्ष की एक प्राचीन जाति थी। भरत जाति के आर्यों द्वारा उन्हें खाण्डव वन की ओर खदेड़ दिया गया। वहां भी अर्जुन ने उन्हें नहीं रहने दिया। खाण्डव-दाह के समय नाग जाति का नेता तक्षक भाग गया। महाभारत के युद्धोपरान्त परीक्षित ने शृङ्गी ऋषि का अपमान किया। तक्षक ने काश्यप के सहयोग से परीक्षित की हत्या करवा दी। इन्ही परीक्षित का पुत्र नाटक का नायक जनमेजय है। सम्राट् जनमेजय के हृदय में पितृहत्या का स्मरण कर नागों के प्रति विद्वेषाग्नि प्रज्जवलित हो रही है। इसके शमन के लिए नाग-दमन ही अभीष्ठ है। वे कहते हैं 'अश्वमेध पीछे होगा पहले नागयज्ञ करूंगा।' इसी प्रकार तक्षक के हृदय में भी प्रतिहिंसा उद्दीप्त है। यहीं से आर्य-नाग संघर्ष के सूत्रपात के साथ ही नाटक आरम्भ होता है।

द्वारकाध्वंस के पश्चात् जब अर्जुन यादवियों के साथ इन्द्रप्रस्थ जा रहे थे, उसी समय नागों ने अभीरों की सहायता से यादवियों को अपहृत कर लिया। कतिपय यादवियों ने स्वेच्छा से ही नाग-वीरों का वरण कर लिया था। कुकुर वंश की यादवी सरमा ने भी इसी प्रकार नाग सरदार वासुकी को आत्मसमर्पण कर दिया था। फलस्वरूप उसके माणवक नामक पुत्र ने जन्म लिया। उसका हृदय आर्य-नाग सहयोग के लिए उत्कण्ठित है, परन्तु वह अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हो पा रही है। इसकी प्रतिद्वन्दिनी मनसा ने ऋषि जरत्कारु से विवाह किया था। उनका एक पुत्र आस्तीक है। मनसा के हृदय में नाग जाति की वीरता एवं शौर्य के लिए अभी भी एक अभिमान भरा हुआ है। सुन्दर अतीत की स्मृतियों के साथ उसने राजरानी बनने की मधुर अभिलाषाओं को संजो रखा है।

नाग जाति की आर्यों के प्रति घृणा के कारण सरमा अपने पुत्र माणवक सहित इन्द्रप्रस्थ चली जाती है। पति-परित्यकता मनसा वासुकी की बहन होते हुए भी सरमा को जाने से रोकती नहीं। परन्तु वहां भी अनाथ होने के कारण उसका और माणवक का अपमान होता है। जनमेजय के भाई भूल से यज्ञशाला में प्रवेश करने के कारण माणवक को पीट देते है। उस पर आरोप लगाया जाता है कि उसने घृत पात्र को झूठा कर दिया। जनमेजय और रानी वपुष्टमा से न्याय-याचना करने पर उनका अपमान किया जाता है कि आर्यललना होकर नागजाति से विवाह करने वाली पतिता स्त्री को पवित्र आर्यों पर आरोप लगाने का कोई अधिकार नहीं है।

स्वजातियों से भी अपमानित होकर वह क्रोध में काश्यप को चेतावनी दे जाती है कि लोलुप पुरोहित राज्य की रक्षा न कर सकेंगे। माणवक जनमेजय से गुप्त हत्या द्वारा प्रतिशोध लेना चाहता है। परन्तु सरमा इसका निषेध करती है। फलतः माणवक उसे छोड़ देता है। सजातियों एवं पुत्र से भी परित्यक्ता सरमा विशेष परिस्थितियों में वासुकी से सुलह कर लेती है।

इसी के साथ-साथ ऋषि वेदव्यास और उनकी नव यौवना पत्नी दामिनी की प्रासंगिक कथा चलती है। दामिनी उनके शिष्य पर मुग्ध है, परन्तु उत्तंक तटस्थ भाव से उसकी आज्ञाओं का पालन करता रहता है। परिस्थितियों को परिलक्षित कर वेदव्यास उत्तंक को विद्याध्ययन समाप्त हो जाने के कारण सहर्ष घर जाने की अनुमति दे देते हैं। गुरुदक्षिणा में दामिनी रानी वपुष्टमा के मणिकुण्डल मांगती है, जिन्हें जनमेजय ने राजा तक्षक से छीना था। काश्यप के विरोध करने पर भी रानी उत्तंक को कुण्डल दे देती है। मार्ग में तक्षक उसकी हत्या करना चाहता है, किन्तु सरमा उसे बचा लेती है। दामिनी उत्तंक को स्वयं कुण्डल पहनाने के लिए उत्तेजित करती है, परन्तु उत्तंक उसे माता के तुल्य बताकर चला जाता है।

द्वितीय अंक में नवीन पुरोहित की खोज में जनमेजय ऋषि जरत्कारु के आश्रम में जाता है। वहां उसकी भेंट तक्षक की पुत्री मणिमाला से हो जाती है, वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। मणिमाला भी जातिगत विद्वेष होते हुए भी उधर आकृष्ट हो जाती है। इसका कारण सरमा के विश्व मैत्री के उपदेश को समझती है। जनमेजय उग्रश्रवा के पुत्र सोमश्रवा को नवीन पुरोहित पद प्रदान करता है। ऋषि च्यवन उसे धर्म के श्रेय और कल्याणमय स्वरूप का उपदेश देते हैं। दामिनी उत्तङ्क से चिढ़कर कुण्डलों का लालच देकर पहले से ही शंकित तक्षक से जा मिलती है। उत्तंक नागों एवं काश्यप के कुचक्रों से परिचित है। वह जनमेजय को अश्वमेध और नागयज्ञ करने की ओर प्रेरित करता है। जनमेजय अश्वमेध से पूर्व ही नागयज्ञ की प्रतिज्ञा करता है। दामिनी नागों के पापचक्र से घबरा जाती है, उसे बचाने में मणिमाला उसकी सहायता करती है।

तक्षक, वेद, काश्यप, सरमा आदि नाग और ब्राह्मण मिल कर जनमेजय के विरुद्ध विद्रोहाग्नि प्रज्वलित करना चाहते हैं। परन्तु सरमा केवल काश्यप-विरोधी है। काश्यप रहस्योद्घाटन के भय से उसका वध करना चाहता है। परन्तु ठीक अवसर पर तक्षक के चंगुल में मनसा द्वारा बचा ली जाती है। मनसा द्वारा समाचार प्राप्त होता है कि जनमेजय ने तक्षशिला पर आक्रमण किया है और नाग फंस गए हैं। सरमा पति चिन्ता के कारण दासी वेश में तक्षशिला पहुंच जाती है। तक्षक भी मनसा की सहायता से गुप्त मार्ग से वहां पहुंच जाता है। भयंकर पराजय एवं नागों के बन्दी बन जाने के कारण वह कुछ भी कर सकने में असमर्थ है।

माणवक एक बार दासी रूप में गुप्तावास करने वाली मां को देखना चाहता है।

तृतीयांक में वेदव्यास ब्रह्म-हत्या और नाग हत्या के अपराध-निवारण-हेतु जनमेजय को यज्ञ करने का परामर्श देते हैं। जनमेजय उत्तंक और व्यास की प्रेरणा और आशीर्वाद से यज्ञ को धारण करता है। वह स्वयं अश्व के साथ गंधार चला जाता है। मनसा द्वारा उत्तेजित किए गए नाग अश्व को पकड़ लेते हैं और पराजित होते हैं। मणिमाला जनमेजय में अनुरक्त होने के कारण मनसा को भी विद्वेष-विरत करती है और दोनों घायलों की शुश्रुषा में लग जाती हैं।

विजयी जनमेजय पूर्णाहुति के साथ यज्ञ सम्पन्न करना चाहता है, परन्तु इस बार उसने काश्यप के स्थान पर शौनक को पुरोहित बनाया है। इस पर काश्यप बचे हुए नागों में तक्षक और वासुकी के साथ कुचक्र की रचना करता है। राज भवन में दासी वेश में छुपी हुई सरमा इसका आभास पा जाती है। माता द्वारा परित्यक्त आस्तीक वहां पहुंचता है। वह उसकी सहायता लेती है। पिता के कुचक्रों से परिचित, उसकी रक्षा की सम्भावना से मणिमाला भी वेश परिवर्तित कर वहां आजाती है। माणवक भी सम्मिलित हो जाता है। मूच्छित करके नागों द्वारा उठाकर ले जाती हुई रानी वपुष्टमा की माणवक रक्षा करता है। आर्यो और नागों के युद्ध में तक्षक और मणिमाला बन्दी बना लिए जाते हैं।

माणवक रानी को वेदव्यास के आश्रम में ले जाता है, जहां वेदव्यास उसकी प्रतिशोधाग्नि का शमन करते हुए समझते हैं कि अपने स्वजातियों से रक्षा ही सबसे बड़ी विजय है। ग्लानि से भरी हुई रानी वपुष्टमा भी सरमा से क्षमा याचना करती है।

एकमात्र बचा हुआ वासुकि किसी भी भांति आर्यो का अनिष्ट चाहता है, चाहे इससे वह स्वयं ही क्यों न नष्ट हो जाए। अभी ही मनसा के हृदय में स्त्री-सुलभ करुणा करवट लेती है। वह अपमान जनक संधि-प्रस्ताव न रखते हुए भी व्यर्थ जन-क्षय के विरोध में है। इधर वपुष्टमा-वृत्तान्त को जानकर जनमेजय प्रतिहिंसा की क्रूर भावना से उत्तेजित हो जाता है। ब्राह्मणों के भी कुचक्र में सम्मिलत होने के कारण, वह ब्राह्मण-विरोधी बन कर सब ब्राह्मणों को निर्वासन दण्ड देता है। केवल उत्तंक को रख लेता है, क्योंकि उसे अभी नाग-यज्ञ करना है। प्रज्वलित अग्नि में नागों की आहुति दी जाती है। तभी वेदव्यास आकर उत्तंक की उच्च वृत्तियों को उत्साहित करते हैं। परन्तु जनमेजय प्रतिहिंसा में प्रमादी बन गया है। इस पर वेदव्यास के इंगित पर आस्तीक अपने पिता की हत्या का न्याय मांगता है और प्रतिकार स्वरूप शान्ति और नागराज की मुक्ति की मांग करता है। जनमेजय इसे स्वीकार कर लेता है। सरमा भी अपने और पुत्र के अपमान के प्रतिदान स्वरूप

मणिमाला को वधु रूप में स्वीकार करने का आग्रह करती है। जनमेजय इसे भी षड्यन्त्र समझ मणिमाला को घर्षित कह कर स्वीकार करना नहीं चाहता। वह वपुष्टमा की भी स्वीकृति चाहता है। वेदव्यास उसकी शंकाओं का उन्मूलन करते हुए मणिमाला को कमलवन से निकले हुए मलय-पवन के समान-शुद्ध बताते हैं। वपुष्टमा भी उसकी पवित्रता की शपथ सहित साक्षी देती है। जनमेजय तक्षक-पुत्री को स्वीकार कर लेता हैं। इस प्रकार आर्यों और नागों में मैत्री सम्पन्न होती है। ब्राह्मण-निर्वासन की आज्ञा लौटा ली जाती है। महर्षि वेदव्यास नवीन संस्कृति की घोषणा करते हुए ब्राह्मणों की विशुद्ध ज्ञानधारा द्वारा लोक-कल्याण और शान्ति की मंगल कामना करते हैं।

करुणा एवं प्रेम द्वारा विश्वमैत्री का संदेश देना ही इस नाटक का लक्ष्य निर्दिष्ट होता है। उस विश्वनियन्ता ने नाना रूपों में इस विश्व को आकार प्रदान किया है और सौन्दर्य और आकर्षण का ही प्रेम नाम से सबमें प्रसार किया है। वह हम सब में सुन्दर परछांई के समान आकर छिप गया है और फिर हमें आकार प्रदान किया है। अतः हम सब एक हैं। तू, मैं ही हूं। इस एकत्व की चेतना का वह प्रणय के मध्य विकास किया करता है। यही प्रणय और मैत्री का संदेश जनमेजय का नाग-यज्ञ प्रसारित कर रहा है।

उपन्यास

साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों को अपने प्रतिभा-प्रकाश से आलोकित कर अन्त में प्रसादजी ने उपन्यास के क्षीण कलेवर को भी अपनी भावनाओं से अनुप्राणित किया है। उपन्यासों की रचना उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम काल में की थी। 'ये इनके प्रौढ़ जीवन की रचनाएं है। इसलिए प्रसाद जी के उपन्यासों में एक प्रौढ़ लेखक की विशेषताएं विद्यमान हैं।'[१] अपने नाटकों द्वारा जहां उन्होंने मध्ययुगीन वैभव को चित्रित किया है, वहां अपने उपन्यासों में वे वर्तमान युग की ओर उन्मुख हुए हैं। प्रसादजी ने केवल तीन उपन्यासों का प्रणयन किया है–' 'कंकाल' 'तितली' एवं 'इरावती'। 'ईरावती के रचनाकाल में ही प्रसादजी ने इस पार्थिव जगत् से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था, अतः यह अपूर्ण ही रह गया है। उपन्यास-कला में प्रसाद उपन्यास-सम्राट से भी एक कदम आगे हैं।' कथावस्तु का चयन, उसकी संघटना तथा निर्वाह की दृष्टि से प्रसादजी के उपन्यास निर्दोष ठहरते हैं।'[२] प्रसाद ने अपने कथानकों का विकास भी नाट्य कला के आधार पर ही किया है, अतः उनमें कथा के विभिन्न प्रसंगों में सामंजस्य का अभाव नहीं है। विपुल पात्र-सृष्टि करते हुए भी

१. सुशीला देवी,' प्रसाद के उपन्यास और कहानियां,' पृ० २३
२. शिवनारायण श्रीवास्तव,' हिन्दी उपन्यास, पृ० १२९

प्रसादजी ने सबको व्यक्तित्व-विकास की स्वतन्त्रता प्रदान की है। 'निरंजन,' 'किशोरी,' 'विजय', 'घंटी,' 'तितली,' 'शैला,' एवं मधुवन आदि चरित्रों के अतिरिक्त उपन्यासों का क्षुद्रतम पात्र भी पाठक के मन पर एक स्थायी प्रभाव डाल देता है। इसमें प्रसाद ने ग्रामीण जीवन और समाज से सम्बन्धित अनेक समस्याओं के परिपार्श्व में नारी एवं धर्म की समस्याओं को भी उठाया है। इनके चित्रण में न तो वे पूर्णतः यथार्थवादी हैं और न ही आदर्शवादी। क्यों कि साहित्य न तो इतिहास है और नही धर्मोपदेशक।' 'साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसलिए असत्य घटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान लेती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओतप्रोत रहती है।'[1]

इसीलिए जहां प्रेमचन्दजी ग्रामीण समस्याओं को उठाकर उनके बारे में कोई नवीन संदेश नही दे सके, वहां प्रसाद ने नवीन समाज की समस्याओं के हल के लिए भी सुन्दर संदेश प्रसारित किया। सम्मिलित कुटुम्ब की समस्या पर विचार करते हुए वे कहते हैं--' मेरी सम्मति में जीवन को सभी तरह की सुविधा मिलनी चाहिए। यह मैं नहीं मानता कि मनुष्य अपने संतोष से ही सम्राट् हो जाता है, और अभिलाषाओं से दरिद्र। मानव जीवन लालसाओं से भरा हुआ सुन्दर चित्र है। इसका रंग छीन कर उसे रेखाचित्र देने से मुझे संतोष नहीं होगा। उसमें कहे जाने वाले पुण्य-पाप की सुवर्ण कालिमा, सुख-दुख की आलोक छाया और लज्जा, प्रसन्नता की लाली, हरियाली उद्भासित हो और चाहिए उसके लिए विस्तृत भूमिका जिसमें रेखाएं उन्मुक्त होकर विकसित हों।[2]

प्रसादजी का कवि-हृदय प्रेम और सौन्दर्य की ही सृष्टि चतुर्दिक देखना चाहता था। उन्होंने सम्पूर्ण मानव-जीवन को सुन्दर बनाने की चेष्टा की है। जहां सुन्दर है, वहां प्रेम अवश्यम्भावी है। उन्होंने प्रेम सम्बन्धी विविध प्रश्न उठाए हैं। प्रेमचन्द अपने अटूट संयम के कारण प्रेम की मधुरता का पान न कर सके, किन्तु प्रसाद तो प्रेम की महानता का दिग्दर्शन कराके, उससे परिचित होकर मानव-जीवन को संयमित तथा नियमित देखने की आकांक्षा रखते हैं। इसलिए उन्होंने इन्द्रदेव और शैला को प्रणय सूत्र में आबद्ध किया और यह सिद्ध कर दिया कि सच्चा प्रेम देश, जाति और वर्ण के बन्धनों से मुक्त होता हैं। मंगल और गाला को

---

१. महावीर अधिकारी, जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व, पृ०

२. जयशंकर प्रसाद, 'तितली,' पृ० १२५

प्रेम सूत्र में निबद्ध कर उसे सामाजिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। इनके उपन्यासों में दाम्पत्य जीवन की बड़ी मधुर झांकियां देखने को मिलती हैं। प्रेम की भावभूमि की जितनी भी भाव-भंगिमा है, जितने भी आरोह-अवरोह हैं वे सब प्रसाद साहित्य में भाषा-सौन्दर्य और कला-गौरव से पुष्ट मिलेंगे।'[1]

प्रसादजी ने अपने उपन्यासों में भारतीय नारी के सौन्दर्य को अक्षुण्ण बनाए रखने की चेष्टा की है। उपन्यासों में सौन्दर्य की साकार प्रतिमा तितली है। उनके सभी पात्र एक सत्-असत् के अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित हैं और अन्त में जो सत्य-सुन्दर है, उसकी विजय होती है। शैला इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

उपन्यासकार प्रसाद ने अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र दृश्य सौन्दर्य को भी अंकित किया है। प्राकृतिक दृश्य एवं जीवन-दृश्य दोनों ही मे रमणीयता एवं सरलता का मधुमय सामंजस्य है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:-' निर्धन किसानों में से किसी ने अपनी चादर को पीले रंग से रंग लिया है तो किसी की पगड़ी ही बचे हुए फीके रंग मे रंगी है। आज बसन्त-पञ्चमी है। सबके पास कोई न कोई पीला कपड़ा है। दरिद्रता में भी पर्व और उत्सव तो मनाए ही जाएंगे। मंहगू मेहतो के अलाव के पास भी ग्रामीणों का ऐसा ही झुण्ड बैठा था। जो की कच्ची वालों को भूनकर गुड़ मिलाकर लोग नवान कर रहे थे। चिलम ठण्डी नहीं होने पाती थी। एक लड़का जिसका कण्ठ सुरीला था वसंत गा रहा था—मदमाती कोयलिया डार डार।'[2]

इस प्रकार प्रसादजी ने भाषा, भाव, कलात्मक सौष्ठवादी सौन्दर्य संदानों के साथ उपन्यास क्षेत्र में भी पदार्पण किया और उसे अपूर्व कान्ति प्रदान की।

कंकाल:—

यह प्रसाद की प्रथम औपन्यासिक सृष्टि है। उन्होंने अभी तक या तो भारत के पूर्वकालीन गौरव के गीत गाए थे या अपनी कल्पनाओं को सजोकर पार्थिव जगत् का ध्यान न करते हुए, एक अलौकिक ससार हमारी आंखों के समक्ष उपस्थित किया था परन्तु कंकाल के कथानक एवं सौन्दर्य ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया कि वे वर्तमान से न तो विरक्त ही हैं और न विमुक्त। कंकाल के कथानक में कृतिकार ने समसामयिक भारतवर्ष की समस्त दुर्बलताओं को सर्वमंगल की ओर उन्मुख करते हुए उनका अपूर्व सौन्दर्य में पर्यवसान किया है। श्री चन्द्र अमृतसर के व्यवसायी हैं। सन्तान की कामना से उनकी पत्नी साधु सन्यासियों के चक्कर में पड़कर कुम्भ के मेले में जाती है। कुंभ के सबसे बड़े महात्मा, देवनिरंजन है, किन्तु बाल्यसखी

---

१. सुशीलादेवी:' प्रसाद के उपन्यासों की सामान्य विशेषताएं', पृ० ३१

२. जयशंकर प्रसाद: 'तितली,' पृ० १४२

किशोरी को देखते ही उनकी कामनाएं करवट लेने लगती हैं और वे पाशविक क्षुधा पर संयम रखने में असमर्थ रहते हैं। श्रीकान्त किशोरी के लिए हरिद्वार में ही व्यवस्था करके लौट जाते हैं। मठाधीश और किशोरी के प्रणय-परिणाम में किशोरी गर्भ धारण करती है व किसी प्रकार श्रीकान्त के साथ वापस चली जाती है। पीछे से किशोरी के साथ रहने वाली विधवा रामा निरंजन की मनोरंजन-सामग्री बनती है। फलस्वरूप रामा एक पुत्री तारा को जन्म देती है। साथ ही अमृतसर-निवास में छः मास उपरान्त ही किशोरी पुत्र-प्रसव करती है। इससे श्रीकान्त की किशोरी के प्रति घृणा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है और अन्त में पुनः किशोरी के निर्वाहार्थ व्यय की निश्चित व्यवस्था कर श्रीकान्त उसे काशी छोड़ आते हैं। वहां देवनिरंजन भी कभी कभी आते हैं।

पंद्रह वर्ष पश्चात् काशी में ग्रहण के समय मेले में विधवा रामा निरंजन के भण्डारी के साथ सधवा होकर तारा सहित वहां आई, किन्तु भीड़ के धक्के में माता से च्युत होकर तारा एक वेश्या के हाथों में पड़ जाती है। मंगलदेव नामक युवक स्वयंसेवक संकोचवश उसे बचा न सका, किन्तु उसी वेश्या के यहां पहुंच कर वह तारा के आकर्षण में बंध गया। फलतः एक दिन तारा मंगल के साथ भाग गई। किन्तु विवाह के लिए प्रस्तुत मंगल को जब चाची नन्दो द्वारा यह पता लगा कि तारा दुश्चरित्रा स्त्री की पुत्री है, वह उससे घृणा करने लगा और उसी दिन चुपचाप वहां से भाग गया।

अनाथ गर्भवती तारा इस्ततः भटकती हुई आत्महत्या के लिए तत्पर होती है, किन्तु एक सन्यासी उसे समझाता है कि आत्महत्या पाप है। अन्त में असफल होकर अस्पताल में एक पुत्र को जन्म देती है।

एक दिन किशोरी के पुत्र विजयचन्द्र को घोड़े पर से गिरते हुए मंगलदेव बचा लेता है। तब ही से विजय एवं मंगल में मित्रता हो जाती है और वह आर्थिक कठिनाइयों के कारण उन्हीं के साथ रहने लगता है। उस भण्डारे वाले दिन एक क्षुधा-पीड़ित दुर्बल नारी बाहर जूठन की पत्तलों को लूटते हुए भिखमंगों को देखकर विचलित हो जाती है, परन्तु 'भगवान तुम अन्तर्यामी हो' कहकर ही उसे अलम् करना पड़ता है। यह यमुना नामक स्त्री भी किशोरी के आश्रम में ही रहने लगी है। उसके हृदय में नाना प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासाएं उद्भूत होती रहती है।

एक दिन बजरे पर सैर करते समय मंगल छद्मनामधारिणी यमुना को पहचान लेता है। किन्तु तारा अपने इस पूर्व परिचय को सबके सामने प्रकट करने से मना करती है, क्योंकि इसी में उनकी भलाई है। दोनों को सम्भाषण करते हुए देखकर विजय की क्षोभ के कारण आँखें लाल हो जाती है और उसे ज्वर हो जाता

है। मंगल भी अपनी भावनाओं के वेग पर संयम न कर सकने के कारण भाग जाता है।

विजय के सम्पर्क में बाल-विधवा परिहास-प्रिय घंटी आती है। विजय यमुना के सम्मुख अपना आकर्षण प्रकट करता है परन्तु यमुना प्रणय निवेदन को अस्वीकार करते हुए बहन का सा पवित्र संरक्षण मांगती है। अतः विजय घंटी की ओर झुकता जाता है, यहां तक कि वह घंटी से परिणय सम्बन्ध के लिए प्रस्तुत होता है, किन्तु यमुना इसका निषेध करती है।

घटनाक्रम से विजय घंटी एवं मंगल का सम्बन्ध एक चर्च के पादरी बाथम से होता है। जिसके पास लतिका एवं सरला नामक स्त्रियां चर्च में रहती है। वहीं यह रहस्य भी उद्‌घाटित होता है कि मंगल सरला का पुत्र है। घंटी को विजय से विलग करने का षड़यन्त्र रचा जाता है। नौकाविहार के समय ये षड़यन्त्रकारी सम्मुख प्रकट होते हैं। विजय एक मनुष्य का गला दबा देता है। खून हो गया है, तुम यहां से हटो, कहता हुआ बाथम घंटी को लेकर चला जाता है। स्नान के लिए आई हुई यमुना और पहले से ही उपस्थित निरंजन उसे भाग जाने के लिए बाध्य करते हैं।

भागकर विजय एक डाकू बदन गूजर के यहां आश्रय प्राप्त करता है। डाकू की मुसलमान स्त्री से उत्पन्न पुत्री गाला की विजय से घनिष्ठता को परिलक्षित कर, वह विजय से गाला के सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखता है, किन्तु गाला अपने ही आश्रित से विवाह स्वीकार नहीं करती।

एक दिन मार्ग में मंगल की गाला और उसके पिता से भेंट होती है। वे मंगल की पाठशाला का निरीक्षण करते हैं और गाला उसके विकास में सहायता देना स्वीकार कर लेती है और उसके निरीक्षण में पाठशाला का काफी विस्तार होता है।

न्यायालय में यमुना विजय को बचाने के लिए स्वयं को दोषी बताती है, परन्तु निर्दोष समझकर छोड़ दी जाती है। निरंजन भी इस मुकदमें में पर्याप्त आर्थिक सहायता करता है। वही अपने प्रयत्न द्वारा गाला और मंगल का विवाह करवाता है। किशोरी श्री चन्द्र के साथ ही रहती है। निरंजन उससे अपने कृत्य की पत्र लिखकर क्षमा-याचना करता है। किन्तु उसके मन में शान्ति नहीं है। उसे अपने दत्तकपुत्र मोहन से सन्तोष नहीं है, वह बार-बार विजय के लिए ही व्याकुल रहती हुई रोग-शैया पर पड़ जाती है। यहां यमुना पुनः दासी रूप में प्रकट होती है एक और रहस्योद्‌घाटन होता है कि मोहन यमुना का ही पुत्र है।

कालक्रम से एक एक करके मंगल, यमुना, गाला, लतिका, सरला निरंजनादि

गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में प्रविष्ट होते हैं और वहां एक 'भारत संघ' का निर्माण करते हैं, सेवाधर्म जिसका प्रधान उद्देश्य है।

विजय कंगालों की श्रेणी में अपने दिन काटता है। किशोरी की मरणावस्था बताकर यमुना विजय को श्रीकान्त के यहां लिया लेजाती है। विजय किशोरी को देख-कर लौट आता है। उस दिन भारत संघ का जलूस निकल रहा था। मंगल, गाला, निरंजन, श्री चन्द्रादि सभी उपस्थित थे कि घंटी ने एक शव की दीन दशा की ओर मंगल को संकेत किया।

'मंगल ने देखा एक स्त्री पास ही मलिन वसन में बैठी है। उसका घूंघट आंसुओं से भीग गया है, और निराश्रय पड़ा है एक-कंकाल।'

कंकाल के कथानक के मध्य ही स्त्री-पुरुष-सौन्दर्य का अंकन करते हुए प्रसादजी ने सौन्दर्य के मंगल में पर्यवसान की कामना की है। उन्होंने एक ओर बाह्य सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है दूसरी ओर अन्तः करण की रमणीयता पर भी विशेष ध्यान दिया है। मंगल देव कहता है—' सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा है। शारीरिक और आलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है, चरम सौन्दर्य मानसिक सुधार का है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस उपन्यास के सभी पात्र वर्ण-शंकर एवं जारज है, परन्तु फिर भी चित्रण में अश्लीलता का स्पर्श मात्र तक नहीं है।

तितली

प्रसादजी की उपन्यास कला का द्वितीय आयाम है। प्रस्तुत उपन्यास में दो विरोधी संस्कृतियों का भेद स्पष्ट करते हुए उनके समन्वित रूप के सौन्दर्य को चित्रित किया गया है। जहां कंकाल के पात्र शीघ्र ही पतन की ओर उन्मुख हो जाते हैं, वहां तितली का प्रत्येक पात्र अपने आदर्शों को भलीभांति सजोए रखने का प्रयत्न करते है। लेखक ने सभी प्रकार की ग्राम्य-जीवन की समस्याओं को उठाया है और उनका रचनात्मक हल भी प्रस्तुत किया हैं।

धामपुर के जमींदार इन्द्रदेव विदेश से शिक्षा प्राप्त कर भारत लौटते हैं। उनके साथ वहीं की एक अनाथ परिचारिका शैला भी आती है। शैला और इन्द्रदेव दोनों ही विदेशों में रह कर भी भारतीयता से ओतप्रोत है। उनका विचार शैला से विधिवत् विवाह करने का है।

शेरकोट और बनजरिया दोनों ही धामपुर इलाके में ही हैं। शेरकोट के समीप ही कुछ बंजर भूमि, जो बनजरिया नाम से विख्यात है, उसमें बाबा रामनाथ अपनी पालित-पुत्री तितली के संग रहते हैं। तितली के जन्म की गौरवमयी गाथा है। तितली और मधुबन में घनिष्ठ सौहार्द है, जो शनैः शनैः प्रेम में परिवर्तित हो जाता है।

इन्द्रदेव की माता श्यामदुलारी निरन्तर अस्वस्थ रहने के कारण छावनी में ही रहने आ जाती हैं, उनके साथ उनकी पति-परित्यक्ता पुत्री माधुरी और उसका पुत्र भी है। शैला ने अपने मधुर व्यवहार से सबका मन मोह लिया है। वह इन लोगों की सुविधा का विचार कर कोठी खाली कर देती है। अनवरी येन केन प्रकारेण शैला का स्थान ग्रहण करना चाहती है। इसके लिए वह माधुरी को उकसाती है कि इन्द्रदेव का विवाह तितली से होना चाहिये।

एक दिन वाटंली की नील की कोठी का रहस्य खुलता है कि शैली की माता जैन यहीं रहती थी। यह जानकर शैला इन्द्रदेव से कह कर नील की कोठी में अपने रहने का प्रबन्ध करवाती है। वहीं पर रहते हुए वह ग्राम-सुधार एवं संगठन का प्रयत्न करना चाहती है। वह एक अस्पताल खोलती है एवं बैंक और पाठशाला का प्रबंध भी वहीं होता है। इसके लिए एक विशाल आयोजन होता है, उसमें माधुरी के पति श्यामलाल भी सम्मिलित होते हैं। इसी समय बाबा रामनाथ राजो के विरोध करते रहने पर भी मधुवन और तितली को प्रणय-बन्धन में बांध देते हैं। शैला भी. जो बाबा रामनाथ से हितोपदेश पढ़ा करती थी, इसी अवसर पर हिन्दू धर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेती है।

इन्द्रदेव ने शैला से शहर चलकर जीवन आरम्भ करने का अनुरोध किया, किन्तु संयमशीला एव ग्राम-दुख-कातरा शैला ने अस्वीकार कर दिया। उन्हें शैला के सहयोगी वाट्सन पर संदेह हुआ। इन्द्रदेव की विरक्ति के कारण असफल अनवरी श्यामलाल के साथ संबंधस्थापित कर लेती है। इससे और भी अधिक ऊबकर इन्द्र-देव घर छोड़ जाते है। अनवरी भी श्यामलाल के साथ भाग जाती है। शैला श्याम-दुलारी के साथ उनकी सम्पत्ति की अधिकारिणी माधुरी कोबनाने के लिए सहायतार्थ उनके साथ बनारस जाती है। नील की कोठी की देखरेख मधुवन पर छोड़देती है।

तहसीलदार और सुखदेव चौबे मधुवन के प्रतिरोधी हैं। उनकी कड़ाई और अत्याचार से किसान बहुत व्याकुल हो रहे हैं। खेत सब चौपट हो रहे हैं। रामजस का खेत भी बेदखल हो गया है। क्रोध में उसने खेती की होली जला डाली, फल-स्वरूप झगड़ा हो जाता है।

शेरकोट और बनजरिया का भी बेदखली का मामला है। पैरवी के धन के लिए मधुवन और राजो बिहारी जी के पुजारी के पास रुपये मांगने जाते हैं। राजो की दयनीय स्थिति का लाभ उठाकर महंत उसके सम्मुख अशोभन प्रस्ताव रखता है। बहन के अपमान से प्रेरित मधुवन पुजारी पर प्रहार करता है और रुपयों की थैली लेकर भाग जाता है।

मधुवन और रामदीन कलकत्ता जाकर कोयला ढोने लगते हैं। उसके पश्चात् वह रिक्शा खीचना आरम्भ करता है। रिक्शा चलाते हुए ही उसे दस वर्ष

का कारावास मिलता है। इधर तितली अनाथ-बालिकाओं की पाठशाला खोलकर राजो के साथ नितान्त आत्मनिर्भर रहते हुए, अपने पुत्र मोहन का मुख देख-देख कर जीवित है। उसके मन में बार बार एक ही आवाज उठती है--किसी भांति उनकी अमानत उन्हें सौंप कर मुक्त हो जाऊं। वह जीवन से बहुत अधिक निराश हो चुकी हैं। अन्त में आत्महत्या का निश्चय करती है कि जीवन की किरण मधुवन प्रकट हो जाता है।

निश्छल प्रणय-प्रसंग से आरम्भ होकर जीवन की अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करते हुए कथानक अन्त में अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन गया है। लेखक ने तितली के द्वारा सरल ग्रामीण सौन्दर्य का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति के पुजारी प्रसाद ने आंग्ल युवती में भी भारतीय संस्कारों का पवित्र प्रतिस्थापन किया है। संक्षेप में भारतीय संस्कृति को उसके सुन्दरतम स्वरूप में प्रस्तुत करने का यह स्तुत्य प्रयास है।

इरावती :

इरावती द्वारा प्रसादजी ने एक नवीन शैली का प्रवर्तनारम्भ किया था। हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य से यह कृति अपूर्ण ही रही। इरावती की कथावस्तु शुभवंश के प्रादुर्भाव एवं मौर्यकाल के अधःपतन से सम्बन्ध रखती है। पुष्यमित्र और अग्निमित्र दोनों मालववंश के हैं। उज्जयिनी में अग्निमित्र महाकाल की सुन्दरी नर्तकी इरावती पर मुग्ध हो जाता है। मगध-युवराज बृहस्पतिमित्र उनका मित्र है। विशेष अवसर पर इरावती महाकाल के मन्दिर में नृत्य प्रस्तुत करती है। बृहस्पतिमित्र इस सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। आत्मप्रवंचना द्वारा वह एक नवीन रूप की उद्भावना करता है। वह घोषणा करता हैं कि यह पूजन-पद्धति बौद्ध धर्मामात्य को कदाचित् पसन्द न हो। भिक्षु आनन्द इसका विरोध करता है। इसी समय युवराज के सम्राट् बनने की व मगधराज शतधनु के स्वर्गवास की सूचना प्राप्त होती है। बृहस्पतिमित्र इरावती के लिए हृदय में एक हलचल लिए अग्निमित्र के साथ मन्दिर से चला जाता है।

इरावती मन ही मन अग्निमित्र पर अनुरक्त है। सम्राट् के आदेशानुसार इरावती को कुक्कुटराम विहार में भेज दिया जाता है। विहार में इरावती स्वयं को परिवर्तित करना चाहती है। वह विशाख को अपना सहचर बनाती है। एक पूर्णिमा की रात्रि में उसके अन्तर की कला जागृत हो उठती है और बाण में विद्ध पत्र द्वारा उसे अग्नि मित्र के समीप ही होने का आभास मिलता है। वह उन्मत्त होकर नृत्य करने लगती है, जिसका समाचार सारे विहार में फैल जाता है। इरावती को लेकर भागने का असफल प्रयत्न करता हुआ अग्निमित्र राजसैनिकों द्वारा पकड़ लिया जाता है।

मगध में भी एक कुचक्र चल रहा है, जिसकी संचालिका मौर्य राजकन्या कालिंदी है। शतधनुष ने उसे मंगवाकर राजप्रसाद के अत्यन्त गुप्त भाग में रखवाया था। शतधनुष की मृत्योपरान्त वह स्वतन्त्र होजाती है। सिह पदों की एक ऐसी गुप्त संस्था से सन्धि कर लेती है, जिसका आतंक मगध पर छाया हुआ था। बृहस्पतिमित्र के पास गुप्त रीति से भेजी गई इरावती को यही कालिंदी मुक्त करवाती है। इधर कलिंगराज महामेघवाहन खारवेल मगध आता है। उसका उद्देश्य कलिंग की सोने की जिनमूर्ति को पुनः प्राप्त करना है। सिंहपद मगध के बौधराष्ट्र विरोधी हैं। परंतु वे देशभक्त भी हैं। वे महाश्रेष्ठि धनदत्त के यहां खारवेल को घेर लेते हैं। वहां भोजनायोजन है। वर्षा में भी निमन्त्रण के निर्वाह हेतु अग्निमित्र आया है। खारवेल से प्रसन्न होकर वह उसकी रक्षा का वचन देता है और युद्ध आरम्भ होने के साथ ही उपन्यास समाप्त हो जाता है।

'इरावती' जिस रूप में प्राप्त है उससे यह आशा की जाती है कि यदि वह पूर्ण होता तो ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में अनूठा होता। इस उपन्यास में उन्होंने अपने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। 'कामायनी में उन्होंने इस संसार को शिव का शरीर माना है। शिव ही एकमात्र प्रेम या आनन्द का तत्व है, शांति इस आनन्द का स्फुरण है।'[१] कामायनी में इसी आनन्द को प्राप्त किया है। इसी की चेष्टा इरावती में उपन्यास द्वारा की है।

प्रस्तुत उपन्यासों में रचयिता ने अपनी पूर्वाग्रह प्रणाली दार्शनिक विश्लेषण एवं रम्य कल्पना-वैभव-वर्णन आदि को छोड़ दिया है, जिनके द्वारा-कथा प्रवाह में अनायास ही अवरुद्धता आ जाती है। कथा-प्रवाह, चरित्र-चित्रण, देशकाल सभी में एक संयमित संगठन है। आचार्य नगेन्द्र जी ने इरावती उपन्यास की मार्मिक उपमा दिनकर की पंक्ति 'गीत अगीत कौन सुन्दर है' देते हुए गीत और अगीत के बीच की स्थिति अर्धगीत से दी है।[२]

---

१. रामनाथ सुमन, कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० २९६

२. नगेन्द्र: विचार और विश्लेषण, पृ०१४२

द्वितीय अध्याय

प्रसाद और सौन्दर्य

प्रसाद और सौन्दर्य

प्रेम और सौंदर्य के कूल-द्वय में महाकवि प्रसाद की साहित्य-सरिता अबाध गति से प्रवाहित हुई है। उसमें अवगाहन करने वाला सहृदय पाठक एक-एक डुबकी में शत-शत सौंदर्य के मौक्तिक बटोर कर ले आता है। साथ ही प्रेम के पवित्र जल से उसका मानस पावन हो जाता है।

प्रसाद ने ही इस सरिता का अवरुद्ध बांध तोड़कर अन्य कवियों की मानस-निर्झरणी को भी उन्मुक्त प्रवाह का अवसर प्रदान किया। प्रेम और सौंदर्य का यह युग साहित्य के इतिहास में छायावाद के नाम से अभिहित किया जाता है। इससे पूर्व रीतिकाल में सौंदर्य नारी के अंग-विन्यास एवम् उसकी वासनात्मक भावभंगिमाओं तक ही सीमित था। नायक-नायिका-भेद एवं केलि (कौतुहल) की क्रीड़ा में ही प्रेम की इति श्री हो जाती थी। शृंगार रीति की कारा में बद्ध मुक्ति के लिए छटपटा रहा था।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शृंगार की इस दयनीय स्थिति को परिलक्षित किया। उन्होंने उसे रीतिकालीन पंक्लिता से उबारने के सफल प्रयास किये। किन्तु पुनः स्खलन के भय से उसे आदर्शों की प्राचीर से दूर भी नहीं जाने दिया। उनके अनुशासन के कारण नारी के कामिनी रूप को स्पर्श तक करने में कवियों को भय लगता था। उन्होंने नारी का उसके आदर्श रूप में ही चित्रण किया है। प्रेमिका लोकोपकार एवं समाज-सेवा में ही प्रियतम के प्रेम का आभास पा लेती है।[1] भाभी की भगिनी होने के कारण पति पत्नी को उपभोग्या न समझ-

---

१. निष्कामी है प्रणय-शुचिता-मूर्ति है सात्विकी है।
होती पूरी प्रमिति उसमें आत्म-उत्सर्ग की है॥

प्रियप्रवास, षोडस सर्ग, पृ० २४७

प्यारे आवें सु-नयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठण्डे होवे नयन—दुःख हों दूर मैं मोद पाऊं।
ये भी हैं भाव मम उर के और ये भाव भी हैं,
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें॥

प्रियप्रवास, षोड़स सर्ग, पृष्ठ २५३

कर आराधना की वस्तु मानता है। आचार्य होने के कारण द्विवेदी जी ने भाषा के परिष्कार पर भी विशेष बल दिया। संस्कृतिनिष्ठ, शुद्ध, परिमार्जित एवं व्याकरण-सम्मत भाषा के लिए उनका विशेष आग्रह रहा। फलतः हृदय की कोमल वृत्ति शृंगार की सरिता सूखने लगी, अनुभूति का स्थान भाषण ने ले लिया और रस और आनन्द के स्थान पर इतिवृत्तात्मकता का साम्राज्य हो गया। बौद्धिक धारणाओं एवं तर्कशीलता के कारण हृदय की प्रवृत्त अनुभूतियों का मार्ग अवरुद्ध हो गया। कवियों के हृदय में अनुभूतियां अभिव्यक्ति की घुटन लिए सिसकने लगीं और अवसर पाकर पुनः सारे आदर्शों के अवरोध तोड़ कर निकल पड़ीं।

द्विवेदी युग की वस्तुपरक स्थूलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही छायावाद के रूप में प्रतिफलित हुई। इसीलिए इसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी कहा जाता है। छायावादी साहित्य सूक्ष्म सौंदर्य-चेतना से ओत-प्रोत है। विशेष रूप से नारी-भावना का इस युग में बहुत ही उन्नयन हुआ है। इस युग की नारी न तो रीतिकालीन शारीरिक सौंदर्य एवं उपभोग की लालसा लिए हुये है और न ही द्विवेदीकालीन आदर्शों के मोटे वस्त्र धारण किए हुए है। वह तो शुद्ध मानवी प्रेयसी है, जो अपना शृंगार प्रकृति के उपकरणों से करती है। उसके हृदय में मानवीय प्रणय स्पंदित हो रहा है। इस प्रकार यह लौकिक प्रणय प्रकृति के उपकरणों से सुसज्जित होकर अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत हुआ है। यह प्रणय अपने उज्जवल स्वरूप के कारण प्रेयसी की पूजा-सी प्रतीत होता है। प्रकृति की क्रोड़ में पल्लवित यह प्रणय प्रायः उस उच्च धरातल को स्पर्श कर लेता है, जहां यह लौकिकता से परे आध्यात्मिक प्रणय की अनुभूति प्रतीत होता है।

इस असाधारण सौंदर्यभूमि पर स्थित प्रकृति और मानव-जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप को लक्षित कर आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने छायावाद की व्याख्या इस प्रकार से की है :—

"मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"[1]

कहना न होगा कि केवल भावना एवं अनुभूति के क्षेत्र में ही नहीं, शिल्प के क्षेत्र में भी इस युग में एक विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।

अनुभूति की सूक्ष्म भावव्यंजना के लिए एक विशेष अभिव्यक्ति कौशल अपेक्षित था। प्राचीन प्रचलित अलंकार, छन्द आदि काव्य के उपकरण सजीव अनुभूति को व्यक्त करने के लिएं पर्याप्त नहीं थे। इन स्वच्छन्द साहित्यिकों ने

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १६३

समस्त शास्त्रीय बन्धन तोड़ फेंके। अब न छन्द का बन्धन था, न भाषा के परिमार्जन का अनुशासन। अतः काव्य में एक ऐसी अभिनव शैली का निर्माण हुआ, जो कवियों की कोमल अनुरागमयी अनुभूति के अनुरूप थी। संक्षेप में ध्वनि-सौन्दर्य, लाक्षणिक चमत्कार, रमणीय प्रतीकात्मकता तथा उपचार-वक्रता छायावाद के अभिव्यक्ति पक्ष की विशेषतायें हैं।

ऐसे ही विद्रोहोन्मुख युग का निर्माण करने के लिए प्रसाद का आविर्भाव हुआ। उन्होंने अपने युग को चेतना एवं वाणी प्रदान की। फलतः द्विवेदीजी की आदर्श प्रिया "सरस्वती" ने इस स्वछन्द प्रवृत्ति वाले भावुक साहित्यकार की उपेक्षा की। अतः प्रसाद जी ने अपने स्वकीय पत्र 'इन्दु' का, प्रकाशन प्रारम्भ किया। वे स्वयं इसमें नियमित रूप से लिखते रहते थे। उन्होंने हिन्दी, संस्कृत एवं वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन एवं अनुशीलन किया और इतिहास एवं दर्शन की बहुत दूर तक खोजबीन की। इन सबका मन्थन करके उन्होंने साहित्य एवं कला के सम्बन्ध में अपनी मौलिक मान्यताओं को प्रस्तुत किया, जो नवीन होते हुए भी शास्त्र-विरोधनी नहीं है क्योंकि "उनका आधार शास्त्र ही है। शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और मानव मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छान कर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रमाणिक कहने के लिए साहस चाहिये।"[१]

उन्होंने साहित्य एवं कला की स्वतन्त्र विवेचना करते हुए साहित्य को कला से श्रेष्ठ माना है। कला को उन्होंने उसके व्यापक रूप में स्वीकार न करके उसकी गणना भारतीय विचारधारा के अनुरूप उपविद्या में की है।[२] कला को उन्होंने बाह्य कौशलमय आकार-प्रकार तक ही सीमित कर दिया है। अतः उसे उन्होंने छन्द-रचना और समस्यापूर्ति के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है। किन्तु साहित्य केवल समस्यापूर्ति अथवा छन्द-निर्माण ही नहीं है। उसका तो हृदय की रागात्मिका वृत्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। साहित्य ही सृष्टि के विभिन्न प्राणियों तथा जड़-चेतन पदार्थों में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करवाता है। उन्होंने कहा भी है—"कवित्व वह वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से कौन कराती है? कविता ही न?"[३] यही समझकर उन्होंने कला को

---

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, भूमिका, पृष्ठ ७

२. वही, पृष्ठ ४२ कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है।

३. जयशंकर प्रसाद, स्कन्दगुप्त, पृ० २०

विज्ञान के अधिक निकट माना है। क्योंकि "उसकी रेखायें निश्चित सिद्धांत तक पहुंचा देती है। सम्भवतः इसीलिए काव्य-समस्यापूर्ति इत्यादि कलायें भी छन्द-शास्त्र और पिंगल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या कला के अन्तर्गत मानी गयी है। छन्द-शास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान अथवा शास्त्र का विषय है?[1] उन्होंने शिव-सूत्र विमर्शिनी के आधार पर कला को इस प्रकार प्रमाणित किया है :—

'कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रभातरि कलनमेव कला' अर्थात्—नव नव स्वरूप–प्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।[3]

जहा पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्री क्रोचे अभिव्यक्ति को ही कला का सर्वस्व मानता है, वहां प्रसाद जी कला को, संकुचित कर्त्तव्य शक्ति मानते हुए, अभिव्यक्ति का वाह्य स्वरूप स्वीकार करते हैं। क्रोचे के अनुसार कला एवं सौंदर्य न तो भावात्मक है और न ही वस्तुपरक। सृष्टा के मन में जो भी अभिव्यक्ति हो गई, वही सुन्दर है। यह भी आवश्यक नहीं है कि इस अभिव्यक्ति का वाह्य व्यक्तिकरण होना ही चाहिये। चित्रकला, मूर्तिकला, शब्द एवं रेखाएं आदि उनके स्थूल संकेत मात्र हैं। वास्तव में तो अभिव्यंजना सक्रिय मन में ही पूर्ण हो जाती है। वाह्य व्यक्तिकरण का कार्य कवि कर्म से स्वतन्त्र है। क्रोचे अभिव्यक्ति मात्र को पूर्ण कला मानने के कारण कलाओं का वर्गीकरण भी स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि वाह्य भेद गौण हैं, अभिव्यक्ति ही प्रमुख है।

प्रसादजी वाह्य अभिव्यक्ति को ही कला स्वीकार करते हैं। वे अभिव्यक्ति को गौण एवं अनुभूति को प्रमुख मानते हैं। अनुभूति से ही साहित्य का निर्माण होता है। अनुभूति अपने प्रकृत स्वरूप में भी सुन्दर होती है। उसके लिए छन्द. अलंकार आदि का कलात्मक उपकरण आवश्यक नही हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "कला की आत्मानभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नहीं, अनुभूति के लिऐ शब्द-विन्यास कौशल तथा छन्द आदि भी अत्यन्त आवश्यक नहीं।"[4]

इस अनुभूति की गहनता पर ही साहित्य का सौन्दर्य निर्भर करता है। सुन्दर के दो पक्ष में हैं—अनुभूति एवं अभिव्यंजना। अनुभूति का विकास ही

---

१. वही, पृष्ठ

२. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३९

३. वही, पृ० ४२

४. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४३

अभिव्यंजना है। व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिमा का स्वयं परिणाम है क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यस्त देखते हैं।[1] अतः अनुभूति ही सुन्दर है और अभिव्यक्ति उसका परिणाम। अनुभूति की मात्रा के अनुसार ही अभिव्यक्ति भी सुन्दर हो उठती है। जहां अभिव्यक्ति कुछ अस्पष्टता अथवा प्रभावहीनता प्रतीत हो, वहां अनुभूति की अपूर्णता ही समझनी चाहिए। इसकी पुष्टि के लिए सूर और तुलसी के काव्य की वात्सल्याभिव्यक्ति की तुलना करते हैं। वात्सल्य की जितनी सफल एवं प्रभावोत्पादक अभिव्यंजना सूर ने की है उतनी तुलसीदास अपनी सम्पूर्ण विदग्धता द्वारा भी नहीं कर पाए। सूरदास के शिशु गोपाल की वृन्दावन की लीलाएं जितनी अधिक सुन्दर बन पड़ी हैं, उतना महाभारत के श्रीकृष्ण का चरित्र नहीं। इसका प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता :—

दोनों कवियों के शब्द विन्यास कौशल पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहां आत्मानुभूति की प्रधानता है, वही अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य शरीर सुन्दर हो सका है।

इसीलिए, अभिव्यक्ति सहृदयों के लिए अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती, जितनी की अनुभूति।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने कला की गणना उपविद्या के अन्तर्गत की है। वे अभिव्यक्ति के वाह्य स्वरूप में ही कला की सद्भावना करते हैं। उन्होंने अभिव्यक्ति को महत्व न देकर अनुभूति को अधिक महत्त्व दिया है। सुन्दर अनुभूति की व्यंजना स्वतः सुन्दर होती है।

कलाओं के वर्गीकरण के वारे में भी उनका वर्तमान पाश्चात्य विचार से मतभेद है। इन विचारकों ने कलाओं के माध्यम के आधार पर उनका कोटिक्रम निर्धारित किया है। जो कलाएं स्थल, वाह्य भौतिक पदार्थों पर आधारित हैं और जिनका चाक्षप प्रत्यक्ष हो सकता है वे मूर्त कलाएं हैं यथा मूर्तिकला, चित्रकला एवं शिल्पकलादि। संगीत एवं काव्य कला को उन्होंने उनके सूक्ष्म माध्यम के कारण अमृत कलाओं के अन्तर्गत परिमाणित किया है। इस वर्गीकरण का कारण बताते हुए प्रसादजी कहते हैं कि ग्रीक लोगों के सौन्दर्य बोध में जो एक क्रम विकास दिखलाई देता है, उसका परिपाक सम्भवतः पश्चिम में इस विचार-प्रणाली पर हुआ है कि मानव स्वभाव सौन्दर्यानुभूति द्वारा क्रम विकास करता है और स्थूल से

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४३
२. वही, पृ० ४४

परिचित होते सूक्ष्म की ओर जाता है। इसमें स्वर्ग और नरक का, जगत की जटिलता से परे एक पवित्रता और महत्त्व की स्थापना का मानसिक उद्योग दिखलाई देता है और इसमें ईसाई धार्मिक संस्कृति से ओतप्रोत है। कलुषित और मूर्त्त संसार निम्न कोटि में, अमूर्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे और उच्चकोटि में।[1]

प्रसादजी ने कला को भारतीय अध्यात्म के परिपार्श्व में रख कर देखने का भौतिक प्रयास किया है। भारतीय विचारधारा के अनुसार ब्रह्म मूर्त्त भी है और अमूर्त्त भी। ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप ही यह मूर्त्त सृष्टि है। वायु और आकाश अमूर्त्त एवं अविनश्वर हैं। इनसे इतर तत्त्व मूर्त्त, नश्वर अथवा परिवर्तनशील है। किन्तु भौतिक स्तर पर इस प्रकार का मूर्त्त और अमूर्त्त विभेद कर देने पर भी रूप की सत्ता दोनों में ही अनिवार्य है। वृहदारण्यकार के शब्दों में रूप को परिभाषित करते हुए प्रसादजी कहते हैं कि वह आदित्य आलोक पुंज आंखों में प्रतिष्ठित है। आंखों की प्रतिष्ठा रूप में है और रूप ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों में रूपत्व का आरोप करता है। क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त रूप है, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौन्दर्यबोध सम्बन्धी दो धारणाएं अधिक महत्त्व नहीं रखतीं।[2]

कला और सौन्दर्य—

प्रसादजी ने न तो कलाओं का मूर्त्त-अमूर्त्त भौतिक विभाजन स्वीकार किया है और न ही उन्हें साहित्य के समक्ष माना है। उन्होंने कला की सत्ता साहित्य से इतर मानते हुए साहित्य में समस्त कलाओं का समाहार किया है। किन्तु कला और साहित्य दोनों में ही उन्होंने सौन्दर्य की सत्ता को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है।

शिल्प कला, मूर्तिकला, चित्रकला प्रभृति कलाएं सभी सौन्दर्य का ही प्रतिरूप हैं। इन कलाओं का सौन्दर्य विशेष गढ़न द्वारा निर्मित आकृतियों में सम्मलित है। साथ ही इन कलाओं के सौन्दर्यबोध को उन्होंने जड़ सौन्दर्यबोध से अभिहित

---

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३५

२. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३५

किया है।[1] सौन्दर्य द्वारा ही कला का निर्माण होता है और कला द्वारा सौन्दर्य की अभिवृद्धि। उन परम ब्रह्म की सौन्दर्यानुभूति के मंगलमय आनन्द की अभिव्यक्ति कला के रूप में होती है। यही कला विश्व में सौन्दर्य भावना को सजीव रखने में समर्थ है।[2]

प्रसाद का सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण—

प्रसादजी ने ज्ञान और सौन्दर्य-बोध को विश्वव्यापी वस्तु माना है।[3] यद्यपि इनके केन्द्र देश, काल और परस्थितयों के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं तथापि सबके मूल में एक ही वृत्ति और भावना है। विभिन्न वर्गों में बढती हुई अनुभूति एवं परिवर्तित रुचि के कारण सौन्दर्य के आदर्श और मान बदलते रहते हैं। यह रुचि भेद ही कलाओं में विशिष्टता उत्पन्न करता है और तभी वे ग्रीक कला, भारतीय कला आदि नामों से अभिहित की जाती हैं। भारतीय कला के ही द्रविड़ कला, राजपूत कला, गांधार कला आदि अनेक विभेद हो गए हैं। एक ही आलोक से प्रकार प्रकाशित होते हुए विभिन्न संस्कृतियों के कारण उनके विभिन्न स्वरूप परिलक्षित होते हैं। इस विषय में प्रसाद जी कहते हैं—'खगोलवर्ती ज्योति-केन्द्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौन्दर्यबोध के लिए अपनी अलग अलग सत्ता बना लेता है।[4] अतः सौन्दर्य विश्वव्यापी है। वह असीम का ससीम रूप है।

---

१. मैं उसके सुन्दर मुख को कला की दृष्टि से देख रहा था। कला की दृष्टि से ठीक तो बौद्ध कला, गान्धार कला, द्रविड़ों की कला इत्यादि नाम से भारतीय मूर्ति सौन्दर्य के अनेकों विभाग जो हैं। जिससे गढ़न का अनुमान होता है, मेरे एकान्त जीवन को बिताने की सामग्री में इस प्रकार का जड़ सौन्दर्य बोध भी एक स्थान रखता है।'

—प्रसाद, आंधी, पृष्ठ ३

२. उपासना बाह्य आवरण है उस विचार निष्ठा का जिसमें हमें विश्वास है। जिसकी ज्वाला में मनुष्य व्याकुल हो जाता है, उस विश्व चिता में मंगलमय नटराज नृत्य का अनुकरण आनन्द की भावना, महाकाल की उपासना का बाह्य स्वरूप है और साथ ही कला की, सौन्दर्य की अभिवृद्धि है, जिससे हम बाह्य विश्व में सौन्दर्य भावना को सजीव रख सके हैं।

—प्रसाद, इरावती, पृष्ठ २२

३. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० २८

४. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० २८

संस्कृति, कला और सौन्दर्य

कला की ससीमता का कारण है स्थान विशेष का समाज अथवा वहां की सभ्यता एवं संस्कृति। सभ्यता एवं संस्कृति के तत्त्व ही देश के सौन्दर्य के मान निर्धारित करते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रसादजी ने कहा है—"भौगोलिक परिस्थितियां और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होने वाले सौन्दर्य सम्बन्धी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है और वह रुचि सौन्दर्य अनुभूति की तुला वन जाती है। इसी से हमारे सजातिय विचार वनते हैं और उन्हें स्निग्धता मिलती है। इसी के द्वारा हम अपने रहन-सहन अपनी अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप में प्रदर्शन कर सकते हैं।"[1]

सौन्दर्यानुभूति की तुला द्वारा उत्कृष्ट स्वीकार की गई अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप ही संस्कृति है। किसी भी देश की कला द्वारा वहां की संस्कृति का निर्माण होता है। पुनः संस्कृति के आदर्शों द्वारा ही कला का विकास होता है। भारत में प्रायः काले विशाल कर्णायत नेत्र होते हैं। सतत अभ्यास के कारण इसी प्रकार के नेत्र सौन्दर्य-वोध के आधार बन गए हैं। चाहे गान्धार कला हो अथवा राजपूती शैली या कांगड़ा कलम सभी कलाओं में कर्णायत विशाल नेत्रों की रचना हुई है। यही कला भारतीय सौन्दर्य-वोध को विकसित करने में सहायक होती है। प्रसादजी ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए कहा है—"संस्कृति सौन्दर्य-वोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।"[2] यह संस्कृति देश काल की परिस्थितियों से प्रभावित होते हुए भी विश्ववाद की विरोधिनी नहीं है।" क्योंकि इसका उपयोग तो मानव-समाज में, आरम्भिक प्राणित्व धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। संस्कृति मन्दिर, गिरजा और मसजिद-विहीन प्रान्तों में अन्तःप्रतिष्ठित होकर सौन्दर्य-वोध की वाह्य सत्ताओं का सृजन करती है। संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक सम्बन्ध है।[3]

सौन्दर्य का प्रमुख गुण है उसका आकर्षण। मानव मात्र सौन्दर्य के आकर्षण से अनजाने ही खिंच जाता है। चाहे सुन्दर पुष्प हो अथवा मधुर संगीत या कोई सुन्दरी स्त्री, सबमें एक आकर्षण शक्ति निहित रहती है। किन्तु रुचि-भेद के कारण यदि किसी व्यक्ति को पुष्प की कोमल मसृण पंखुड़ियां आकृष्ट करती हैं

---

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध, पृ० २८

२. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध, पृ० २८

३. वही, पृ० २८

तो कोई उसकी सुगन्ध से आत्मविभोर हो उसके आकर्षण-पाश में आबद्ध हो जाता है, यदि किसी को नारी का सुगठित एवं सुवर्ण शरीर सुन्दर प्रतीत होता है तो कोई उसके हृदय के कोमल भावों पर ही मुग्ध हो जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य के वाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप को लेकर विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। कतिपय सौन्दर्य-शास्त्री सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता को ही महत्त्व देते है। उनके मतानुसार सुडौलता, सम्मात्रा, मसृणता, कोमलता, मधुरता आदि में ही सौन्दर्य निहित रहता है। यद्यपि ये मान सौन्दर्य की सत्ता का बोध कराते हैं, तथापि इन्हें सर्व-मान्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक ही वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर लगती है और दूसरे व्यक्ति को असुन्दर।

इन कठिनाइयों को लक्ष्य कर के कतिपय विचारकों ने सौन्दर्य को आत्म-निष्ठ माना है। इनका कथन है कि सौन्दर्य बाहर की नहीं, मन की वस्तु है। ऐसा करके इन्होंने सौन्दर्य को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है। ये सुन्दर वस्तु को नहीं, उसकी अनुभूति को प्रधानता देते हैं।

अतः सौन्दर्य न तो पूर्णतः वस्तु मे विद्यमान है और न ही वह नितान्त आत्मिक है। वास्तव में आन्तरिक सौन्दर्य के लिए भी रूप अथवा वस्तु का आधार चाहिए। वस्तुवादियों एवं आत्मवादियों की अतिशयता की विसंगतियों के कारण सौन्दर्य-शास्त्रियों का एक और वर्ग बन गया है जो वाहय एवं आत्मा के समुचित सामंजस्य में ही सौन्दर्य की स्थिति स्वीकार करता है। प्रसाद भी समन्वयवादी सौन्दर्य-सिद्धान्त का अनुमोदन करते हैं। उनका समग्र जीवन-दर्शन ही सामरस्य के सौन्दर्य से ओतप्रोत था। "उनके साहित्यिक जीवन और घरेलू जीवन का एक ही सत्य था वह था सामरस्य का सत्य।"[१] उन्होंने वस्तु में आत्मा की प्रतिष्ठा कर रवीन्द्र की भांति उसमें विश्वव्यापि सौन्दर्य के दर्शन किए है। वह विश्वात्मा ही सुन्दरतम है। उसी सौन्दर्य-सुधा-सागर के कण इस सम्पूर्ण विश्व पर छाए हुए हैं। उन्होंने सौन्दर्य को "चेतना का उज्जवल वरदान'[२] कह कर बड़ी व्यापक परिभाषा प्रदान की है। उस महान् चेतना की व्यक्त होने की चेष्टा ही इस विश्व का विराट् मंगलमय चिर सुन्दर शरीर है। विश्व की प्रत्येक वस्तु में, जड़ और चेतन में एक ही आनन्दमयी चेतना का विलास है। इस चेतना की प्रत्यक्ष अनुभूति

१. उज्ज्वल वरदान चेतना का, सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं—
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते है।
—प्रसाद, कामायनी, लज्जा सर्ग, पृ० १०२

२. रत्नशंकर प्रसाद, प्रसादजी की जीवन-चर्या, प्रसाद
(सं० निर्मल तलवार) पृ० ३

संसार की आकृतिमूलक वस्तुओं द्वारा ही संभव होती हैं। अतः प्रसादजी सौन्दर्य-बोध के लिये रूप एवं आकृति को अनिवार्य रूप में स्वीकार करते हैं। वे अमूर्त सौन्दर्य को निरर्थक बताते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्यबोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य है। इसलिए अमूर्त्त सौन्दर्य बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।"[1]

इस दृष्टि से प्रकृति के रमणीय दृश्य, मनोहर आकृति वाली रमणी, सुगठित पुष्ट अंगों वाला पुरुष और मधुर, सरल, उज्ज्वल मुसकान की आभा विकीर्ण करता हुआ शिशु सभी सुन्दर की परिधि में आ जाते हैं। किन्तु केवल रूपाकारगत सौन्दर्य में पर्याप्त आकर्षण नहीं होता। सौन्दर्य की सम्पूर्णता के लिए उसमें मानव-हृदय अथवा विश्वमंगलकारी गुणों का संस्कार होना आवश्यक है। कृपण-क्लीव कापुरुष कदापि सुन्दर की अभिधा नहीं ग्रहण कर सकता। सुन्दर बनने के लिए उसमें औदार्य, क्षमा, धैर्य एवं पौरुष आदि गुण निहित होने चाहिए। प्रसाद केवल रूप की उपासना नहीं करना चाहते। हृदय की अवस्था आकृति से नहीं खुलती, आंखें धोखा खा जाती हैं। कला में केवल रूप की साधना साधन सापेक्ष है। केवल साधन सापेक्षता के कारण ही उसमें दूषित होने का भय रहता है।[2] किन्तु अन्तःकरण से निःसृत सरल सौन्दर्य को पंकिलता का भय नहीं है। वास्तव में रूप तो वही स्पृहणीय है जिसमें हृदय का सौन्दर्य भी अन्तर्निहित हो। हृदय का सौन्दर्य ही तो आकृति ग्रहण करता है, तभी मनोहरता रूप में आती है।[3]

बाह्य और आभ्यान्तरिक का एकीकरण होने पर ही वास्तविक सौन्दर्य का निर्माण होता है। प्रसादजी ने सर्वत्र सामंजस्य में सौन्दर्य के दर्शन किए हैं। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, प्रणय-रण, संयोग-वियोग के समुचित सहयोग से एक अद्‌भुत सौन्दर्य का प्रादुर्भाव होता है।

सौन्दर्य और आनन्द

सौन्दर्य की अनुभूति का स्वरूप आनन्दमय है। आनन्द का अन्तरंग सरलता है और बहिरंग सौन्दर्य।[4] प्रसाद का दर्शन आनन्दवाद की दृढ़ भित्ति पर ही स्थित

---

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ३५

२. प्रसाद, आकाशदीप, कला, पृ० ८३

३. प्रसाद, आकाशदीप, कला, पृ० ८२

४. प्रसाद, एक घूंट, पृ० १९

है। चिरमिलित प्रकृति से पुलकित चेतन पुरातन पुरुष में आनन्द और सौन्दर्य का सागर तरंगायित होता रहता है।[1] इस विश्व की कामना का मूल रहस्य आनन्द ही है।[2] वह विश्व-चेतना जब विकास की कामना से आकार धारण की चेष्टा करती है तब जीवन का स्वरूप परिलक्षित होता है।[3] जीव का लक्ष्य सौन्दर्य है।[4] इस लक्ष्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब जीवन में आनन्द के महत्व को स्वीकार किया जाए। जीवन में आनन्द के महत्त्व को व्यंजित करते हुए प्रसादजी ने अपने उद्‌गार प्रकट किए हैं—"अहा कितना सुन्दर जीवन हो यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव जीवन की मूल सत्ता में आनन्द है। आनन्द।"[5]

इस प्रकार प्रसादजी ने सौन्दर्य का लक्ष्य आनन्द माना है। किसी भी सुन्दर वस्तु को देखकर उसकी अनुभूति से हृदय आनन्दोल्लास से परिपूर्ण हो जाता है। आनन्द ही सौन्दर्य का आन्तरिक तत्त्व है। जहां आनन्द है, वही सौन्दर्य है और सौन्दर्य में आनन्द का समावेश होता है।[6]

सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द—सुन्दर के प्रति मानव मन में स्वाभाविक राग होता है। मन सौन्दर्य के प्रति सहज रूप से आकृष्ट हो जाता है। सुन्दर मधुर संगीत, सुन्दर स्वस्थ आकृति अथवा सुन्दर मोहक गन्ध आदि मनुष्य के मन को अपने आकर्षण की परिधि में आवद्ध कर लेते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है इस सौन्दर्य की अनुभूति से हृदय मधुर आनन्द से उल्लसित हो उठता है। मन पुनः पुनः उस अनुभूति की आकांक्षा करता है। इस आनन्दमय आकर्षण के कारण मन में प्रेम अथवा राग की भावना उत्पन्न होती है। इस प्रेममय आकर्षण के वन्धन में ही यह सम्पूर्ण जड़ और चेतन सृष्टि आवद्ध है।

सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द आपस में इतने अधिक सम्पृक्त हैं कि एक की सत्ता में दूसरा अन्तर्निहित रहता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सौन्दर्य के आनन्द

---

१. प्रसाद, कामायनी, आनन्द सर्ग, पृ० २८६

२. प्रसाद, एक घूंट, पृ० २१

३. 'विश्व चेतन के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम जीवन है।'
—प्रसाद, एक घूंट, पृ० १९

४. वही पृ० १९

५. वही, पृ० २०

६. प्रसाद, छाया, तानसेन, पृ० ११

को ही प्रेम का कारण बतलाया है। उनके अनुसार उसी वस्तु से हमारा अपनापन बनता है जो हमारे स्थायी आनन्द का कारण होती है।[1]

प्रसादजी सौन्दर्य की चरम परिणिति प्रेम में ही मानते हैं। प्रेम से विरहित सौन्दर्य निर्जीव होता है। प्रेम द्वारा ही उसमें प्राण-प्रतिष्ठा होती है और तभी चरम आनन्द की उपलब्धि होती है। उन्होंने कहा है—'स्वास्थ्य, सरलता और सौन्दर्य में प्रेम को भी मिला देने से इन तीनों की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाएगी। इन विभूतियों का एकत्र होना विश्व के लिए आनन्द का उत्स खुल जाता है।[2]

प्रसादजी का प्रेम वासना, आसक्ति और मोह की संकीर्ण सीमाओं में से मुक्त स्वच्छन्द किन्तु आदर्शोन्मुख है। उन्होंने रूपजन्य प्रेम को मोह की संज्ञा से अभिहित किया है। प्रेम मोह की सीमा में आबद्ध न होकर अनन्त उदार होता है।[3] प्रेम एक पवित्र पदार्थ है। उसमें कपट की छाया भी नहीं होती। उसका स्वरूप भी व्यक्ति मात्र में बना रहने वाला परिमित स्वरूप नहीं है।[4] प्रसाद ने अपने जीवन के प्रथम प्रभात में ऐसे ही प्रेम-तीर्थ में स्नान किया था जिससे उनका मन पवित्र एवं उत्साहपूर्ण हो गया था। इसी उत्साह से उन्हें समस्त विश्व आनन्द भवन सा प्रतीत हो रहा था।[5]

उनके प्रेम का मार्ग अत्यन्त व्यापक है। मानव राष्ट्र और प्रकृति की सीमाओं से आगे बढ़ कर उस उच्च धरातल पर पहुंचा है जिसके आगे अन्य कोई

---

१. "जिन वस्तुओं से हम आनन्द नहीं लेते वे या तो हमारे मन पर ऐसा बोझ होती हैं, जिनसे हम जैसे भी हो सके छुटकारा पाना चाहते हैं, अथवा उनकी क्षणिक उपयोगिता होती है जो कुछ काल बाद नष्ट होकर अन्त में केवल भार स्वरूप रह जाती है या वे उन सदा घूमते फिरते मुसाफिरों की तरह होती है जो हमारी परिचिति को क्षणभर छूकर अलग हो जाते हैं। उनका परिचय क्षणिक और निरानन्द होता है। किसी भी वस्तु से हमारा पूरा अपनापन तभी बनता है जब वह हमारे स्थायी आनन्द का कारण बने।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, साधना, पृ० १२२

२. प्रसाद, एक घूंट, पृ० २६

३. प्रसाद, प्रेम पथिक, पृ० २३

४. प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे। वही पृ० २२

५. प्रसाद, कानन कुसुम, प्रथम प्रभात, पृ० १६

राह नहीं है।[1] इस सीमा पर पहुंच कर विधाता की समस्त रचना प्रेममय प्रतीत होती है। उन्होंने सृष्टि में विश्वात्मा के सुन्दर प्रेममय स्वरूप के ही दर्शन किए हैं। उनके अनुसार सर्वत्र उसके 'प्रेममय प्रकाश'[2] का ही आलोक छाया हुआ है। प्रेम द्वारा ही इस जगत् का संचालन होता है। मिट्टी व जलपिण्ड सब इसी के आकर्षण से खिच कर दिन रात इसका फेरा लगाते रहते हैं। धरित्री, पर्वत तथा अम्बुधि सभी इसकी ऊष्मा को आनन्द सहित अपने अन्तर में रखते हैं। सब पर इसका अमित प्रभाव है।[3] यह समस्त जगत् और जाति उस प्रेममय सर्वेश का ही है। इसलिए सबसे उनकी मित्रता है। कोई नाममात्र को भी उनका शत्रु नहीं है।[4] संसार के समस्त मत-धर्मों को प्रेमनिधि में प्रवाहित कर उस प्रेम में मतवाला बनने की कामना करते हैं।[5]

प्रेम ही सम्पूर्ण सौन्दर्य का सार तत्व है। संसार की समस्त विभूतियों का सौन्दर्य प्रिय में ही समाहित होता है। इसे व्यंजित करते हुए उन्होंने कहा है कि लोग चन्द्रमा को जो कि सौन्दर्य का एक विन्दुमात्र है, प्रिय दर्शन कहते हैं। वास्तव में तो प्रिय का दर्शन ही स्वयं सुन्दर होता है। इसी की प्रभा सब ओर फैली हुई है। प्रसाद के साहित्य में इस प्रेम की संयोग-वियोग मान-मनावन आदि की अनेक मधुर भंगिमाएं चित्रित हैं। कभी उसे प्रकृति के मधुर कार्यकलाओं में प्रिय द्वारा प्रणय के संकेत प्राप्त होते हैं और वह उसके साथ अभिसार में व्यस्त हो जाता है और कभी उसके विरह में मिलनाकाँक्षा से उत्प्रेरित होकर वह अन्धकार में ही धूल भरे कांटों से बिधे हुए पैरों से भूलता भटकता उसके द्वार तक पहुंच जाता है। किन्तु उसे अपने धूलि भरे पैरों से प्रिय के द्वार के धूसरित होने का भय नहीं है, उसे तो उसने अश्रु जलों से धो डाला है। ऐसी

---

१. "इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुंचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं है।"
—प्रसाद, प्रेम पथिक, पृ०

२. प्रसाद, झरना, प्रभो, पृ० २

३. प्रसाद, झरना, प्रभो पृ० २३

४. उस प्रेममय सर्वेश का सारा जगत औ जाति है,
संसार ही है मित्र मेरा नाम को न अराति है।
—प्रसाद, झरना, भक्तियोग, पृ० ३१

५. वही, पृ० ३१

स्थिति में अधीर होकर वह पुकार उठता है—"प्रियतम अब तो द्वार खोल दो।"[१] कवि निर्निमेष दृष्टि से प्रिय की रूप-छवि का अवलोकन करता है। जिस क्षण से उसने उन्हें देखा है, वे उसे परिचित से प्रतीत हुए हैं। वह यह सोचकर कि प्रियतम स्वयं उससे मिलने के लिए आए हैं, गर्व से इठला उठता है। उसका हृदय उसके प्रेम-रंग से ऐसा रंग जाता है कि वह छुटाने से भी नहीं छूटता। तभी तुमने मेरे आवेगमय हृदय की मदिरा को छू कर मुझे लाल लाल आंखे दिखा कर फेर ली और विरह ज्वाला आरम्भ हो गई। प्रसाद ने विरह के सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में करुणा जल से चित्रित अनूठे चित्र अंकित किए हैं। अन्त में उनका प्रेम उस उदास स्थिति तक पहुंच जाता है जहां वे अपने व्यक्तिगत प्रेम को विश्वप्रेम में मिलाते हुए कहते है—"मिल जाने का मोह मुझे मत दिखाओ। केवल मुझे अपना भर कह दो, यही मेरे लिए पर्याप्त है।"[२] "किन्तु यदि इतना भी तुम्हें स्वीकार न हो तो कोई बात नही।"[३] वे प्रेम का प्रत्याख्यान करना नहीं चाहते। प्रेम ही उनका साध्य है, प्रतिदान की उन्हें आवश्यकता नहीं।[४]

प्रेम करने के लिए प्रकृति जोड़े उत्पन्न करती है। प्रसाद को प्रेम में एकनिष्ठता ही स्वीकार्य है। प्रेम की एकनिष्ठता के लिए उसका एक केन्द्र होना चाहिए जिससे हृदय का भी साम्य हो। प्रेम में समर्पण का भाव प्रधान होता है। सम्पूर्ण समर्पण एक ही को किया जा सकता है। प्रसाद ने "एक घूंट" में कहा हैं प्रेम की उपासना का एक केन्द्र होना चाहिए, एक अन्तरंग साम्य होना चाहिए।.... प्यार करने के लिए हृदय का साम्य चाहिए अन्तर की समता चाहिए।[५]

इस प्रकार प्रसादजी ने सौंदर्य की **अनुभूति** का स्वरूप आनन्दमय निर्धारित किया है। सौंदर्यानुभूति के कारण हृदय में राग उत्पन्न होता है जो आत्मा से आत्मा का हृदय से हृदय का सम्बन्ध स्थापित करवा देता है और फिर सम्पूर्ण विश्व में एक ही आनन्दमयी चेतना व्याप्त हो जाती है। उन्होंने प्रेम को नर-नारी के प्रणय की संकीर्ण परिधि से निकाल कर उसे विश्वव्यापी धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। सौंदर्य के प्रति प्रेम की दृष्टि का जब इस व्यापक रूप में विकास होगा तो दुःख

---

१. लोग प्रिय दर्शन बताते इन्दु को देखकर सौन्दर्य के इक बिन्दु को
किन्तु प्रियदर्शन स्वयं सौन्दर्य है सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है
—प्रसाद, झरना, सौन्दर्य, पृष्ठ ५१

२. प्रसाद, झरना, खोलो द्वार सौन्दर्य, पृष्ठ ७

३. प्रसाद, कानन, कुसुम, प्रियतम, पृष्ठ ७७

४. प्रसाद, वही, नहीं डरते, पृष्ठ ८५

५. प्रसाद, एक घूंट, पृष्ठ २९

का अस्तित्व नहीं रह सकता। केवल आनन्द ही आनन्द का विस्तार होगा। इस उदात्त स्तर पर स्त्री पुरुष का प्रणय निवेदन विश्वात्मा के प्रति आत्म-निवेदन मात्र रह जाता है। सौंदर्य, प्रेम और आनन्द की त्रिवेणी में प्रसाद ने जीवन के समस्त कालुष्य एवं अंधकार धो डाले हैं।

सत्यं शिवं सुन्दरं

ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं—'सत्यं, शिवं सुन्दरं।' वस्तुतः ब्रह्म का मूल स्वरूप सुन्दरम् ही है। जब सत्य शिव के साथ सहयोग करता है तो उसकी कल्याण-विधायिनी प्रवृत्ति के कारण सुन्दरम् हो जाता है। सुन्दर का ही व्यावहारिक रूप शिवं है। प्रसादजी ने भी सुन्दर की कल्पना सत्य और शिव के सम्पृक्त ही की है। यह मूर्त्त विश्व उस सत्य और मंगलमय चेतना का ही सुन्दर शरीर है।[1]

'इस सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना आरम्भ होती है।'[2] स्वाध्याय प्रवचन द्वारा इसका अन्वेषण किया जा सकता है। स्वाध्याय से ही मनुष्य सत् को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में जो हमारे सब बौद्धिक व्यापारों का सत्य की प्राप्ति के लिए सतत् उपयोग रहता है। वह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में जो परिवर्तनशील होने के कारण अमृत नाम से पुकारी जाती है, ओतप्रोत है।[3] यह सत्य वैज्ञानिकों के समक्ष एक और एक दो वाला सत्य नहीं है। इसका स्वरूप विराट् है। इससे हम सहृदयता द्वारा ही साक्षात्कार कर सकते हैं। उस सत्य के दो लक्षण बताए गए हैं श्रेय और प्रेय।[4] श्रेय से विहीन कटु सत्य प्रसादजी को प्रिय नहीं है, क्योंकि उसमें मंगलविधायक तत्त्वों का अभाव होता है।

यही कारण है कि पाश्चात्य विवेचकों का एक पक्षीय वर्गीकरण उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता। उन्होंने सौंदर्य का श्रेय के साथ अनिवार्य रूप से सम्पृक्त मानते हुए तथा पाश्चात्य कला-विवेचन को अशक्त बताते हुए कहा है-—'सौंदर्यबोध में पाश्चात्य विवेचकों के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त भेद सम्बन्धी कल्पना विवेचन की रीढ़ बन रही हैं। जब यह मूर्त्त के साथ सौंदर्य-शास्त्र का सम्बन्ध ठहराती है तो दुर्बलता में ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती। इसका कारण यही है कि वे सद्भावात्मक ज्ञानमय प्रतीकों को अमूर्त सौंदर्य कहकर घोषित करते हैं जो सौन्दर्य के द्वारा ही विवेचन किये जाने पर केवल [illegible] पहुंच पाते

---

१. प्रसाद, कामायनी, आनन्द सर्ग, पृष्ठ २८८
२. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३६
३. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३६
४. वही पृष्ठ ३७

हैं। श्रेय आत्मकल्याण-कल्पना अधूरी रह जाती है।'[1] किन्तु भारतीय विचार-धारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त का भेद हटाते हुए वाह्य और और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।[2] अतः सौंदर्यद्रष्टा प्रसाद ने सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति में व्याप्त विराट् सत्य के सौन्दर्य में निहित मंगल तत्त्व के भी दर्शन कर लिए हैं। सुन्दर आकृति में कल्याणकारी गुणों के निवास द्वारा ही सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा सम्भव है। सत्य की अनुभूति सौन्दर्य की ओर प्रेरित करती है और उसका ज्ञानात्मक रूप ही शिव तत्त्व से युक्त है। अतः सौन्दर्य सत्य और शिव से अभिन्न है।

प्रसाद का साहित्य के प्रति दृष्टिकोण

साहित्य—'साहित्य द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है।'[3] प्रसादजी ने भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से साहित्य की मौलिक विवेचना प्रस्तुत की है। उन्होंने साहित्य को चेतना का सुन्दर इतिहास कह कर बड़ी ही व्यापक परिभाषा दी है :—

> चेतना का सुन्दर इतिहास
> अखिल मानव भावों का सत्य,
> विश्व के हृदय पटल पर दिव्य,
> अक्षरों से अंकित हो नित्य।[4]

सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति ही साहित्य में होती है। साहित्यकार 'सुन्दरम्' का पुजारी होता है। 'सुन्दरम्' में ही 'सत्य' और 'शिव' अन्तर्निहित रहते हैं। साहित्य में सत्य के दर्शन के लिए सहृदयता की अपेक्षा है। उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओत-प्रोत देख सकते हैं।

प्रसादजी ने साहित्य में सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—'उस सत्य के दो लक्षण बताए गए हैं—श्रेय और प्रेय। इसलिए सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङ्मय में दो प्रकार से मानी गई है—काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामञ्जस्य होता है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३६
२. वही, पृ० ३६
३. वही, पृ० ३८
४. प्रसाद, कामायनी; श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५८

नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है, क्योंकि आत्मा का मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। *यमात्मा वाङ्मय, मनामय: प्राणमय:* (वृहदारण्यक)। उपविज्ञान प्राण, विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।''[1]

अतः काव्य आत्मा की अनुभूति है। आत्मानुभूति होने के कारण ही उसमें सृष्टि के परस्पर विरोधी तत्व में भी सामञ्जस्य स्थापित करवाने वाली शक्ति है। उन्होंने काव्य और अनुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—

'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेपण विकल्प या विज्ञान से नहीं। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेपणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभयलक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।[2]

आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति को भी समझाते हुए वे कहते हैं—"आत्मा की मनन शक्ति की वह अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियां श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती है, इसमें क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिए साथ ही साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है।[3]

इस प्रकार प्रसाद ने साहित्य को श्रेय एवं प्रेममयी आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति माना है।

साहित्य और सौन्दर्य

पश्चिम में सौन्दर्य की सम्पूर्ण विवेचना कला के माध्यम से हुई है। वहां साहित्य की परीक्षा सौन्दर्य-सिद्धान्तों अथवा कला-सिद्धान्तों द्वारा होती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत में कला को साहित्य से इतर उपविद्या माना गया है। किन्तु साहित्य अपने समकालीन सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण से असम्पृक्त नहीं रह सकता। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने कला सिद्धान्तों द्वारा साहित्य की परीक्षा को उचित बताया है। उनका कथन है कि "प्रचलित

---

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३७

२. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३८

३. वही पृ० ३८

शिक्षा के कारण आज हमारी चिन्तनधारा के विकास में पाश्चात्य प्रभाव ओतप्रोत है और इसलिए हम वाध्य हो रहे हैं अपने ज्ञान सम्बन्धी प्रतीकों को उसी दृष्टि से देखने के लिए। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विवेचन में हम केवल निरुपाय होकर ही प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु विचार विनिमय के नए साधनों की उपस्थिति के कारण संसार की विचारधारा से कोई भी अपने को अछूता नहीं रख सकता। इस सचेतनता के परिणाम में हमें अपनी सुरुचिकी ओर प्रत्यावर्तन करना चाहिए। क्योंकि हमारे मौलिक ज्ञान प्रतीक दुर्बल नहीं है।"[१]

अतः साहित्य की विवेचना कला के आधार पर की जा सकती है। किन्तु इस विवेचन में पश्चिम का अन्धानुकरण उन्हें प्रिय नहीं है। सुरुचि एवं मौलिकता का ध्यान रखकर ही साहित्य की कला परक विवेचना उचित है। वे भारतीय रुचि के अनुकूल साहित्य में सौन्दर्यानुभूति की खोज अप्रासंगिक नहीं, आवश्यक मानते हैं।[२]

सौन्दर्य द्वारा साहित्य निर्माण

साहित्यकार का लब्ध हृदय भ्रमर के समान सौन्दर्य के ही चारों ओर परिक्रमा करता रहता है। नेत्रोन्मीलन साथ ही उसकी दृष्टि का निपात सृष्टि के सौन्दर्य पर होता है। उसकी आंखें सौन्दर्य से उलझ कर रह जाती है। पागल मन उस पर लुट जाना चाहता है। सौन्दर्यानुभूति के आनन्द से उसके हृदय का रिक्त पात्र लबालब भर जाता है। इस आनन्द को सम्हालने में वह असमर्थ है। वह चकित सा सौन्दर्य-विभूतियों को देखता रह जाता है।[३] उसके रूप-राशि से व्यथित हृदय में आनन्द की लहरें डूबती उतराती रहती हैं। यही सौन्दर्यानुभूति का सागर कवि-हृदय से निःसृत काव्य अथवा साहित्य के रूप में छलक पड़ता है।

सुन्दर ही कवि कलाकार का सर्वस्व होता है। विश्व की समस्त सरल सुन्दर विभूतियों पर कलाकार का ही स्वत्व है। वह सबको अपना बताता है और उनसे प्रतिदान की आशा करता हुआ कामना करता है कि वे अपने सौन्दर्य की

---

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ३१

२. वही, पृ० २९

३. उस दिन जब जीवन के पथ में
फूलों ने पंखुरियां खोली, आंखें करने लगी ठिठोली,
हृदयों ने न सम्हाली झोली लुटने लगे विकल पागल मन।
छिन्न पात्र में था भर आता, वह रस बरबस था न समाता,
स्वयं चकित सा समझ न पाता, कहां छिपा था ऐसा मधुवन॥

—प्रसाद, लहर, पृ० १७-१८

शीतल सुधा से उसके वड़वानल सदृश दग्ध अशान्त हृदय को सिंध लहरो के समान शीतलता एवं शान्ति प्रदान करती रहें।[1]

कलाकार प्रकृति में व्याप्त निसर्ग सौन्दर्य का चुपचाप जिज्ञासा के नेत्रों से अवलोकन करता रहता है। जीवन की सुख-दुखात्मक, मधुर-कटु अनुभूतियों से उसका हृदय परिपूर्ण रहता है। उनकी कुछ सगति-असंगति और कुछ अस्पष्ट सी छाया उसके हृदय की निधि होती है। प्रकृति-सौन्दर्य के विशाल पट्ट पर वह अपनी कल्पना द्वारा अनेक रूप-छवियों का सृजन करता रहता है। शनैः शनैः छवियों का रूप स्पष्टतर होता जाता है और एक सर्वथा नवीन मूर्ति का निर्माण होता है। हृदय के समस्त सुख-दुख, हर्ष-शोक एक दूसरे में अपने अस्तित्व का विलय कर इस मूर्ति में समाहित हो जाते हैं और मूर्ति रसमय केवल आनन्दमय बन जाती है। आनन्द से उल्लसित होकर कवि मधुर पदावलि गाने लगता है।[2]

वास्तव मे सौन्दर्यानुभूति ही कला की प्रेरणा है। काव्य मे जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है।[3]

प्रसाद ने सौन्दर्य को ही साहित्य का प्रतिपाद्य माना है। सौन्दर्यानुभूति की प्रेरणा से कलाकार अपनी कल्पना-शक्ति के अवलम्ब से सौन्दर्य-मूर्तियों का निर्माण करता है, जो साहित्य में प्रतिष्ठित होकर अध्येताओं को सौन्दर्य की अनुभूति कराती हैं। अतः वे सुन्दर ही होती हैं।

साहित्य में सौन्दर्य का लक्ष्य

आत्मानुभूति से प्रेरित साहित्यकार सौन्दर्य के अनेक रूप-चित्रों का निर्माण करता है। प्रश्न उठता है कि इनका साहित्यकार के व्यक्तिगत अथवा लोक-जीवन में क्या महत्त्व है? विचारकों का एक वर्ग इसका सृजन स्वान्तः सुखाय मानता है दूसरे के अनुसार इसका लक्ष्य लोकोपदेश द्वारा विश्व मंगल है। इसी प्रकार कतिपय मनीषियों का विचार है कि इसका उद्देश्य हृदय को आनन्दानुभूति मात्र प्रदान करना है।

---

१. विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान,
सभी मेरी है, सभी करती रहे प्रतिदान।
यही तो, मैं ज्वलित वाड़व वह्नि नित्य अशान्त,
सिंधु लहरों सा करे शीतल मुझे सब शान्त।

२. आकाशदीप, कला, पृ० ८४

३. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४३

प्रसादजी ने रचनाकार की दृष्टि से इसकी कोई चर्चा नहीं की है। उन्होंने साहित्य में सौन्दर्य का लक्ष्य सौन्दर्यानुभूति अथवा आनन्दानुभूति निर्धारित किया है। साथ ही पाठक के मन में सद्प्रवृत्तियों के जागरण के विषय में भी उन्होंने संकेत किया है। यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला द्वारा संभाल पाया, तो साहित्य ने संशोधन का कार्य कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा है और है भी।[1] किन्तु उनके अनुसार साहित्य का प्रमुख लक्ष्य आनन्दोत्पादन ही है, क्योंकि उसके द्वारा ही उसके अन्य गौण उद्देश्यों की सिद्धि होती है। उन्होंने साहित्य से प्राप्त होने वाले अपूर्व आह्लाद की ओर संकेत करते हुए कहा है—कविता के आस्वाद करने वाले के हृदय में एक अपूर्व आह्लाद होता है—उसके आस्वाद के लिए सहृदयता की आवश्यकता होती है। कविता मात्र के आस्वादन के समय केवल स्वप्राकाशित आनन्द ही रहता है।[2] आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति काव्य की धारा सदैव आनन्द साधना में ही लगी रहती है।[3]

प्रसाद अपने जीवन में भी प्रत्यभिज्ञादर्शन के आनन्दवाद से प्रभावित रहे हैं। काव्य में भी उनका आनन्दवादी जीवन-दर्शन ही फलीभूत हुआ है। काव्य द्वारा लोकोत्तर अथवा ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। इसलिए उन्होंने काव्य में रसों का महत्त्व स्वीकार किया है।

आनन्दोत्पादन के साथ ही कहीं-कहीं उन्होंने साहित्य द्वारा शिक्षा एवं यश-प्राप्ति के संकेत भी किये हैं। कला द्वारा अचिर यश एवं आनन्द की प्राप्ति होती है।[4] इसके अतिरिक्त उनके अनुसार संसार को काव्य से दो तरह के लाभ पहुंचते हैं—मनोरंजन और शिक्षा। शिक्षा का अंश साहित्य के सब अंशों से सम्बन्ध रखता है। अतः वह अंश रूप से प्रायः सत्कविता में मिलेगा।[5] वास्तव में साहित्य एवं कलाओं का एक ही लक्ष्य होता है—लौकिक अथवा अलौकिक आनन्द। शिक्षा, सदुपदेश आदि उसके गौण प्रयोजन है। इस तथ्य को सभी भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है।

---

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ८५
२. इन्दु, कार्तिक, संवत १९६७, पृष्ठ १२३-१२४; उद्धत, आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त, सुरेशचन्द्र गुप्त, पृ० ३५३
३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६९
४. प्रसाद, पत्थर की प्रकार, प्रतिध्वनि, पृ० ४५
५. इन्दु, कला १, किरण ११, ज्येष्ठ, संवत् १९६७, पृष्ठ १८१, १८२, उद्धत आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त, सुरेशचन्द्र गुप्त, पृष्ठ ३५३

साहित्यिक सौन्दर्य के निर्माणक तत्त्व

साहित्यकार के सौन्दर्य-बोध के विकास में उसकी व्यक्तिगत रुचियां तथा उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। ज्यों ज्यों व्यक्ति के ज्ञान का विस्तार होता जाता है, उसका सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण भी विकसित होता जाता है।

प्रसाद भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे। उन्हें भारतीय साहित्य, कला एवं दर्शन से अगाध प्रेम था। उन्होंने उपन्यासकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा से संस्कृति के महत्त्व और उसकी जीवन में अनिवार्य महत्ती आवश्यकता को व्यंजित करते हुए कहा था—बोलचाल की भाषा, रीतिरिवाज, रहन-सहन इत्यादि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु हमारी संस्कृति की अखिल भारतीयता अखण्ड और अक्षुण्य रही है। पश्चिम के अधिक सम्पर्क में आने के कारण हो अथवा शताब्दियों की उथल-पुथल और आपसी लड़ाइयों के कारण हो, इन दिनों वह संस्कृति उतनी ऊपर नहीं दिखलाई पड़ती जितनी दिखलाइ पड़नी चाहिए। उस संस्कृति के उभार और उसको जन जन के भीतर प्रबल करने की अनिवार्य आवश्यकता है।[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य एवं कलाओं की खोज का प्रयास अवश्य किया है। किन्तु ऐसा करने से पूर्व उन्होंने यहां की संस्कृति का गम्भीर अध्ययन नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि उन्हें भारतीय कला में भी पाश्चात्य कला का आभास होने लगा। प्रसादजी की भारतीय-आत्मा को यह प्रवृति रुचिकर नहीं लगी। उन्होंने इसका विरोध करते हुए व्यंग किया है—'मुझे वर्तमान युग की चिकित्सा में वैसा ही विश्वास है जैसे पाश्चात्य पुरातत्वज्ञों की खोज पर। जैसे वे सांची और अमरावती के स्तम्भ तथा शिल्प के चिन्हों में वस्त्र पहनी हुई मूर्तियों को देखकर ग्रीक शिल्प कला का आभास पा जाते हैं और कल्पना कर बैठते हैं कि भारतीय बौद्धकला ऐसी हो ही नहीं सकती क्योंकि वे कपड़ा पहनना जानते ही नहीं थे। फिर भी चाहे आप त्रिपिटक से ही प्रमाण क्यों न दें कि विना अन्तर्वासक, चीवर इत्यादि के भारत कोई भिक्षु भी नहीं रहता था।[2]

भारतीय संस्कृति से अगाध प्रेम के कारण ही उनके साहित्य में सौन्दर्य का चित्रण सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुरूप ही हुआ है। उनकी नायिकाएँ पति

---

१. सं० निर्मल तलवार प्रसाद, पृ० २३

२. प्रसाद, आंधी, पृ० ७

को ही अपना सर्वस्व समर्पित कर देने वाली आदर्श भारतीय पत्नियां,[1] उद्बोधित करने वाली प्रेरणा एवं त्यागमयी प्रेमिकाएं तथा ममता एवं करूणामयी माताएं हैं।

पुरुषों को भी विशाल प्रष्ट और वीरत्व से व्यंजित शरीर वाली आदर्श मूर्ति उन्हें प्रिय है। उनमें उदारता, त्याग, शील और नारी के प्रति सम्मान एवं रक्षा की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है।

प्रसादजी के अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। उन्होंने वैदिक एवं संस्कृत साहित्य से लेकर आंग्ल साहित्य का भी विधिवत अध्ययन किया था। वैदिक ऋचाएं और उपनिषदों के लच्छेदार वाक्य तो उन्हें कण्ठस्त थे ही, संस्कृत महाकवियों ने किस शब्द का कहां किस अर्थ में कैसा चमत्कार पूर्ण प्रयोग किया है, इसको भी सोदा हरण उपस्थिति करते चलते थे। शालिहोत्र और आयुर्वेद शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण प्रकरणों पर उनके प्रवचन सुनने से उनके विस्तृत ज्ञान पर आश्चर्य होता था।[2] उनके साहित्यावलोकन से प्रतीत होता है कि उन्हें संस्कृत कवियों में कालिदास विशेष प्रिय थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सौन्दर्य एवं प्रेम की प्रेरणा उन्हें कालीदास से ही प्राप्त हुई है। कालीदास सौन्दर्यवादी एवं आन्नदवादी कलाकार हैं। उनके समस्त मानवीय एवं ईश्वरीय पात्र भी प्रेम और सौन्दर्य से सराबोर हैं। किन्तु वे मानवीय सुषमा के कवि हैं। उन्होंने बाह्य रूप का ही नहीं मानव के अन्तरतम में छिपे हुए गूढ़ सौन्दर्य का भी उद्घाटन किया है। साथ ही उनका सौन्दर्य पवित्र अध्यात्म पर आधारित है।

पाश्चात्य साहित्यकारों में से वे वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, एवं गेटे आदि कवियों से प्रभावित रहे हैं। पाश्चात्य साहित्य, भारतीय वेदान्त, बौद्ध साहित्य एवं इतिहास ग्रन्थों का वे विशेष अध्ययन करते रहते थे। उन्होंने शैव एवं सूफी दर्शनों के विशाल सागर में अवगाहन किया था। फलस्वरूप उन्होंने विश्वात्मा में ही सौन्दर्य के दर्शन किए। सृष्टि में उसी विश्वात्म के सौन्दर्य-कण बिखरे हुए हैं। शैव दर्शन के प्रत्यभिज्ञा का आनन्दवाद ही इस सौन्दर्य का आधार है। सूफियों के प्रेम और बुद्ध की करूणा की आर्द्रता ने उनके समस्त सौन्दर्य को एक अनूठा स्वरूप प्रदान किया है। वे ऐसे सुन्दर प्रिय की खोज में रहते हैं जो उन्हें प्यार कर सके, आंखों के आंसुओं के समान जिसकी करूणामयीमूर्ति है।[3]

---

१. नारी के सुख सभी पति के साथ रहते है। —कानन कुसुम, पृ० १०२

२. प्रसाद, सं० निर्मला तलवार, पृ० ७

३. अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को
मेरी आंखों में आकर फिर आंसू बन ढरने वाले को।
—प्रसाद, लहर, पृष्ठ ४१

प्रसादजी का जन्म एवं पोषण वैभव एवं विलासिता पूर्ण सामन्तीय वातावरण में हुआ था। साथ ही अपने जीवन-काल में ही वैभव के क्षण-क्षण क्षीण होने से प्राप्त निराशा और वेदना का भी उन्हें प्रचुर अनुभव हो गया था। इसके प्रभाव से भी वे मुक्त नहीं रह सकते थे। फलतः उनके समस्त साहित्य का, चाहे वह काव्य हो अथवा नाटक, उपन्यास हो या कहानी, वातावरण अटूट वैभव एवं विलास से परिपूर्ण है।[1] इस वैभव में भी एक अत्यन्त गहरी टीस और करुण वेदना परिव्याप्त है। प्रसादजी ने उसे ही भगवान माना है, जो विश्व वेदना का आह्वान करता है, चाहे वह नर हो अथवा किन्नर, निर्बल हो अथवा बलवान।[2] यह वेदना पाठक के हृदय को बड़ी कोमलता से स्पर्श करती है।

उक्त स्थितियों ने प्रसादजी के मानस को अपने-अपने ढंग से प्रभावित किया। इससे उनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण बहुरंगी हो गया। जीवन के साथ उनके सौन्दर्यबोध का भी क्रमिक विकास होता गया है। उनके साहित्य में सौन्दर्य के इन्द्रधनुषी स्वरूप प्राप्त होते हैं।

प्रसाद के सौन्दर्यांकन की विशेषताएं

सृष्टि का प्रत्येक कण उस अनन्त की सुन्दरता को धारण किए हुए हैं, किन्तु सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से उसका दर्शन करते हैं। किसी को गगनस्पर्शी पर्वतों का विराट् सौन्दर्य प्रभावित करता है तो किसी को गिरि-कन्दराओं की क्रोड़ में क्रीड़ा करती हुई कल-कल, छल-छल करती निर्झरिणी का संगीत ही प्रिय

---

१. श्रद्धा उस आश्चर्य लोक से मलय बालिका सी चलती,
सिंह द्वार के भीतर पहुंची, खड़े प्रहरियों को छलती,
ऊंचे स्तम्भों पर वलयीयुत बनें रम्य प्रसाद वहां,
धूप-धूम सुरभित गृह जिसमें थी आलोक शिखा जलती।
स्वर्ण कलश शोभित भवनों से लगे हुए उद्यान बने,
ऋजुप्रशस्त पथ बीच-बीच में कहीं लता के कुन्ज घने,
जिसमें दम्पत्ति समुद विहरते, प्यार भरे दे गलबाही,
गूंज रहे थे मधुप रसीले, मदिरा-मोद पराग सने।
देवदारु के वे प्रलम्ब भुज, जिनमें उलझी वायु-तरंग,
मुखरित आभूषण से कलरव करते सुन्दर बाल विहंग,
आश्रय देता वेणु वनों से निकली स्वर लहरी ध्वनि को,
नाग केसरों की क्यारी में अन्य सुमन है ये बहुरंग।
—प्रसाद, कामायनी, स्वप्नसर्ग पृ० १९०

२. प्रसाद, विशाख, द्वितीय अंक, पृ० ६३

होता है, किसी को दोपहर की चढ़ती हुई धूप में, सड़क पर पत्थर तोड़ती हुई स्वेदानना श्रमबाला में ही सौन्दर्य के दर्शन होते हैं[1] और किसी को 'कोमल कुसुमों की मधुर रात' में ही सौन्दर्य का विकास प्रतीत होता है।

रमणीयता

प्रसाद के सौन्दर्यावलोकन का एक विशेष दृष्टिकोण है और वह है उनका रमणीयपरक दृष्टिकोण। उन्हें विश्व की प्रत्येक रमणीय वस्तु में सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। प्रकृति के समस्त विराट् दृश्यों का भी एक रमणीय पक्ष होता है जो भय के स्थान पर अद्भुत आह्लाद उत्पन्न करता है।[2] विराट् की इस रमणीयता में ही सौन्दर्य की अवस्थिति है। रमणीयोपासना के कारण ही उन्हें भीषण प्रलयकाल में भी नील व्योम वसुधा के आलिंगन के लिए नीचे उतरता हुआ प्रतीत होता है। उसका अंक हिमानी के सदृश शीतल प्रतीत होता है। विनाशकारी ताण्डव नृत्य भी, जिसमें श्रम सीकर सदृश तारिकायें झड़ती हैं, आनन्दपूर्ण जान पड़ता है—

नर्तन में निरत कान्तिमय सिन्धु में प्रकृति जब घुल-मिल कर अपना सुन्दर स्वरूप धारण करती है तो भीषणतर भी कमनीय हो उठता है।[3]

मधुवृत्ति

इस रमणीय सौन्दर्य में मधुमयी मधुरता का भी महात्म्य है। सौन्दर्य के चित्रांकन में सर्वत्र उनकी मधुवृत्ति साकार हो उठती है। उनके कलाकार की चेतना की आंखे रमणीय दृश्य में ही खुलती है। जिसका दर्शन करके अचानक ही हृदय-कुसुम की भीगी हुई पंखड़ियां खुल गई और वह मधु-भिक्षा की ही रटन अधरों में लिए हुए साहित्य क्षेत्र में उतर आया।[4] उनके साहित्य में सर्वत्र 'मधु ऋतु' में 'मधु मधिर समीर' से सुवासित वातावरण में 'मधु जीवन' के 'मधुमय चुम्बन' एवं 'मधुमय स्मिति' का 'मधुर आलोक' छाया हुआ है।

---

१. वह तोड़ती पत्थर, देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर
चढ़ रही थी धूप, गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप उठी झुलसाती हुई लू,
रूई ज्यों जलती हुई भूल, गर्द चिनगीं छा गई,
प्रायः हुई दुपहरः वह तोड़ती पत्थर।

—निराला, अनामिका, पृ० ८०

२. प्रसाद, लहर, पृष्ठ २५
३. वही, पृ० १७
४. प्रसाद, लहर, पृ० १७

वर्ण-प्रियता

सौन्दर्यानुभूति में वर्णों का विशेष महत्व हैं। वैसे तो शास्त्रीय दृष्टि से प्रत्येक वर्ण की भिन्न-भिन्न विशेषतायें निर्धारित की गई हैं यथा लाल रंग अनुराग का एवं श्वेत रंग शांति, सौम्यता एवं पवित्रता का संकेत देता है। किन्तु प्रत्येक कलाकार को एक विशेष वर्ण प्रिय होता है। उसकी समस्त कृतियों में इस वर्ण विशेष की आभा छाई रहती है। प्रसादजी को नील, पीत, एवं अरुण वर्ण अधिक प्रिय थे। नील वर्ण उन्हें विशेष रूप से प्रिय था।

कहीं तो देव–कामनियों के नयनों से 'नील नलिनों' की सृष्टि हो जाती है और कहीं रजनी नायिका 'नील नयनी' से ताराओं की घनी पंक्तियां ढुलकाती है। उनकी नायिका के शृंगार में नीलिमा का ही प्राधान्य है। उसका एक रूप दृष्टव्य है—

उसके उन्नत वक्षथल पर नीली रेशमी पट्टी मात्र बंधी थी।[१] काशी का बना स्वर्ण तारों से संचित नीला लहंगा जिसके ऊपर मेखला की सतलड़ी विशृंखल हो रही थी।....कालिन्दी अपने नील वसन में आकाश में चांदनी सी खिल रही थी।[२]

नील वर्ण के साथ ही उन्हें पिंगल वर्ण भी प्रिय है। पराग वाले पीले रंग के साथ नील वर्ण का सामञ्जस्य प्रसाद के सौंदर्य चित्रण की विशेषता है। इसके एक दो उदाहरण ही पर्याप्त है—

> पिंगल किरणों सी मधु लेखा,
> हिम शैल बालिका को तूने कब देखा।[३]
> नव कोमल आलोक बिसरता
> हिय संसृति पर भर बिखरता अनुराग,
> सित सरोज पर क्रीड़ा करता
> जैसे मधुमय पिंग पराग।[४]

---

१. प्रसाद, इरावती, पृ० ५६

२. प्रसाद. इरावती, पृ० ७९, ८०

३. प्रसाद, लहर, पृ० १५

४. प्रसाद, कामायनी, पृ० २३

पीला रंग अधिक चटकीला होने पर स्वर्णिम अथवा सुनहरा रंग हो जाता है। प्रसादजी की उषा नायिका कभी सुनहले तीर बरसाती हुई जय लक्ष्मी सी उदित होती है।[१] कभी वह सुनहला मधु पिलाती है और प्रकृति फूल बरसाती है[२]

इस प्रकार प्रसाद ने इस करुण मधुमय देश में प्राप्त सौन्दर्य को सर्वत्र नील और पिंगल वर्ण से रंग कर अपने साहित्य में चित्रित किया है। कहीं-कहीं उसमें अरुण वर्ण की भी छटा दर्शनीय है।

रूप, यौवन और विलास

प्रसाद रूप, यौवन और विलास के कलाकार हैं। यौवन की मधुरिमा में ही सौन्दर्य का विकास होता है। 'अकस्मात जीवन कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियां हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल कौन ? कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है।'[३] प्रसाद ने जीवन में मधुर यौवनोन्माद का ही आह्वान किया है। वही उन्हें स्पृहणीय है। क्योंकि संसार नित्य यौवन और जरा के चक्र में घूमता रहता है। परन्तु मानव-जीवन में तो एक ही बार यौवनोन्माद का प्रवेश होता है।[४] इस प्रथम यौवन की मदिरा से मृत प्राणी को केवल प्रेम करने की, हृदय दे डालने की परवाह होती है।[५] उसका हृदय जैसे शिथिल होकर पागल की भांति प्रेम-प्रलाप ही करता रहता है।[६]

उनकी सभी नायिकाओं श्रद्धा, इड़ा, चन्दा, नूरी, बेला, मंगला, लालवती, मधुलिका, कालिन्दी आदि में यौवन का कोकिल कूक रहा है। यौवन के कारण ही उनके अंगों से सौन्दर्य की अपूर्व आभा छिटक रही है। इसके आकर्षक एवं उन्माद में सभी अनुरक्त हो प्रेम विभोर हो उठते हैं।

सौन्दर्य-बोध के क्रमिक विकास का स्वरूप

प्रसाद एक कवि का हृदय और दार्शनिक की दृष्टि लेकर साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए थे। बाल्यकाल में ही की गई अमर कण्टक और महोदधि की यात्राओं

---

१. वही, पृ० २३
२. उषा सुनहला मधु पिलाती प्रकृति बरसती फूल,

—प्रसाद, अजातशत्रु, पृ० ७६
३. प्रसाद, चन्द्रगुप्त, चतुर्थ अंक, पृ० १८८
४. प्रसाद, इरावति, पृ० १९
५. प्रसाद, चन्द्रगुप्त, द्वितीय अंक, पृ० ११०
६. प्रसाद, चतुर्थ अंक, पृ० १३९

में उन्होंने प्रकृति सौन्दर्य के अनुपम वैभव के दर्शन किए थे। इस सौन्दर्य की अमिट छाप उनके कोमल बाल हृदय पर अंकित हो गई थी। वह छवि कालान्तर में स्पष्टतर होती गई।

कला के प्रभात से पूर्व अन्तःकरण के मनोहर नीड़ में मनोवृत्तियां सो रही थीं। नील-गगन के समान ही हृदय शान्त था। वाह्य एवं आन्तरिक प्रकृति भी सो रही थी कि सुमन के सौरभ से लदे हुए मलयानिल लेकर–स्पर्श से गुदगुदाकर कलाकार ने नेत्र खोल दिए। नेत्र खुलते ही सम्मुख अद्‌भुत आनन्दमय दृश्य था। प्राची में बाल-अरुण की छवि छाई हुई थी। उस सौन्दर्य से अभिभूत कलाकार प्रसाद का हृदय नवल राग-रंजित हो गया। मन पवित्र उत्साह से परिपूर्ण हो गया[1] और वह अनुराग-रंजित किरण से पूछ बैठा—

> किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रंगी हो तुम किसके अनुराग,
> स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
> अरुण शिशु के मुख पर सविलास सुनहली लट घुंघराली कान्त,
> नाचती हो जैसे तुम कौन उषा के अंचल में अश्रान्त ॥[2]

कवि की दृष्टि जिस ओर भी जाती है, वहीं उसे अनन्त सौन्दर्य के दर्शन होते है। उसे प्रतीत होता है कि किसी एक शक्ति का सौन्दर्य सृष्टि के कण कण में स्पन्दित हो रहा है। वसुन्धरा, जल, धनंजय, पवन, दिनेश, शशांक और सज्जन-हृदय सभी एक सौन्दर्य की प्रभा से आलोकित हो रहे हैं।[3] इस अनन्त सौन्दर्य से अभिभूत होकर कवि पुकार उठा—

> हे अनन्त रमणीय कौन तुम यह मैं कैसे कह सकता,
> कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता।[4]

इस परम नील व्योम में ग्रह, नक्षत्र, एवं तारकवृन्द उसी की कान्ति से दीप्तिमान हैं। मन्द, गम्भीर एवं धीर स्वर से सागर उसी का गान कर रहा है। प्रकृति की समस्त विभूतियों में—नील गगन-मण्डल में चमकते हुए तारागणों में, हिम-बिन्दुओं में, मधुर मारुत में, कल-कल करती हुई निर्झरणी में, एवं उत्संग पर्वत-शृंगों में जिस स्निग्ध, शान्त, गम्भीर, महा सौन्दर्य-सागर के कण बिखरे

---

१. प्रसाद, झरना, प्रथम प्रभात, पृ० ५
२. प्रसाद, किरण, पृ० १४
३. प्रसाद, झरना, अष्ट मूर्ति, पृ० १४२
४. प्रसाद, कामायनी, पृ० २६

हुए हैं, वह विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।[१] उस सुन्दरतम की ओर संकेत करते हुए ही कवि संसार को संदेश देता है कि पार्थिव वस्तुओं के क्षण भंगुर सौन्दर्य को ही देखकर नहीं रीझना चाहिए। सौन्दर्य पर गर्वित मानव मधु-लब्ध-भ्रमर के समान जिन पुष्पों को देख-देख कर सुख का अनुभव करता है, वे छोटे-छोटे पुष्प इस शस्यश्यामला धरती पर उस विश्वात्मा का सौन्दर्य ही तो धारण करते हैं। उस सुन्दरतम की सुन्दरता सम्पूर्ण विश्व में छाई हुई है। इस अनन्त प्रकृति सौन्दर्य के दर्शन के लिए भावुक हृदय चाहिए। हृदय को प्रशान्त बनाकर, जब उसका दर्शन किया जाता है, तभी वह हमें उल्लसित कर सकता है।[२] वास्तव में सब ओर प्रकृति के ही परम सौन्दर्य का विस्तार है। मनुष्य का हृदय स्वार्थ से परिपूर्ण है। इस स्वार्थ की संकुचितता के कारण प्रकृति में सौन्दर्यानुभूति नहीं हो सकती।[3]

उनका यह सौन्दर्य-दर्शन विकास के विभिन्न सोपानों पर चढ़ता हुआ उस व्यापक सीमा पर पहुंच गया है जहां सुन्दर-असुन्दर का भेद समाप्त होकर सर्वत्र केवल सुन्दरम् ही दृष्टिगोचर होता है।

उन्हें सर्वप्रथम प्रकृति के अनन्त विस्तार में सौन्दर्य के दर्शन हुए हैं। ईश्वर की रचना का वास्तविक लाघव प्रकृति सौन्दर्य द्वारा ही द्रष्टव्य है। "प्रकृति सौन्दर्य ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत समूह है, अथवा उस बड़े शिल्पकार के शिल्प का एक छोटा सा नमूना है, या इसी को अद्भुत रस की जन्मदातृ कहना चाहिए। इसका सम्पूर्ण रूप से वर्णन करना तो मानो ईश्वर के गुण की समालोचना करना है।"[४]

उन्होंने प्रकृति के कवि पंत के समान उसको देवी कह कर अभ्यर्थना की है। क्योंकि इसका स्वरूप अकथनीय है। द्वीप, महाद्वीप, प्रायःद्वीप, समुद्र, नदी, पर्वत, नगर अथवा सम्पूर्ण जलस्थल का सौन्दर्य प्रकृति के उदर में है।[५] किन्तु पंत के समान प्रसाद प्रकृति के साथ निसर्ग तादात्म्य स्थापित नहीं कर सके हैं। इसका कारण सम्भवतः यही हो सकता है कि पंत का जन्म एवं लालन-पालन प्रकृति-सुषमा की क्रोड़ में हुआ है, वहां प्रसाद का सम्पर्क कतिपय यात्राओं एवं काशी के

---

१. प्रसाद, प्रेमपथिक, पृ० ३०–३१
२. बनालो अपना हृदय प्रशान्त, तनिक तब देखो वह सौन्दर्य।
   चन्द्रिका सा उज्जवल आलोक, मल्लिका सा मोहन मृदु हास॥
३. नील नभ में शोभित विस्तार, प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
   नर हृदय परिमित प्रेरित स्वार्थ, बात कुछ जंचती नहीं यथार्थ॥
४. प्रसाद, चित्राधार, पृ० १२८
५. वही, पृ० १२८

गंगा तटीय क्षेत्र तक ही सीमित था। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने इस तथ्य को लक्षित करते हुए कहा है—"अंग्रेजी कवि वुड्सवर्थ की भांति प्रकृति के प्रति उनका निसर्ग सिद्ध तादात्म्य नहीं दीख पड़ता। प्रत्येक पुष्प से उन्हें वह प्रीति नहीं थी जो वुड्सवर्थ की थी। प्रत्येक पर्वत प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीय नहीं। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नहीं करते........उनका प्रेम रमणीयता से है प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता में रमणीयता देखते है।........इस सुन्दरता के सम्बन्ध में उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय पक्ष है, जिज्ञासा उनका मस्तिष्क पक्ष।

यह जिज्ञासा ही प्रकृति और उनके मध्य व्यवधान बन कर खड़ी हो गई। जब-जब उनका मन प्रकृति-सौन्दर्याकर्षण की ओर खिचा कि उसमें रमने से पूर्व ही उसके सम्मुख दार्शनिक जिज्ञासा एवं कौतूहल उपस्थित हो जाते थे।

वह यह समझने में असमर्थ है कि सृष्टि में प्रलय मचा देने वाली प्रकृति भी किस अदृष्ट सत्ता के सम्मुख नतमस्तक हैं। उन्होंने प्रकृति के मध्य ही जीवन और जगत का अस्तित्व माना है। उसमें उन्हें एक अदृश्य सत्ता व्याप्त प्रतीत होती है। प्रकृति की भांति ही जीवन और जगत् हैं। जीवन और जगत् में प्रकृति व्याप्त है। अतः प्रसाद का प्रकृति-सौन्दर्य जीवन-सौन्दर्य से विलग नहीं है। उनके द्वारा अंकित समस्त प्रकृति-सौन्दर्य पर एक मानवीय-सुषमा छाई हुई हैं। उन्होंने प्रकृति के कार्य-व्यापारों का सूक्ष्मता से अवलोकन करते हुए बड़ी ही मधुरता से उस पर मानवीय भावों का आरोप किया है।

उनके साहित्य में प्रकृति के अश्लिष्ट अथवा स्वतन्त्र रूप का भी वर्णन हुआ है, परन्तु वह अधिक नहीं है। उनकी कहानियों का आरम्भ प्रायः ही प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य-चित्रण से हुआ है।

प्रकृति-सौन्दर्य के उपादानों में उन्हे रजनी, उषा, एवं संध्या विशेष प्रिय हैं। उनकी उषा नागरी का सौन्दर्य अवलोकनीय है—

> बीती विभावरी जागरी। अम्बर पनघट में डुबो रही—
> तारा घट उषा नागरी ॥
> खग कल-कल सा बोल रहा, किसलय का अन्चल डोल रहा,
> लो यह तालिका भी भर लाई, मधु मुकुल नवल रस गागरि।
> अधरों में राग अमन्द पिये, आंखों में मलयज बन्द किए,
> तू अब तक सोई है आली, आंखों में भरे विहागरी।[1]

---

१. लहर, पृ० १९

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी रजनी-नायिका का सौन्दर्य भी द्रष्टव्य है। उस यौवन की मतवाली का नील वसन फट गया है, जिससे जगत् उसकी भोली-भाली छवि को लूट रहा है। उस बेसुध चंचल रजनी से अपना अचंल भी नहीं सम्भल रहा है। वह छूट पड़ा है। उसमें से समस्त मणिराशि बिखर रही है।[१]

प्रसादजी ने साहित्य में प्रकृति के अनूठे सजीव चित्रों का अंकन किया है। कही मानव-भाव सौन्दर्य को प्रकृति ने और भी अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है तो कहीं वह उसके भावों की सहगामिनी बन कर प्रस्तुत हुई है और कभी वह स्वयं मानवी क्रियाकलापों में व्यस्त हो जाती है।

मानव-सौन्दर्य

जब कलाकार को प्रकृति—सौन्दर्य से परितुष्टि नही हुई तब वह मानव-सौन्दर्य की ओर उन्मुख हुआ। कविवर पंत ने प्रकृति को सुन्दर मानते हुए भी सृष्टि में मानव को ही सुन्दरतम माना है। प्रसाद भी वस्तुतः मानवीय भावनाओं के ही कलाकार हैं। उनकी समस्त जड़-चेतन सौन्दर्य-सृष्टियों पर एक मानवीय सुषमा छाई हुई है।

साहित्य में मानवीय रूप-चित्रण की परम्परा बहुत पुरानी है। आदि कवि से लेकर अद्यतन कलाकारों की तूलिका ने मानव-सौंदर्य के अनेक रूप चित्र अंकित किये हैं और कर रही है। प्रसाद ने मानव के बाह्य एवं आंतरिक रूप-सौंदर्य के अपूर्व चित्र अंकित किए हैं। उनमें रीतिकालीन अतिशयोक्ति का भार न होकर अनुभूति की तरलता है। उस रूप-सृष्टि में पवित्रता का प्रकाश है। उन्होंने मानव का बाह्य रूपांकन भारतीय संस्कृति आदर्शों के परिवेश में किया है। उन्होंने उसकी आकृति एवं गठन का चित्रण भारतीय मूर्तिकला के आधार पर किया है।[२]

उन्हें केवल बाह्य सौंदर्य रुचिकर नही है। मनुष्य की आत्मा का सौन्दर्य ही उसका वास्तविक सौन्दर्य हैं। सुन्दर आकृति में सुन्दर गुणों का निवास मानव-सौंदर्य की परिपूर्णता है। उसमें दया, करुणा, प्रेम, उत्साह, उदारता और त्याग आदि विश्व मंगलकारी गुणों का होना आवश्यक है। विशेष रूप से करुणा और प्रेम जिस मनुष्य में नही है वह तो मानव कहलाने का ही अधिकारी नहीं है। उन्होंने वही स्वर्ग की कामना की है, जहां परम करुणामय सज्जन हृदय हैं। जिसका मानस

१. कामायनी, आशा, पृ० ३९
२. आंधी, पृ० ३

प्रेम के सुधा-सलिल से विभोर है।[1] इन गुणों से विहीन मनुष्य चाहे कितना ही महत्वाकांक्षी, वीर एवं आत्मबल वाला हो वह महान् नहीं कहला सकता। प्रसादजी ने कहा भी है—

किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही करे प्रशंसा, किन्तु हिमालय सा भी जिनका हृदय रहे और प्रेम, करुणा, गंगा यमुना की धारा वहो नहीं कौन कहेगा उसे महान्? न मरु में उसमें अन्तर है।[2]

इस प्रकार उन्होंने मानव के बाह्य आकृतिगत सौन्दर्य का आत्मिक सौंदर्य से संस्कार करवा कर उसे साहित्य में प्रस्तुत किया है। नारी-सौंदर्य का चित्रण तो परम्परा से होता आ रहा है, किन्तु प्रसादजी की यह विशेषता है कि उन्होंने पुरुष-सौंदर्य का भी चित्रण किया है। वैसे प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य में नारी की ही सुषमा छाई हुई है। सर्वत्र उनकी नारी-भावना ही प्रमुख रही है। उनके मानव-सौंदर्य के चित्र पुरुष, नारी एवं बाल-सौन्दर्य के अन्तर्गत अवलोकनीय हैं।

उन्होंने नारी के अनेक पूर्ण एवं खण्ड चित्र प्रस्तुत किये हैं। उनके नारी सौंदर्य चित्रण की यह विशेषता है कि वह वैभव-विलास से संयुक्त होता हुआ भी पंकिलता से दूर पवित्रता की भूमि पर प्रतिष्ठित है।

नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।[3]

उसके शरीर की पावन मधुरता भी दर्शनीय है—

चन्चला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।[4]

उन्होंने श्रद्धा के अलौकिक स्वरूप से लेकर कन्वर भील तथा कोल नारियों तक के चित्र प्रस्तुत किए हैं। ये सभी नारियां युवतियां हैं, जिनके हृदय में प्रेम और करुणा का सागर लहरा रहा है। प्रसादजी की नारी सृष्टि में प्रेम का संदेश

---

१. स्वर्ग है नहीं दूसरा और
सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है और
सुधा सलिल से मानस जिसका पूरित प्रेम विभोर।

—अजातशत्रु, पृ० ११६

२. प्रेम पथिक, पृ० २८

३. लहर, पृ० ८६

४. आंसू, पृ० २४

देने के लिए ही अवतरित हुई है।[1] नारी का हृदय कोमलता का पालना, दया का उद्‌गम और शीतलता की छाया करने वाला है।[2] जहां उसमें अवयव की कोमलता है वहीं सतीत्व की दृढ़ता भी है। वह भारतीय संस्कृति के रंग में रंगी हुई आदर्श प्रेमिका है, आदर्श पत्नी और आदर्श मां है।

पुरुष-सौन्दर्य

पुरुष और प्रकृति के सहयोग से ही इस अनन्त सौन्दर्यमयी सृष्टि की रचना हुई है। आदि काल से लेकर आज तक इस सृष्टि का परिचालन पुरुष और नारी के परस्पर सहयोग द्वारा ही हो रहा है। न तो नारी ही स्वयं में पूर्ण है और न पुरुष ही पुरुष रूप में। यदि एक ओर नारी का सौन्दर्य उसके अवयवों की कोमलता से है तो दूसरी ओर पुरुष का सौन्दर्य उसके पुरुषत्व में। यदि पुरुष विशाल आम्रवृक्ष है तो नारी मृदु-मधुर माधवीलता जो वृक्ष का अवलम्ब लेकर ही विकसित होती है।

नारी की कोमलता को अपने पुरुषत्व का दृढ़ आधार प्रदान करने वाले पुरुष सौन्दर्य से भावुक कलाकार का मानस भला क्यों कर कर वन्चित रहता। वैदिक काल में इन्द्र के सौन्दर्य-वर्णन के साथ काव्य में पुरुष-सौन्दर्य-चित्रण की परम्परा आरम्भ हुई थी, जिसका यथावधि निर्वाह हो रहा है। यह अवश्य है कि साहित्य में पुरुष सौन्दर्य की अपेक्षा नारी सौन्दर्य की ही अधिक समृद्ध परम्परा रही है, जिसका प्रमुख कारण सम्भवतः अधिकांश कवियों का पुरुष होना है, जो स्वभावतः नारी की ओर ही अधिक आकृष्ट हुए हैं।

हिन्दी-साहित्य के चारों कालों में पुरुष-सौन्दर्य का अंकन होता जा रहा है। आदिकाल में पुरुष के शौर्य एवं वीरता की रेखाओं में प्रेम का गहरा रंग भर कर उसके सौन्दर्य का मार्मिक चित्रण किया गया है। भक्ति-काल में वह ईश्वरीय तथा अलौकिक गुणों से विभूषित होकर अवतरित हुआ है। रीतिकाल में यदि एक ओर सहज विरतादि गुणों से च्युत केवल वासना के कठपुतले पुरुषों का, दरबारी विलास से युक्त अलंकृत वर्णन हुआ है तो दूसरी ओर शिवाजी, छत्रसाल, हम्मीर आदि वीर पुरुषों के शौर्य-चित्र भी प्रस्तुत किए गए हैं। आधुनिक काल में नारी के साथ पुरुष-सौन्दर्य के प्रति भी दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर हो गया है। आज

---

१. यह लीला जिसकी विकस चली, वह मूल शक्ति थी प्रेम कला,
उसका संदेश सुनाने को संसृति में आई वह अमला।

—कामायनी, कामसर्ग, पृ० ७६

२. अजातशत्रु, पृ० १११–११२

न तो उसके केवल वीर एवं शौर्यशाली स्वरूप में सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है और न ही उसके ईश्वरीय और वासना प्रधान शृंगारी रूप में। आज पुरुष-सौन्दर्य प्राचीन एवं नवीन सौन्दर्य की विशेषताओं से युक्त पूर्ण मानव है। यह पुरुष वीरता उत्साहादि गुणों से ही नहीं वरन् मानवीय गुणावगुणों से भी युक्त है।

प्रसादजी के पुरुष-सौन्दर्य का आदर्श वैदिक इन्द्र का पुष्ट एवं सबल शरीर है, जिसमें वीरता, उत्साह, साहस, शौर्य और तेज की दीप्ति है साथ ही वह ईर्ष्या, चिन्ता आदि भावों से भी अस्पृश्य नहीं है। इसके अवयव की दृढ़ता में एक ऐसा कोमल हृदय धड़क रहा है, जो प्रेम की एक भीड़ पर व्याकुल होकर न्यौछावर हो जाना चाहता है। वह पाप को भी अस्वीकार कर सकता है, दया को भी नहीं मानता परन्तु उसे हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा है जो नारी के प्रेम-स्पर्श मात्र से चन्द्रकान्त-मणि की भांति पिघल जाना चाहता है।[1] चन्द्रगुप्त, चाणक्य, स्कन्दगुप्त आदि निःस्पृह, वीरों से लेकर साधारण नागरिक एवं भील, कोल आदि युवकों तक में एक प्रेम की सरिता लहरा रही है, जिसके स्पर्श मात्र में एक करुणा की शीतलता है।

बाल सौन्दर्य

मानव सौन्दर्य के अन्तर्गत बाल-सौन्दर्य का विशेष महत्व है। उसमें यौवन का ऊष्ण विलास और उन्मादकारी अनुराग न होकर केवल निश्छल सारल्य होता है।

उसकी भोली सरल आकृति और निश्छल स्वभाव पर प्रसादजी का मन मुग्ध है। बालकों के सम्मुख राजा और रंक दोनों समान हैं। जो भी उन्हें स्नेह प्रदान करता है, वे उसके साथ अकारण ही हंसते रहते हैं। उनका मान महामानियों से भी गुरुत्तर है। किन्तु क्षण भर में ही मां की किलक के साथ संसार का सारा उल्लास भी उनमें सिमट आता है।

वस्तुगत सौन्दर्य

मानव एवं प्रकृति के विशाल सौन्दर्य-प्रांगण से होती हुई प्रसाद की सौन्दर्यान्वेषिणी दृष्टि मानव द्वारा निर्मित विविध कलात्मक वस्तुओं—विशाल प्रासादों तथा कलात्मक मूर्तियों आदि की ओर भी गई है। उनका वस्तुवर्णन केवल वर्णन मात्र नहीं है, वह एक चेतना से ओतप्रोत है। उन्होंने विगत युग के वैभवपूर्ण शिल्प का करुणा कलित स्वरूप ही अपने साहित्य में प्रतिष्ठित किया है।

---

१. आकाशदीप, पृ० १९

कलात्मक सौन्दर्य

दर्शक की दृष्टि सर्वप्रथम रूप पर ही जाती है। कलाकार अपनी सुन्दर अनुभूति को एक विशेष ढंग से प्रस्तुत करता है। फलतः वह साधारण अभिव्यक्ति से अधिक प्रभविष्णु एवं कलात्मक हो जाती है। सामान्य बात को भी वह अपनी शैली में इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह असाधारण प्रतीत होती है। यही असाधारण एवं विलक्षण अभिव्यक्ति साहित्य में कलात्मक सौन्दर्य के नाम से अभिहित की जाती है। प्रसादजी ने भी अभिव्यक्ति के वाह्य स्वरूप को कला की संज्ञा प्रदान की है।[1]

प्रसाद की कविता विशुद्ध मधुमयी एवं गीतात्मक है। अनुभूति की मधुरता एवं गहनता के अनुरूप ही उनकी भाषा में भी प्रांजलता कोमलता एवं माधुर्य है। उनके अलंकार-विधान में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का ऐसा समुचित समन्वय है कि तरल अनुभूति का पूर्ण विम्ब ही स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने यदि एक ओर भारतीय छन्दों में अपने काव्य का प्रणयन किया है तो दूसरी ओर सॉनेट (चतुर्दशपदी), ऑपेरा (नाट्यगीत), ओड (सम्बोधन गीत) आदि का भी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। प्राचीन एवं नवीन छन्दों के सम्मिश्रण से उन्होंने कुछ विशेष छन्दों का निर्माण किया है। आनन्द नामक छन्द तो उनकी मौलिक सृष्टि ही है। छन्दों के विषय में वे स्वच्छन्दतावादी रहे हैं। अनुभूति की तरलता एवं भावगाम्भीर्य के अनुरूप ही उन्होंने अपने काव्य में मात्रिक-वर्णिक अथवा तुकान्त-अतुकान्त छन्दों का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया है।

---

१. "उस अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिए हम चाहे तो कला का नाम दे सकते हैं और कला के प्रति अधिक पक्षपात-पूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार-वक्रोक्ति, और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए, किन्तु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यताएं और धारणाएं हैं। प्रतिभा का किसी कौशल विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के वाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा सी चल पड़ी है।"

—प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४३

तृतीय अध्याय

मानव-सौन्दर्य

मानव–सौन्दर्य

विधाता द्वारा निर्मित सृष्टि में मानव उसकी सर्वोत्तम रचना है। जन्म ग्रहण करने के साथ ही उसे मां की ममतामयी थपकियां मिलती हैं। कुछ वयस् प्राप्त करने पर पिता के अनुशासन भरे वात्सल्य से उसका परिचय होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर वह समाज के विभिन्न अंगों के सम्पर्क में आता है और मानव के विभिन्न रूपों के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता जाता है। मानव-सौन्दर्य के साथ ही वह यथावसर प्रकृति-सौन्दर्य के भी सम्पर्क में आता है, परन्तु वह इससे सर्वथा मुक्त नहीं रह पाता। प्रकृति-सौन्दर्य में भी वह मानवीय सुषमा एवं क्रिया-व्यापारों के ही दर्शन करता है।

कलाकार भी मानव-सौन्दर्य से सबसे अधिक प्रभावित होता है। प्रकृति-सौन्दर्य के अनन्य कलाकार पंत ने सुमन, पुष्प आदि प्रकृति के उपकरणों को सुन्दर मानते हुए भी मानव को ही सुन्दरतम की प्रतिष्ठा प्रदान की है।

मानवीय सौन्दर्य के विविध रूप

उस सुन्दर की 'सुन्दरतम रचना' का सौन्दर्य विविध रूपों में प्ररिलक्षित होता है। कभी उसकी वाह्य आकृति गठन अथवा कोई विशिष्ट रूप-सज्जा उसके नेत्रों को वरवस आकृष्ट कर लेती है और कभी उसके द्वारा किए गए मंगलमय कार्य। अतः उसके सौन्दर्य का पूर्णास्वादन दो रूपों में किया जा सकता है।

बाह्य सौन्दर्य

मानव का वाह्य रूप-चित्रण प्राचीन काल से ही कवियों का प्रिय विषय रहा है। महाकाव्यों में नख-शिख-वर्णन की परम्परा का निर्वाह वाह्य सौन्दर्य के अन्तर्गत ही होता आ रहा है। इसके अन्तर्गत नारी अथवा पुरुष की वाह्य रूप-रेखा, गठन, वर्ण-दिप्ति एवं उसके विभिन्न अंगों का चित्रण किया जाता है। साथ ही कलाकार उसके द्वारा उपयोग में लाये गए विभिन्न प्रसाधनों एवं वस्त्राभूषणों का भी वर्णन करता है। इन उपकरणों से सज्जित उसका कोई स्वरूप कवि के मन को इतना प्रिय लगता है कि वह उसके अनेक विद्ध चित्र अपने साहित्य में अंकित कर देता है। कभी उसकी कोई विशेष भंगिमा, उसे इतना

अधिक आकृष्ट कर लेती है कि वह उसके अनेक लघु-चित्रों को अपनी कल्पना रंगों से रंग कर प्रस्तुत करता है और कभी वह उसकी साज-सज्जा के प्रसाधनों एवं वस्त्राभरणों से प्रभावित हो उनका अंकन करता है।

अन्तः सौन्दर्य

मानव की बाह्य रूपाकृति तो केवल नेत्रों को ही आकृष्ट करती है, किन्तु उसके गुण तो सदैव के लिए हृदय को अपने पाश में बांध लेते हैं। यही कारण है कि धैर्य, दृढ़ता, वीरत्व, पराक्रम, सत्यनिष्ठता आदि गुणों, जाति, देश एवं विश्व-सेवा, परोपकार आदि कार्य व्यापारों तथा लज्जा, सहानुभूति, करुणा, प्रेम आदि भावों के विश्वमंगलकारी रूपों में कलाकार की वृत्तियां इतनी लीन हो जाती हैं कि वह उनका अंकन-चित्रण किए बिना रह ही नहीं सकता। अतः प्रसाद साहित्य में अंकित मानव-सौन्दर्य के सम्यक् विवेचन के लिए नारी, पुरुष एवं बाल-सौन्दर्य के अन्तः एवं बाह्य पक्षों पर पृथक्-पृथक् रूप से प्रकाश डाला जाता है।

नारी-सौन्दर्य

स्नेह की मंदाकिनी, प्रणय की पीयूषिणी, ममता की दुलार भरी थपकियां देकर सुलाने वाली, अपने शरीर की सुषमा के सौरभ से सुवासित कर देने वाली नारी का सौन्दर्य सृष्टि के आदिकाल से मानव-सौन्दर्यानुभूति का केन्द्र रहा है। वस्तुतः सृष्टि के विकास के मूल में नारी ही है। विश्व-सुन्दरी प्रकृति के आकर्षण में निबद्ध पुरुष के समागम द्वारा ही सृष्टि का निर्माण हुआ है। नारी ही पुरुष की शक्ति है। उसकी शक्ति द्वारा ही पुरुष का उन्नयन, पोषण और विकास होता है।

भारतीय सांस्कृतिक विचारधारा के अनुसार नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है। स्त्री-पुरुष का संयोग सृष्टि के विकास का मूल है। "वह सृष्टि का साधन और प्रकृति का मूर्त्त रूप होकर पुरुष के लिए सौन्दर्य, प्रेम, अनन्यता और आनन्द का कारण बनती है। इसीलिए वह मान्या है, पूज्या है, आराध्या है, इसीलिए उसमें देवत्व है और इसीलिए वह श्री है, शक्ति है, चिति है।"[१] यही कारण है कि भारतीय एवं यूनानियों ने अपनी कला की देवी की कल्पना नारी-रूप में की है।

वस्तुतः नारी कला एवं सौन्दर्य का ही मूर्त्त संस्करण है, क्योंकि यदि सौन्दर्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति कला है तो कला की संसार की सर्वाधिक सुन्दर

१. डा० देवेश ठाकुर, प्रसाद के नारी चरित्र, पृ० २६.

वस्तु नारी की ही प्रेरणा, आलम्बन एवं आधार ग्रहण करना पड़ेगा। इस प्रकार सौन्दर्य कला एवं नारी एक दूसरे के पूरक हैं। सौन्दर्य कला का आधार है और सौन्दर्य की शोभा नारी। नारी का सौन्दर्य कला की अभिधा ग्रहण कर लेता है। उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द ने तो कहा है कि संसार में जो कुछ सुन्दर है उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूं।[1] तुलसीदास ने उसे सुन्दरता को भी सुन्दर बनाने वाला[2] कहा है। मैकाले भी यह कहने की अनुमति चाहते हैं कि संसार की सर्वाधिक सुन्दर वस्तु एक सुन्दर नारी है।[3] पंत ने नारी हृदय में ही स्वर्ग की कल्पना की है।[4]

इस नारी-सौन्दर्य की रूप-ज्वाल में न जाने कितने पुरुष पतंगें भस्मीभूत हो चुके हैं। नारी की एक कुटिल भ्रू-भृंग ने शक्तिशाली साम्राज्यों की नींव हिला दी है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सीता, द्रौपदी, पद्मिनी, संयोगिता, कृष्ण-कुमारी आदि नारियां ही हैं, जिनके कारण भयानक विनाशकारी युद्ध हुए। भारत में ही नहीं, विदेश में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है। हेलन के सौंदर्य की लालसा की अग्नि में सम्पूर्ण रोम और ट्राय नगर भस्म हो गए थे।

साहित्य के इतिहास में भी आदिकाल से लेकर अद्यतन कवि की प्रेरणा नारी ही रही है। अवश्य ही युग एवं परिस्थितियों के परिवेश में उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। वैदिक काल में वह मंगलमयी उषा-सुन्दरी विदुषी-नारी के स्वरूप में प्रकट हुई है। संस्कृत-काल में कालीदास की कला के सम्पर्क में यदि एक ओर वह कान्चनवर्णी तन्वंगी अंगों के वाह्य सौन्दर्य की दीप्ति फैला रही है तो दूसरी ओर उसके हृदय में भी सुन्दर भावनाओं का सागर लहरा रहा है। वीरगाथा-काल की नारी के सौंदर्य का चरम स्वरूप वीरपत्नी, वीर-प्रसविनी एवं वीर भगिनी का ही है। वह अपने पति तथा भाई के लिए सदैव युद्ध का ही आह्वान करती रहती है। उसे तो कायरों का पड़ौस भी असह्य है। रीतिकालीन नारी जीवन और जगत् से दूर वैभव और विलास में डूबी हुई कौशलांगिनी है। वह संयोग और वियोग के हिण्डोले में हिचकोले खाती रहती है। पुनः द्विवेदीजी के कठोर अनुशासन

१. प्रेमचन्द, गोदान

२. तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड।

३. डिक्शनरी आफ कोटेशन्स, पृष्ठ १०३९

४. यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर
तो वह नारी उर के भीतर —पंत, ग्राम्या, स्त्री, पृष्ठ ८२

में उसने अपना समस्त शृंगार आदर्शों की ओट में छिपा दिया। अब उसने पवित्र प्रणय की पूर्णता समाज-सेवा में ही प्राप्त करली।[1]

नारी का सुन्दरतम एवं पवित्रतम स्वरूप नव्यकाल अथवा छायावाद में प्रतिष्ठित हुआ। इस काल की नारी की प्रत्येक चेष्टा मन को अपूर्व श्रद्धामय प्रेम से आह्लादित कर देती है। उसके रूप में वासना की लालसा भरी आग नहीं है, अपितु प्रकृति की पावनता से ओतप्रोत मधुर यौवन का उल्लास है। प्रकृति का सौंदर्य ही मानों नारी रूप में प्रतिबिम्बित हो उठा है।[2] जब कुमुदकला बादल का इन्द्रधनुषी रेशमी घूँघट खोलती है, तब कवि को सुमुखी की याद आ जाती है।[3] सरलता ही इसका मन है और निरालापन ही आभूषण। सहज-सजीले तन में कर्णायित अनजाने भोले नयन हैं।[4] इस नारी का रोम-रोम ही नहीं कवि को उसका उर भी स्वर्ग के समान प्रिय है।[5] वास्तव में छायावादी कवियों ने ही उसे पवित्र सूक्ष्म-सौंदर्य के अलंकृत करके, उसके हृदय के सौंदर्य का भी उद्घाटन किया है। जहां एक ओर उसकी वाह्य रूपरेखा की मोहिनी में उनके नेत्र उलझे रहते हैं, वहीं उसकी स्नेहमयी, ममतामयी मृदुल-वृत्ति की शुभ्र छवियों पर अपने हृदय को न्योछावर करते हुए उन्हें तृप्ति नहीं होती। इस काल के प्रायः सम्पूर्ण साहित्य पर नारी की कोमल रमणीयता छाई हुई है, अथवा समस्त छायावादी साहित्य के मूल में एक नारी-चेतना व्याप्त है।

---

१. ऐसी हूंगी निरत जब मैं पूत कार्यावली में,
मेरे जी में प्रणय जिससे पूर्णतः प्राप्त होवे।

—अयोध्या प्रसाद हरिऔध, प्रिय प्रवास, पृ० २५८

२. जो जगत् की स्वामिनी, भामस्विनी तुम धन्य
तुम प्रकृति के मुकुर का प्रतिबिम्ब रूप अनन्य।

—बालकृष्ण शर्मा नवीन, नारी, विशाल-भारत, १९३०, पृ० ५०५

३. देखता हूं जब पतला इन्द्रधनुषी हल्का
रेशमी घूँघट बादल का खोलती है कुमुद कला
तुम्हारे ही मुख का ध्यान मुझको करता जब अन्तर्धान,

—सुमित्रानन्दन पंत, पल्लव, पृष्ठ २१

४. सरलपन ही था उसका मन, निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन, सहज था सजा सजीला तन।

—सुमित्रानन्दन पंत, पल्लविनी, पृ० ६३

५. स्नेहमयि, सुन्दरतामयि, तुम्हारे रोम रोम से नारि
मुझे है स्नेह अपार तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि
मुझे है स्वर्गागार।

—पंत, पल्लव, पृ० ८१

पंतजी के विचारानुसार नारी ही कला एवं सौंदर्य को आकार प्रदान करती है।[1] प्रसादजी ने भी नारी को ही साहित्य अथवा सौंदर्यानुभूति की मूल प्रेरणा माना है। अतः नारी द्वारा ही सौंदर्यानुभूति की पूर्णता प्राप्त होती है। वे रूप, यौवन और विलास के अद्वितीय कलाकार हैं। उनकी नारी रीति-कालीन आभूषणों से भाराक्रांता एवं विलास चेष्टाओं से निरत नाज़ुक नहीं हैं अपितु उसके वाह्य एवं अन्तर दोनों ही पवित्रता के पावन प्रतीक हैं। पवित्रता से रहित रूप—सौंदर्य जीवित अभिशाप के समान है।[2] उस पावन तन की शोभा का वैभव भी दर्शनीय है—

> कुसुम-वैभव में लता समान, चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।[3]
> चन्चला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी,
> उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी।[4]

तन के ही नहीं प्रसाद ने उसके हृदय लावण्य के भी चित्र उतारे हैं। नारी के वक्षस्थल में दया, माया, ममता एवं मधुरिमा से पूर्ण हृदय स्पन्दित होता रहता है। वह भारतीय संस्कृति की साक्षात प्रतिमा है। वस्तुतः प्रसादजी की प्रत्येक कृति नारी को उच्चपद प्रदान करने वाली है, जो आर्य जीवन के उज्जवल आदर्शों की प्रतीक है।'[5] उनकी नारी-भावना का गौरवमय अलौकिक स्वरूप श्रद्धा के रूप में प्रतिविम्बित हो रहा है। नारी विश्वास की प्रतिमा है। उसमें किसी प्रकार की शंका अथवा सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। वह साक्षात श्रद्धा है। श्रद्धा में जिस प्रकार श्रद्धेय के सम्मान एवं मानव-मांगल्य का सामंजस्य होता है। उसी प्रकार का सामंजस्य एवं समन्वय नारी में निहित हैं। प्रसाद ने उसका ऐसा ही उदात्त स्वरूप अंकित किया है :—

> नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में,
> पीयूष स्रोत सी वहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।[6]

---

१. नारी जीवन का चित्र यही क्या विकल रंग भर देती हो,
अस्फुट रेखा की सीमा में आकार कला को देती हो।
—प्रसाद, कामायनी, पृ० १७५

२. नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं। —लहर, पृ० ८६

३. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४६

४. आंसू पृ० २४

५. स० महावीर अधिकारी, प्रसाद का जीवन दर्शन कला और कृतित्व, पृ० ३५

६. कामायनी, लज्जा सर्ग पृ० १०६.

बाह्य सौन्दर्य

इस प्रेम पीयूषवाहिनी का का बाह्य रूप भी कम आकर्षक नहीं है। नारी-रूप में मूर्तिमती कला ही आकार धारण कर इस पृथ्वी पर प्रकट हुई है।[१] बाह्य आकृति की रेखाएं मनुष्य की आयु के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। बाल्यकाल की सरल आकृति किशोरावस्था और यौवनागम तक कट-छंट कर एक विशेष बांकपना ग्रहण कर लेती है। उसमें विकसित होते हुए नवीन भावों के साथ लज्जा, क्रीड़ा, कौतूहल, आदि अनुभावों का समावेश होता है। बाला हो जाने के समीप से युवती होने का जहा प्रारम्भ होता है,[२] प्रसाद को इसी विशिष्ट अवस्था का सौन्दर्य प्रिय है।

श्रद्धा की यौवन छवि से दीप्त मूर्ति भी अपने सम्पूर्ण आलंकारिक सौन्दर्य के साथ अवलोकनीय है :—

> नित्य यौवन छवि से ही दीप्त, विश्व की करुण कामना मूर्ति,
> स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण, प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
> उषा की पहली लेखा कांत, माधुरी से भीगी भर मोद,
> मदभरी जैसे उठे सलज्ज, भोर की तारक द्युति की गोद।
> कुसुम कानन अंचल में मंद, पवन प्रेरित सौरभ साकार,
> रचित परमाणु पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार।
> और पड़ती हो उस पर शुभ्र, नवल मधु राका मन की साध,
> हंसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब, मधुरिमा खेला सदृश अबाध।[3]

इरावती, नूरी, चन्दा, चम्पा, मालवती, तितली, घंटी, तारा और मधूलिका आदि सभी ने अभी यौवन के मद भरे बसन्त में प्रवेश किया ही है। सभी यौवन की चंचल छाया में प्रेम का एक घूंट पीने के लिए उत्सुक हैं।

प्रसादजी ने एक कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि से नारी के अंग-प्रत्यंग का अवलोकन किया है। यही कारण है कि उनके रूप-चित्र सरल होते हुए भी विशिष्ट, अलंकरण रहित होने पर भी कान्तियुक्त और परम्परायुक्त होते हुए भी परम्परा-मुक्त है। उनका साहित्य इसी प्रकार के नारी के पूर्ण एवं खण्ड चित्रों से समृद्ध हैं। एक ओर उन्होंने प्रकृति के विशाल प्रांगण से नवीन मनोहर उपमानों की योजना

---

१. इरावती, पृ० ११

२. वही, पृ० २८

३. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ५५–५६

करते हुए उसके स्वस्थ एवं पवित्र सौन्दर्य के चित्र अंकित किए हैं दूसरी ओर वैभव-विलास से परिपूर्ण मादक चित्रों का भी उनकी तूलिका ने तटस्थ भाव से स्पर्श किया है।

पूर्ण विम्ब

प्रसाद को नारी की कृश, कोमल और लम्बी आकृति विशेष प्रिय है। अत्यन्त स्वाभाविक अलंकारतिरेक एवं वर्णन वैचित्र्य ने श्रद्धा के सौन्दर्य को अपूर्व व्यक्तित्व प्रदान किया है। प्रकृति के सर्वथा नवीन उपमानों ने उसके रूप में अद्भुत सम्मोहन भर दिया है। श्रद्धा का सूक्ष्म अप्रस्तुत विधान से अलंकृत शैशव के समान भोला परन्तु स्वस्थ सौन्दर्य दर्शनीय है :—

> हृदय की अनुकृति वाह्य उदार, एक लम्बी काया उन्मुक्त,
> मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल, सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
> मसृण गांधार देश के नील, रोमवाले मेषों के चर्म,
> ढक रहे थे उसका वपु कांत, बन रहा था वह कोमल वर्म।
> नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
> खिला हो ज्यों विजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग।[1]

श्रद्धा के समान ही किन्नरी के पर्वतीय स्निग्ध सौन्दर्य का चित्र भी अवलोकनीय है :—

"किन्नरी सचमुच हिमालय की किन्नरी है। ऊनी लम्बा कुरता पहने हैं, खुले हुए वाल एक कपड़े से कसे है जो सिर के चारों ओर टोप के समान वंधा है। कानों में दो बड़े बड़े फीरोजे लटकते हैं। सौन्दर्य है जैसे हिमानी-मंडित उपत्यका में वसन्त की फूली हुई वल्लरी पर मध्याह्न का आतप अपनी सुखद कान्ति बरसा रहा हो। हृदय को चिकना कर देने वाला रूखा यौवन प्रत्येक अंग में लालिमा की लहरी उत्पन्न कर रहा है।"[2]

शिशु के शुभ्र विश्वास के समान चम्पा का यौवन दुर्दान्त जलदस्यु के हृदय में भी कोमलता का संचार कर देता है—

"चम्पा की आंखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांग में वालकों के सदृश विश्वास था—उसके मन में

---

१. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४६
२. आकाशदीप, हिमालय का पथिक, पृ० ६०

संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी।........चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखेरे थे।........अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका।[1]

प्रसाद की प्रतिभा ने जहां ऐसे स्वर्गीय सौन्दर्य-चित्रों का अंकन किया है, वहीं उनके पार्श्व में उन्होंने वैभव की चकाचौंध फैलाते हुए मादक चित्रों की भी कुलशतापूर्वक रचना की है। वैभव और मद की पूर्ण प्रतिमा कालिन्दी की एक ही ही छवि ने सम्राट् ब्रहस्पतिमित्र के नेत्रों में भी तीव्र आलोक भर दिया। अन्तःपुर की अधीश्वरी के समान उसका रूप द्रष्टव्य है :—

"कालिन्दी वहां आकर खड़ी हो गयी। कालिन्दी के चरणों में अलक्तक और नूपुर-राग-संगीत बिखेर रहे थे। काशी का बना, स्वर्णतारों से खचित नीला लहंगा, जिसके ऊपर मेखला की सतलड़ी विश्रृंखल हो रही थी। मणि-जटित कंचुक-पट्ट, उमड़े हुए वक्षस्थल पर पीछे बंधा था। मरकत का हार अपनी हरियाली की छाया उस कम्बु कण्ठ पर डाल रहा था, जिसके दोनों ओर दो बड़े-बड़े मोती लटक रहे थे। अधरों पर ताम्बूल राग खिला पड़ता था। अपांग में नीलांजन की रेखा, घुंघराली वेणी के ऊपर एक महीन उत्तरीय। एक हाथ में कुसुम स्तवक दूसरा कुंध के द्वार पर। मादन चित्र। ....कालिन्दी की दुर्बल काया उसके लावण्य में वृद्धि कर रही थी। वैदूर्य के कंकण से किरणें निकल रही थी, कालिन्दी अपने नील वसन में आकाश में चांदनी सी खिल रही थी। विच्छित्ति पूर्ण श्रृंगार कला की सृष्टि कर रहा था।"[2]

उर्दू साहित्य में वर्णित सौन्दर्य के समान अकबर के सेनापति अब्दुर्रहीम खानखाना की बेगम का वारुणी की लहर की भांति नाजुक एवं मादक सौन्दर्य भी प्रसाद ने बड़ी कोमलता से अंकित किया है :—

"कंपी सुराही करकी, छलकी वारुणी
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में,
खिसक गई उर से जर तारी ओढ़नी,
चकाचौंध सी लगी विमल आलोक को,
पुच्छमर्दिता वेणी भी थर्रा उठी।
आभूषण भी झनझन कर बस रह गये।
बोल उठी वीणा—"चुप भी रहिए जरा'[3]

१. वही, आकाशदीप, पृ० १३
२. इरावति, पृष्ठ ८०
३. महाराणा का महत्त्व, पृष्ठ १३

इन राजसी वैभव पूर्ण चित्रों के साथ ही उन्होंने सरल ग्रामीण-सौन्दर्य का भी उतना ही कुशलता के साथ चित्रण किया है। इन चित्रों में राजकीय कला का ऐश्वर्य न होकर सरलता की ही गरिमा है। इसमें स्वच्छ प्रकृति में विकसित होता हुआ श्रम के स्वेद बिन्दुओं का स्वाभिमान भरा हुआ है। उदाहरणार्थ कृषक बालिका का यह सम्मान से कुछ गर्वित एवं लज्जापूर्ण शुभ सौन्दर्य का अपना ही स्वतन्त्र अस्तित्व है।

"वह सुन्दरी थी। कौशेय वसन उसके शरीर पर इधर उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसको सम्हालती और कभी अपनी रूखी अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरोनियों में गुथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते। ....आह। कितना भोला सौन्दर्य। कितनी सरल चितवन।"[1]

होली के रंग में सरोबार, वसन्त की मादकता से मदिर ग्रामिण बाला का यह सौन्दर्य भी अवलोकनीय है:—

"थोड़ी सी देर में एक चौदह वर्ष की लड़की सीढ़ियों से ऊपर आती हुई नजर पड़ी। सचमुच वह सालू की छींट पहने एक देहाती लड़की थी। कल उसकी भाभी ने उसके साथ गुलाल खेला था। वह रंगी भी मालूम पड़ती थी—मदिरा मन्दिर के द्वार सी खुली हुई आंखों में गुलाल की गरद उड़ रही थी। पलकों के छज्जे और बरोनियियों की चिकों पर भी गुलाल की बहार थी। सरके हुए घूंघट से जितनी अलकें दिखलाई पड़ती वे सब रंगी थीं न जाने क्यों इस छोटी अवस्था में ही वह चेतना से ओतप्रोत थी।"[2]

एक ओर जहां लेखक ने उपर्युक्त चित्र में ग्रामीण बालिका की सरल आडम्बर विहीन यथार्थ रेखानुकृति प्रस्तुत की है, वहां उन्होंने तितली के रूप में अपनी काव्य-कल्पना द्वारा रंग भर उसे अलौकिक एवं अतीन्द्रिय स्वरूप प्रदान किया है। ऐन्द्रियता, अलौकिकता एवं आलंकारिता के साथ सरलता का ऐसा अपूर्व सामंजस्य प्रसाद की ही विशेषता है।

तितली के पवित्र ग्राम्य-सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत है:—

'तितली की" काली रजनी सी उनींदी आंखे जैसे सदैव गम्भीर स्वप्न देखती रहती है। लम्बा-छरहरा अंग, गोरी-पतली उंगलियां, सहज उन्नत ललाट

१. आंधी, पुरस्कार, पृष्ठ ८२
२. आँधी, अमिट स्मृति, पृष्ठ ७६

कुछ खिची हुई भौंहें और छोटे से पतले-पतले अधरों वाला मुख-साधारण कृषक बालिका से कुछ अलग अपनी सत्ता बता रहे थे। कानों के ऊपर से ही घूंघट था, जिससे लटें निकली पड़ती थीं। उसकी चौड़ी किनारे की धोती का चम्पई रंग उसके शरीर में घुला जा रहा था। वह संध्या के निरभ्र गगन में विकसित होने वाली-अपने ही मधुर आलोक से सन्तुष्ट एक छोटी सी तारिका थी।"[1]

मातृत्व नारी की चिर आकांक्षा है। मातृपद में ही उसका वास्तविक गौरव निहित है। इसी गौरव की प्राप्ति के लिए वह गर्भावस्था के समस्त क्लेशों को मौन होकर सहन करती रहती है। गर्भधारण काल से ही वह आगत शिशु की मधुर कल्पनाओं में स्वप्नवत् डूबती रहती है। फलस्वरूप उसके मुख पर एक ऐसा करूण कोमल मधुर भाव छाया रहता है कि उसकी कान्ति के सम्मुख मनुष्य की समस्त वासनात्मक पशुता नत हो पावनता से ओत-प्रोत हो जाती है। ऐसी ही गर्भिणी श्रद्धा का रूप-सौन्दर्य भी अनूठा है:—

"केतकी गर्भ सा पीला मुंह, आंखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी कंपित लतिकासीलिए देह।"

मातृत्व बोझ से झुके हुए बंध रहे पयोधर पीन आज कोमल काले ऊनों की नव पट्टिका बनाती रुचिर साज सोने की सीवता में मानों कालिन्दी बहती भर उसांस, स्वर्गंगा में इन्दीवर की या एक पंक्ति कर रही हास।[1]

श्रम बिन्दु बना सा झलक रहा
भावी जननी का सरस गर्व,
बन कुसुम बिखरते थे भू पर
आया समीप था महापर्व।[2]

इस प्रकार प्रसादजी ने नारी की विभिन्न अवस्थाओं के नानाविध चित्रों का अपने साहित्य में अंकन किया है। प्रत्येक चित्र प्राणवन्त प्रतिमा के समान शुभ अलौकिक आभा से दीप्त है।

खण्ड-चित्र

सुकुमार रम्यमूर्ति नारी की अनेक मधुर चेष्टाएं, अंगभंगिमाएं साहित्यकारों को चिरकाल से आकृष्ट करती आई है। उन्होंने बड़े ही मनोयोग से इस क्षण-क्षण परिवर्तित होती हुई छवियों का अंकन किया है। प्रसाद की सौन्दर्यान्वेषी-सूक्ष्म

---

१. तितली, पृष्ठ ८५
२. कामायनी ईर्ष्या, पृष्ठ १४२, १४३

दृष्टि ने भी सौन्दर्य के इन लघु स्वरूपों को पहचान लिया। उनकी तालिका ने इनके ऐसे उत्कृष्ट चित्र प्रदान किए हैं, जिनकी समता वे स्वयं ही करने में समर्थ है। उन्होंने वैभवमय चित्रों में तो अपनी कारीगरी दिखाई ही है, कन्जर युवती बेला में भी उन्हें गान्धार और द्रविड़मूर्ति कला के दर्शन हुए हैं। उसका यह छोटा सा रूप सरल होते हुए भी आकर्षण गरिमा से पूर्ण है :—

"गले में चमड़े का बेग, पीठ पर चोटी, छींट का रूमाल, एक निराला आकर्षक चित्र।"[१]

स्त्रियों के गौर वर्ण का तो प्रायः सभी कलाकारों ने चित्रण किया है। परन्तु प्रसाद की दृष्टि उसके सांवले रंग में छिपे हुए सौन्दर्य तक भी पहुंच गई है। अपने सांवले रंग में भी बेला का अपूर्व सौन्दर्य छिटक रहा है :—

"बेला सांवली थी जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोकपिण्ड का प्रकाश निखरने का प्रयास कर रहा हो!"[२]

लज्जा भारतीय ललनाओं का आभूषण है। किशोरावस्था के साथ ही नारियों में लज्जा का भाव आने लगता है। सहज सुलभ लज्जा के कारण व्यवहार में एक हिचक, सिमटन और मधुर तरल बांकपना आ जाता है। नारी का यह रूप सबसे सुन्दर माना जाता है। प्रसादजी को सौन्दर्य का लज्जामय स्वरूप बहुत ही प्रिय है। उनके लज्जालु सौन्दर्य का प्रस्तुत चित्र तो उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के धन, रस कन दरसे।
हे लाज भरे सौन्दर्य।
बतादो मौन नैन रहते हो क्यों?"[३]

और लाजवन्ती श्रद्धा के रूप में तो मानो लज्जा ही साक्षात् स्वरूप में प्रकट हो उठी है। इस भाव के प्रभाव के साथ ही किस प्रकार नेत्र एवं कपोल अरुण होकर झुक जाते है। कर्णमूल भी लाल होकर कुछ भी सुन सकने में असमर्थ

१. आंधी, पृष्ठ १७
२. आंधी, पृ० २
३. चन्द्रगुप्त, प्रथम अंक, पृ० ५५

हो जाते हैं। प्रसादजी ने इन सबको बहुत ही सूक्ष्मता से अंकित किया है। नारीत्व के मूल मधुभाव लज्जा के कारण श्रद्धा का सौन्दर्य सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अनोखी सृष्टि है :—

गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल
खिला पुलक कदम्ब सा था भरा गद्‌गद् बोल।
कोमल किसमलय के अंचल में,
नन्ही कलिका ज्यों छिपती सी,
गोधूलि के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती सी।[1]
अधरों पर उंगली धरे हुये,
माधव के सरस कुतूहल का
आंखों में पानी भरे हुए।

....

किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहागकण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूंथ रही
माला जिससे मधु धार ढरे?

....

सब अंग मोम से बनते हैं
कोमलता में बल खाती हूं,
मैं सिमिट रही अपने में
परिहास गीत सुन पाती हूं।
स्मित बन जाती तरल हंसी
नयनों में भर कर बांकपना,
प्रत्यक्ष देखती हूं सब जो
वह बनता जाता है सपना।

....

छूने में हिचक, देखने में
पलकें आंखों पर झुकती है,
कलरव परिहास भरी गूंजे
अधरों तक सहसा रुकती है।

---

१. कामायनी, लज्जा, पृ० ९७

संकेत कर रही रोमाली
चुपचाप बरजती खड़ी रही,
भाषा बन भौंहों की काली
रेखा सी भ्रम में पड़ी रही।[१]

नारी का यही सौंदर्य नस–नस में मूर्च्छना के समान मचलता हुआ व्याप्त हो जाता है। सौन्दर्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष का भी इतना मधुर–मादक वर्णन प्रसाद की प्रतिभा द्वारा ही हुआ है। प्रसाद द्वारा चित्रित उन लजीली चेष्टाओं एवं मुद्राओं का सौंदर्य भी दर्शनीय है, जो पाठक के हृदय को बलात् आकर्षित कर लेती है।

अलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली
श्रद्धा की, धीरे से मन ने अपने कर में ले ली।[२]

देख न लूँ, इतनी ही तो है इच्छा ? लो सिर झुका हुआ
कोमल किरन उँगलियों से ढक दोगे यह दृग खुला हुआ
फिर कह दोगे, पहचानों तो मैं हूं कौन बताओ तो
किन्तु उन्हीं अधरों से पहले उनकी हंसी दबाओ तो
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो
वैला बीत चली है चंचल बाहुलता से आ जकड़ो।[३]

श्रद्धा के सौंदर्य के वैभव के मध्य भी तितली के इस लज्जालु सौंदर्य के शुभ्र अस्तित्व का अपना महत्व है।

'तितली अपनी सलज्ज कान्ति में जैसे शिशिर कणों से लदी हुई कुन्दकली की मालिका सी गम्भीर सौंदर्य का सौरभ बिखेर रही थी।'[४]

उर्दू साहित्य की एक कहावत है कि स्त्री रोने के बाद और सोने के बाद बहुत सुन्दर लगती है। उर्दू शायरों ने नारी के सुप्त सौंदर्य के अनेक चित्र खींचे हैं। प्रसाद की दृष्टि भी उसके निद्रामग्न अस्त-व्यस्त सौंदर्य पर गई है। किन्तु प्रसाद ने उर्दू कवियों की भांति नाना अलंकारों से विभूषित अतिशयोक्ति के आवरण से आच्छन्न सौंदर्य को नहीं देखा है, उनका मन तो वेदना-विमण्डित सौंदर्याकर्षण में ही बद्ध हुआ है—

---

१. कामायनी, लज्जा सर्ग, पृ० ९७, ९८
२. कामायनी, पृ० १२७
३. लहर, पृ० १०
४. तितली, पृष्ठ ११५

"अहमद सीढ़ियों से चढ़ कर दालान के पास आया। उसने देखा एक वेदना—विमण्डित सुप्त-सौंदर्य। वह और भी समीप आया। गुम्बद के बगल से चन्द्रमा की किरणें ठीक इरावती के मुख पर पड़ रही थीं। अहमद ने वारुणी विलासित नेत्रों से देखा उस रूप माधुरी को जिसमें स्वाभाविकता थी, बनावट नहीं। तरावट थी प्रमाद की गर्मी नहीं।"[1]

और म्लान कुसुमवत वियोगिनी श्रद्धा। वियोग-व्यथा के कारण क्षीण होते हुए भी वह श्वास-प्रश्वास के साथ हिण्डोले के समान छः सात हाथ आगे—पीछे नहीं जा रही है और न ही वह उस दिशा को प्राप्त हुई है कि बिस्तर को झाड़ने पर ही वह दिखाई दे, अपने अलौकिक सौंदर्य के कारण वियोगावस्था में भी उसकी क्षीण कांति झिलमिला रही है। उसके इस स्वरूप को अंकित करने के लिए प्रसाद ने प्रकृति के ऐसे उपमान एकत्रित कर दिए हैं कि वह हृदय में एक वेदना को जगाते हुए अपने इस रूप में अमर हो गई है।

> कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा,
> एक चित्र बस रेखाओं का, जब उसमें है रंग कहां।
> वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहां चांदनी रही,
> वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहां।[2]

इसी प्रकार के अनेक विमल चित्र प्रसाद के साहित्य में इतस्ततः बिखरे हुए हैं।

नारी के सौंदर्य-चित्रण के अन्तर्गत उसके प्रत्येक अंग यथा मुख, नेत्र नासिका, ग्रीवा, हस्त एवं पयोधर आदि के वर्णन में कलाकारों ने बहुत अधिक रुचि ली है। प्राचीन नख-शिख वर्णन के साथ ही उनके श्रृंगार के प्रसाधनों एवं आभूषणों यथा अंगराग, कुन्डल, माला, विभिन्न वस्त्र एवं वेश—भूषा आदि का भी वर्णन हमारे साहित्य में प्रचुरता से प्राप्त होता है। प्रसाद ने यद्यपि परम्परा बद्ध नख-शिख वर्णन तो नहीं किया है, किन्तु नारी के विभिन्न अवयव-सौंदर्य का चित्रण अवश्य किया है। प्रसाद ने परम्परा विहित रूढ़ उपमानों का प्रयोग न कर इन अवयवों को नितान्त नवीन सौंदर्य प्रदान किया है।

यह रूप-चित्रण कल्पना एवं अनुभूति के गाम्भीर्य से परिपूर्ण है। साथ ही सूक्ष्म मौलिक प्रकृति-पर्यवेक्षण के कारण नख-शिख वर्णन सूक्ष्म नैसर्गिक भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है। कतिपय उदाहरण उल्लेखनीय है—

---

१. आंधी, दासी, पृष्ठ ४७

२. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृष्ठ १७५

मुख :—

मानव-शरीर में मुख का महत्व सबसे अधिक है। सर्वप्रथम द्रष्टा की दृष्टि का केन्द्र मुख ही होता है नासिका, नेत्र, कपोल, कर्ण व केश आदि अवयवों के सम्मेलन से मुख की रचना होती है। परम्परा से कवि-गण इसकी रूपसुधा में अवगाहन करते आ रहे हैं। इसके चित्रण के लिए उनकी दृष्टि चन्द्रमा, कमल आदि तक ही सीमित रही। प्रसाद जी ने उसके लिए सर्वथा नवीन मौलिक उपमान प्रस्तुत किये हैं।

'एक गोरा-गोरा मुँह करुणा की मिठास से भरा हुआ गोल मटोल नन्हा सा मुँह उसके सामने हंसने लगता उससे ममता का आकर्षण था।'[1] इसके साथ ही प्रकृति के रंगीन एवं मनोहर दृश्यों के समस्त सौंदर्य को अपने में समाहित किए हुए श्रद्धा के मुख की अलौकिक शोभा अवलोकनीय है—

"आह! वह मुख पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम
अरुण रविमण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम
या कि नव इन्द्रनील लघु शृंग
फोड़कर धधक रही हो कान्त,
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास"[2]

परम्परागत उपमान को भी प्रसाद ने अपनी कल्पना द्वारा कितना अद्वितीय बना दिया है।

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से।[3]

---

१. तितली, पृ० १८
२. कामायनी, श्रद्धासर्ग, पृ० ४६
३. आंसू, पृष्ठ २१

नेत्र :—

मुख पर सबसे अधिक महत्त्व नेत्रों का है। विशाल काले कर्णायत चपल नेत्रों ने न जाने कितने कवियों को व्याध के समान बांध दिया है। इनके लिए कलाकारों ने कमल, भ्रमर, खंजन, कुरंग, मीन और व्याध आदि उपमानों का ढेर लगा दिया है। किन्तु प्रसाद की ऐश्वर्यशाली नायिका के नेत्रों से मद छलका पड़ रहा है—इन नेत्रों की नीलम घाटी [1] का वैभव हिन्दी साहित्य का वैभव है :—

काली आंखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली"[2]

बरौनी :—

नेत्रों के साथ ही काली-काली बरौनियां का सम्बन्ध है। इनके चित्रण में प्रसादजी ने पुराने उपमानों को तो स्पर्श तक नहीं किया है। वह क्षितिज के पट पर घायल हृदयों को अंकित करने वाली चतुर चितेरी है—

"अंकित कर क्षितिज पटी को
तूलिका बरौनी तेरी
कितने घायल हृदयों की
बन जाती चतुर चितेरी।"[3]

उसी घायल हृदयों की चित्रकर्त्री से अन्यत्र करुणा की अजस्त्र धारा प्रवाहित हो रही है। बरौनी का यह करुणामय सौंदर्य भी दर्शनीय है—

"मैंने देखा—उसकी झुकी हुई पलकों से काली बरौनियां छितरा रही थीं और उन बरौनियों से जैसे करुणा की अदृश्य सरस्वती कितनी ही धाराओं में वह रही थी।"[4]

भ्रू :—इसकी उपमा के लिए कवियों को अन्त में घूम फिर कर धनुष ही उचित प्रतीत होता था। परन्तु प्रसाद ने उसको धनुष से भी अधिक साक्षात् कुटिलता ही बता कर उसके रूप और गुण की यथा तथ्य व्यंजना करदी है—

---

१. कामायनी, लज्जा सर्ग, पृष्ठ १०१
२. आंसू, पृष्ठ २१
३. आंसू, पृष्ठ २२
४. आंधी, ग्रामगीत, पृष्ठ ६९

कोमल कपोल पाली में
सीधी साधी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भ्रां में वल देखा।"[1]

दन्तावली :—

दांतों के सौंदर्य व आभा को व्यंजित करने के लिए प्रायः कविगण कुन्दकली दामिनी, मोती, हीरा, दाड़िम आदि उपमानों का प्रयोग करते रहे हैं। प्रसाद द्वारा चित्रित प्राचीन उपमानों का भी मौलिक सौंदर्य द्रष्टव्य है—

विद्रुम सीपी सम्पुट में,
मोती के दाने कैसे
हैं हंस न शुक यह; फिर
क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे।"[2]

कर्ण और वाहुलता का प्रकृति से अलंकृत अनन्य सौंदर्य भी दर्शनीय है—

कर्ण :—

"मुख कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जल विन्दु सदृश ठहरे कव
उन कानों में दुख किनके ?"[3]

भुजायें :—

"थी किस अनंग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलवेली वाहुलता या
तनु छवि-सर की नव लहरी ?"[4]

अन्तः सौन्दर्य

करुण-कोमल, कामनीय सौन्दर्य की मधु-धारा से अंग ही नहीं, उसका अन्तस भी प्लावित है। उसका वाहरी स्वरूप नेत्रों को वरवस आकृष्ट कर लेता

१. आंसू, पृष्ठ २२
२. आंसू, पृष्ठ २३
३. आंसू, पृष्ठ २३
४. आंसू, पृष्ठ २४

है। परन्तु यह आकर्षण अल्पकालिक होता है, वास्तव में तो वह अपने अन्तर के तरल रूप-माधुर्य के आकर्षण में प्राणि मात्र को चिरकाल से बांधती चली आ रही है। इसी के अन्तर की शीतलता समस्त संसार के तापों का हरण करने में समर्थ है।

प्रसाद एक सांस्कृतिक कलाकार है। उनकी गहन दृष्टि बाह्य कम, अन्तर्मुखी अधिक है। वे यह विश्वास करते हैं कि यत्राकृतिः तत्र गुणाः इति लोकेऽपि-ज्ञातम। उन्होंने भारतीय संस्कृति के आदर्श स्वरूप के अनुरूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुणों को एकत्रित करके नारी की कल्पना की है। हमारी संस्कृति में नारी को त्याग, दया और करूणा की साक्षात् प्रतिमा माना गया है, जिसमें ममता और वात्सल्य का का सागर हिलोरें लेता रहा है। यदि एक ओर नारी में मधुरिमा और विश्वास की साकार प्रति-मूर्ति है तो दूसरी ओर पुरुष को कर्मक्षेत्र में अग्रसर करने वाली एक दिव्य-प्रेरणा। सहनशीलता और करूणा की तो वह विश्व भर में एक मात्र प्रतीक है।

करूणामयी

नारी की सत्ता के कारण ही विश्व में करूणा का अस्तित्व है। उसका मन करूणार्द्र होने के कारण ही वह समस्त मानवी सृष्टि को करूणा के लिए ही मानती है। उसकी दृष्टि में क्रूरता का निर्दशन केवल हिंस्र पशु जगत् के लिए वास्तव में करूणा और स्नेह के लिए ही तो स्त्रियां जगत् में हुई है।[१] "नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्‌गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है।"[२] दया और करूणा के उद्वेलन के कारण ही श्रद्धा मृगया-शील मनु को निरीह पशुओं की हिंसा से विमुख करने का प्रयत्न करती है। वह कामना करती है कि—

> चमड़े उनके आवरण रहें
> ऊनों से मेरा चले काम,
> वे जीवित हों मांसल बन कर
> हम अमृत दुहें वे दुग्ध धाम।[3]

अधिकांश नारी-चरित्रों का तो जीवन ही करूणा का अध्याय है। स्वर्ग के खण्डहर का कारुण्य उसके गीत में उभर आया है—मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूं

१. अजातशत्रु, पहला अंक, पृष्ठ २४.
२. अजातशत्रु, तीसरा अंक, पृष्ठ १०६
३. कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १४७

मुझे किसी टूटी डाल पर अन्धकार बिता लेने दो। एक रजनी विश्राम का मूल्य—अन्तिम तान सुनाकर जाऊँगी।"[१] देवरथ की सुजाता की तो और भी अधिक करुण-स्थिति है। भैरवी होने के कारण वह अपने प्रिय आर्यमित्र से परिणय करने में असमर्थ है। वह आर्यमित्र से अतीत को विस्मृत कर देने का अनुरोध करते हुए कहती है :—

"मेरी वेदना रजनी से भी काली और दुःख से भी विस्तृत है। स्मरण है? इसी महोदधि के तट पर बैठकर, सिकता से हम लोग अपना नाम लिखते थे। मिट जाने दो हृदय की सिकता से प्रेम का नाम। आर्यमित्र इस रजनी के अन्धकार में उसे विलीन हो जाने दो"[२] परित्यकता माधुरी और तारा का जीवन भी करूणा से परिपूर्ण है।

यही करूणा तनिक सी भी क्रूरता को अथवा अप्रिय वा अनिष्ट को देखकर नारी के नेत्रों में अश्रुओं के रूप में छलक उठती है पुरुषों के बड़े-बड़े मनोरथ, बड़ी-बड़ी अभिलाषाएं होती है, किन्तु स्त्रियों के कोमल प्राणों में एक बड़ी करूणामयी मूर्च्छना होती है। वे संसार को उसी सुन्दर भाव में डुबा देना चाहती हैं।[3] इसीलिए मणिमाला अपने भाई माणवक से कहती है "भाई" इसी से कहती हूं कि मां की गोद में सिर रखकर रोने को जी चाहता है। मैं स्त्री हूं प्रकट में रो सकूंगी।"[४]

करूणा की आर्द्रता के कारण उसका आन्तरिक स्वरूप बहुत कोमल बन गया है। वह प्रकृति से भी अधिक उदार और दयाशील है। राज्यश्री विकट-घोष के समान धूर्त और कपटाचारी के लिए भी दया की कामना करते हुए हर्षवर्धन से उसे मुक्त कर देने के लिए कहती है :—

"आज हम लोगों ने सर्वस्व दान दिया है भाई। आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या यही एक दान रह जाए इसे प्राण दान दो भाई।"[५]

दया एवं उदारशीला

अपनी उदारता एवं दया के कारण ही वह आपत् काल में शत्रु तक की सहायता करने के लिए तत्पर रहती है नरदेव के अनेक अत्याचारों के उपरान्त

---

१. आकाशदीप, स्वर्ग के खण्डहर, पृष्ठ ४४
२. इन्द्रजाल, देवरथ, पृष्ठ ११५
३. जन्मेजय का नागयज्ञ, दूसरा अंक, पृष्ठ ४१
४. वही ,, पृष्ठ ४३
५. राज्यश्री, पृष्ठ ७४

इरावती घायल नरदेव की शुश्रुषा करती है। चन्द्रलेखा भी उसके समस्त अत्याचारों को क्षमा कर, और उत्तेजित नागों से उसके पुत्र की प्राण रक्षा करती है। इस कर्म द्वारा उसने स्त्री जाति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।[१] श्रद्धा भी मनु को परिमित स्वार्थ से विस्तृत सुख की ओर प्रेरित करती है। प्रसादजी के मतानुसार नारी ही विश्व-मैत्री एवं वसुधैव कुटुम्ब की भावनाओं का विस्तार कर सकती है। वह मानव के लिए संदेश प्रसारित करती है :—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।
औरों को हंसते देखो मनु
हंसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ [२]

त्याग, क्षमा एवं सहनशीलता

त्याग, दया, क्षमा और सहनशीलता का निसर्ग उदाहरण वासवी है। वह छलना और अजात द्वारा की गई कूटनितिक चालों एवं अपमान को सहज भाव से सहन करती रहती है। फिर भी उन्हें क्षमा कर देती है। अजात के बंदी हो जाने पर स्वयं ही उसको मुक्त कराने का प्रयत्न करती है। महाराज बिम्बसार के शब्दों में वह मानवी नहीं देवी है।[३] समस्त आर्थिक साधनों के समाप्त हो जाने पर वह अपने हाथों से अन्तिम स्वर्ण-कंकण तक भिक्षुओं को दान में दे देती है।

वृन्त पर खिलने से पूर्व ही अपना सम्पूर्ण सौरभ विकीर्ण कर गिर जाने वाले पुष्प के समान मल्लिका की औदार्य से परिपूर्ण क्षमामयी मूर्ति दर्शनीय है। उसे केवल स्त्री सुलभ सौजन्य और समवेदना तथा कर्त्तव्य और धैर्य की शिक्षा मिली है। यह जानते हुए भी कि प्रसेनजित ने उसके पति की हत्या करवाई है, वह घायल प्रसेनजित की सुश्रुषा करती है। उसके क्षमा-प्रार्थी होने पर वह राजा को वर्तमान में कुछ सुन्दर रमणीय कर्म करने की प्रेरणा देती है।

---

१. विशाख, तृतीय अंक।

२. कामायनी, कर्म सर्ग, पृष्ठ १३२

३. बिम्बसार: 'वासवी'। तुम मानवी हो कि देवी ? अजातशत्रु, तीसरा अंक पृष्ठ १३७

माया, ममता एवं लज्जाशीलता

प्रसादजी को भारतीय गृहणी का स्वरूप अत्यन्त प्रिय था। उनके विदेशी पात्र भी भारतीय गृहणी से प्रभावित हुए विना नहीं रह सके। कंकाल में मार्गरेट लतिका बनकर भारतीय गृहणी के पद को सुशोभित करने का प्रयत्न करती है। उसका पति इस गृहिणीत्त्व को अन्यत्र दुर्लभ वताते हुए कहता है—

"इतना आकर्षक, इतना माया-ममता पूर्ण स्त्री-गृहस्थ्य जीवन और किसी समाज में नहीं।" [1]

शरणागत कहानी की एलिस तो सुकुमारी की सलज्जता, सेवा भावना, संयम तथा अतिथि सत्कार आदि गुणों पर मुग्ध हो उठती है। वह स्वयं भी भारतीय रंग में रंग जाती है। वह सुकुमारी के घर गाउन पहने घोड़े पर सवार होकर आई थी, किन्तु जाते समय उसने रेशमी लंहगा और कंचुकी धारण की। स्वाभाविक अरुण अवद पान की लाली से रक्तिम, आँखों में काजल, वेणी रूप में संवरे हुए केशों की सज्जा के साथ घोड़े के स्थान पर पालकी द्वारा प्रस्थान किया।[2]

गृहिणीत्व

प्रसादजी के दृष्टिकोण के अनुसार नारी के गृहस्थ स्वरूप में ही विश्व का मंगल निहित है। भारतीय नारी में गृहवधु का पद प्राप्त करने की उत्कट कामना होती है। गृहवधु का सम्मान, उसके गौरव की परिपूर्णता का परिचायक है। वस्तुतः कोई भी स्त्री स्वेच्छा से नगर वधु व नर्तकी का पेशा अपनाना नहीं चाहती। उसकी वास्तविक इच्छा तो पति से एकनिष्ठ प्रेम करने की होती है। 'सालवती' और 'चूड़ीवाली' दोनों ही वार वनिताएं होते हुए भी हृदय में कुलवधु की लालसा का स्वप्न संजाए हुए है।

'चूड़ीवाली'—नगर की प्रसिद्ध नर्तकी की कन्या थी। उसके रूप और संगीतकला की ख्याति थी, वैभव भी कम न था। विलास और प्रमोद का पर्याप्त सम्भार मिलने पर भी उसे सन्तोष न था। हृदय में कोई अभाव खटकता था—कुल-वधु वनने की अभिलाषा हृदय में और दाम्पत्य सुख का स्वर्गीय स्वप्न उसकी आँखों में समाया था। स्वच्छन्द प्रणय का व्यापार अरुचिकर हो गया।' [3]

---

१. कंकाल, पृष्ठ १२१

२. छाया, शरणागत, पृष्ठ ५४

३. आकाशद्वीप, चूड़ीवाली, पृ० १२९

इसी लालसा से वह विजयकृष्ण के रूप, यौवन और चारित्र्य की ओर उत्कृष्ट होती है। वह बहूजी के मर्यादित गृहस्थ-जीवन के गौरव से और भी अधिक अभिभूत हो उठती है। येन केन प्रकारेण वह 'सरकार' को अपने आकर्षण की परिधि में बाँधे रखने का प्रयत्न करती है। किन्तु 'बहूजी' द्वारा प्रताड़िता होने पर वह अपना पूर्व रूप धारण कर लेती है। विलासिनी के रूप में वह सरकार के विलास की सहचरी तो बन सकी, किन्तु गृहिणी पद को प्राप्त करने में फिर भी असमर्थ रही। बहूजी की मृत्यु के पश्चात् जब सरकार का सर्वस्वान्त हो गया, तब चूड़ीवाली ने उन्हें अपना सब कुछ देना चाहा। किन्तु विजयकृष्ण ने एक वेश्या द्वारा दी गई जीविका को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की और उसके प्रणय को पत्नी-रूप में स्वीकार नहीं कर सके।

तिरस्कृत चूड़ावती ने गृहस्थ का सच्चा स्वरूप ग्रहण किया। उसने अपना जीवन परोपकार और अतिथि सेवा में लगा दिया। स्वयं सरकार एक दिन उसके सत्कार से तुष्ट हुए और अन्त में उन्हें वह गौरवमय पद देना पड़ा।

नारी के गृहस्थ जीवन का गौरवमय चित्र 'सरकार' और 'चूड़ीवाली' के उद्गारों में प्रकट हुआ है—

"सरकार। मैंने गृहस्थ कुल वधू पक्ष होने की कठोर तपस्या की है। इन चार बरसों में मुझे विश्वास हो गया है कि कुलवधू होने में जो महत्व है, वह सेवा का है, न कि विलास का।"

'सेवा ही नहीं चूड़ीवाली। उसमें विलास का अनन्त यौवन है, क्योंकि स्त्री-पुरुष के शारीरिक बन्धन में वह पर्यवसित नहीं है। वाह्य साधनों के विकृत हो जाने तक ही उसकी सीमा नहीं, गृहस्थ्य जीवन उसके लिए प्रचुर उपकरण प्रस्तुत करता है इसलिए वह प्रेय भी है और श्रेय भी है। मुझे विश्वास है कि तुम अब सफल हो जाओगी।' [१]

चूड़ीवाली के समान ही सालवती कुलवधू की कामना को अपने मन में छिपाए हुए है। अनन्त सौन्दर्य होने के कारण उसे बरबस नगरवधू बनने के लिए वाध्य किया जाता है। वह अतुल वैभव की स्वामिनी बन जाती है। फिर भी उसे शान्ति और सन्तोष प्राप्त नहीं होता। वह कुल कामिनियों द्वारा तिरस्कृत की जाती है। उसे अपने प्रेमी अजयकुमार का भी प्रत्यास्थान करना पड़ता है। अन्त में वेश्यावृति को वैशाली राष्ट्र के लिए अहितकर मानते हुए वह संघ के सम्मुख अपनी प्रतिज्ञा रखती है—

---

१. आकाशद्वीप, चूड़ीवाली, पृ० १३४

'यदि संघ प्रसन्न हो तो मुझे आज्ञा दे। मेरी यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे कि स्त्री वैशाली राज्य में वेश्या न होगी।'[1]

संघ द्वारा उसकी प्रतिज्ञा को स्वीकार कर लिया जाता है। साथ ही उसे अजयकुमार के पालित पुत्र की माता का गौरवमय पद भी प्राप्त होता है।

पातिव्रत्य

कुलवधू का गौरव है उसका पातिव्रत्य। भारतीय पत्नी का पति ही सर्वस्व है। जहां पति उसके लिए देवता होता है, वहां वह उसके सुख-दुख की सहचरी है। वह—

दुख में मित्र समान अरु गृह में गृहिणी होत
जीवन की सहचरि सी, रमणी रस की स्रोत

प्रसादजी ने आदर्श भारतीय पत्नी का स्वरूप प्रस्तुत किया है। वे यह मानते हैं कि 'संसार में स्त्रियों के लिए पति ही सब कुछ है।' पातिव्रत धर्म ही उनका सच्चा धर्म है। वे प्रत्येक परिस्थिति में पति से एकरूपता चाहती है।[2] इस जन्म में ही नही वे जन्म-जन्मान्तर में एक ही पति की कामना करती है। पति के हाथों मृत्यु भी अत्यन्त पवित्र होती है, ऐसा उनका विश्वास है।

उदयन के क्रोधित हो जाने पर पद्मावती इसी तथ्य का उद्घाटन करती है। वह कहती है—

"मेरे नाथ ! इस जन्म के सर्वस्व और परजन्म के स्वर्ग। तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्ही मेरे ध्येय हो, जब तुम्ही समक्ष हो तो प्रार्थना किसकी करूं ? मैं प्रस्तुत हूं।"[3]

वह पति को सदैव आदर्शोन्मुख रहने की प्रेरणा देती है। रामा शर्वनाग को क्रूर कर्मों से रोकने की चेष्टा करती है। ध्रुवस्वामिनी भी रामगुप्त को अनीति से विमुख करने का प्रयास करती है। उसकी सदैव यही कामना रहती है उसका पति नित्य उच्च उपदेशों पर आरूढ़ हो। अपने पति के आदर्शों पर, उसकी वीरता पर गर्व होता है। मल्लिका को अपने पति की वीरता पर अखण्ड विश्वास है। चाहे छल

---

१. इन्द्रजाल, पृष्ठ १४९
२. अजातशत्रु, पहला अंक, पृ० ४२, ४३
३. अजातशत्रु, पहला अंक, पृ० ५७

ही क्यों न हो वह सेनापति बन्धुल को युद्ध-विमुख करके उनकी कीर्ति में धब्बा नहीं लगवाना चाहती। वह स्पष्ट कह देती है—

"किन्तु परन्तु नहीं। वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में शुक्र भी उनके प्रचण्ड अघातों को रोकने में असमर्थ है।[1]'

समर्पणशीलता

ऐसे वीर पराक्रमी पति अथवा प्रणयी को, जिस पर नारी को दृढ़ विश्वास है, वह अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है। यही उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। पुरुष को सर्वस्व-समर्पण करके ही उन्हें वास्तविक नारीत्व की अनुभूति होती है। प्रसादजी की समस्त नारी सृष्टि में अपने प्रिय के प्रति सर्वस्व समर्पण की भावना भरी हुई है।

श्रद्धा मनु को एकाकी और असहाय पाकर अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए तत्पर है—

सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महातरु छाया में,
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में ?[2]

जो मनु अवलम्बहीन होकर स्वयं अपने ही जीवन-भार से आक्रान्त हो रहे हैं, उनकी सहचरी बनने में श्रद्धा नारी-जीवन का साफल्य समझती है। वह अपना स्वच्छ हृदय-रत्नाकर मनु के सम्मुख रख देती है, जिसमें नारी अन्त:करण के माया, ममता, मधुरिमा, दया और विश्वासादि विभिन्न रत्न समाहित है। उसके अनुसार सेवामें निस्वार्थ भाव से अपने सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग कर देना ही नारी का वास्तविक सौन्दर्य है—

समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पदतल में विगत विकार।[2]

---

१. अजात शत्रु, दूसरा अंक, पृ० ७१
२. कामायनी, पृ० १०४

दया, माया, ममता लो आज
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।"[1]

इसी जीवनोत्सर्ग के प्रतिदान के स्वरूप में नारी कोई कामना नहीं करती। उसका वह समर्पण करना जानती है, लेना नहीं। उसका यह निस्वार्थ एवं निःशेष समर्पण ही उसके अन्तः सौन्दर्य का मूलाधार है—

"इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है,
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है।"[2]

इसीलिए नारी का यह कामना रहित समर्पण ही अन्ततः उसकी विजय का हेतु बन जाता है। दृढ़ किन्तु सुकुमारता में रम्य नारी, जब परिश्रम-विकल श्रान्त पुरुष को राका-बालिका के समान समर्पण का शीतल एवं मधुर आनन्द प्रदान करती है तो पुरुष भी कृतकृत्य होकर उसे अपनी सम्पूर्ण चेतना समर्पित कर देता है और विवश होकर कह उठता है—

"आह वैसा ही हृदय का बन रहा परिणाम,
पा रहा हूं आज देकर तुम्हीं से निज काम।
आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान
विश्व रानी। सुन्दरी रानी। जगत की मान"[3]

चेतना के दान को ग्रहण करने वाली जगत की मान, विश्व की रानी, सौंदर्यमयी नारी पुरुष की चेतना का उपहार प्राप्त करके न तो उसे बन्धन में आबद्ध करने का प्रयास करती है और न स्वयं को उससे मुक्त करने का। वह तो केवल पुरुष द्वारा सुरक्षा एवं विश्वास भर चाहती है। कालिन्दी के माध्यम से यही भावना व्यक्त हुई है—

'मैं स्त्री हूं। आह ! तुम अग्निमित्र।....परन्तु मैं अपने हृदय से हारी हूं। मैं राजप्रेयसी राजनन्दिनी अनुग्रह की क्षमता खो नहीं सकी हूं। अग्नि। तो मैं अपना बहुमूल्य प्रणय तुम्हें दान करती हूं।'[4]

१. कामायनी, पृ० ६५
. कामायनी, लज्जा सर्ग, पृ० १०५
३. कामायनी, पृष्ठ ९३
४. इरावती, पृष्ठ ५६

मैं तुम्हें....केवल तुम्हारी सहायता इस संसार के सुख-दुःख में चाहती हूं। कालिन्दी को और कुछ नहीं चाहिए। देखो, मगध का साम्राज्य तुम्हारा होगा और तुम मेरे, केवल मेरे हो जाओ।'[1]

वात्सल्यमयी :—

इस विश्वास का ग्रहण और समर्पण का भाव ही उसके चिरबंधन का कारण होता है। नारी-सौंदर्य की सम्पूर्णता एवं सफलता इस बन्धन के साथ उसके मातृत्व में है। मातृत्व ही नारी सौंदर्य का आधार है अथवा नारी का मूल रूप माता है। ममता की मंदाकिनी, स्नेह की अक्षय राशि, दया और वात्सल्य की प्रतीक, त्याग और तपस्या की साकार प्रतिमा माता सदा से ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की श्रद्धा और आदर की पात्री रही हैं।[2] नारी मात्र में मातृत्व की कामना निहित रहती है। यह उसकी चिर आकांक्षा है। भगिनी, प्रेमिका और पत्नी के रूप में अपनी सौंदर्य-सुषमा विकीर्ण करते हुए, जब वह मातृत्व के गुरुपद पर आसीन होती है, तब उसका सौंदर्य अपनी सम्पूर्ण अलौकिक आभा से दैदीप्यमान हो उठता है। श्रद्धा भी मातृत्व पद प्राप्त करने के लिए उत्सुक है। दिवसावसान के समय नीड़ों में पक्षी-दम्पत्तियों को शिशुओं का चुम्बन करते देखकर उसका उत्सुक मातृ-हृदय कसमसा उठता है—

'उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा द्वार'[3]

उसमे मातृत्व की इतनी प्रबल उत्सुकता होती है कि इसके सम्मुख यह नैतिक स्थिति तक विस्मृत कर देती है। अपना चारित्रिक पतन भी उसे स्वीकार हो जाता है। कंकाल की किशोरी सन्तान की कामना के कारण ही अपने चरित्र को घोर पतन के गड्ढे में गिरा देती है। पति-प्रेम भी उसे उस पतन के सम्मुख तुच्छ प्रतीत होता है। वह पुत्र के कारण परित्यक्ता बनकर जीवन बिताना आरम्भ कर देती है, परन्तु पुत्र को छोड़ नहीं पाती। यमुना भी पुत्र-प्रेम के कारण ही श्रीचन्द के घर दासी कार्य करना स्वीकार करती है। अन्त तक किशोरी के प्राण विजय को देख भर लेने के लिए अटके रहते हैं। मोहन की उपस्थिति में वह विजय के लिए और भी अधिक व्याकुल हो उठती है।

---

१. वही, पृष्ठ ६५

२. डा० उषा पाण्डेय, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना, पृष्ठ १७१

३. कामायनी, पृष्ठ १४४

वात्सल्य और ममता से परिपूर्ण उसका हृदय शिशु की एक किलकारी सुनने को अधीर रहता है। उसकी बाल-सुलभ चेष्टाओं को देख-देखकर वह आनन्द विभोर हो उठती है। मातृत्व के इस गौरवपूर्ण पद पर अधिष्ठित नारी के चरम सौंदर्य का चित्रण समर्थ कवि ही कर सकता है। बालक की विभिन्न रूप चेष्टाओं के प्रति उत्कण्ठित नाना भाव लहरियों से उद्वेलित ममतामयी माँ का सौंदर्य ही नारी सौंदर्य की चरम पराकाष्टा है।

'माँ—फिर एक किलक दूरागत
गूँज उठी कुटिया सूनी
मां उठ दौडी भरे हृदय
लेकर उत्कण्ठा दूनी ।
लुटरी खुली अलक रज-धूसर
बाँहें आकर लिपट गई,"[1]

बालक का रोना और मचलना भी मातृहृदय के सुख का कारण होता है। बालक भूख के कारण मचल रहा था। वह अपने छोटे से तीर कमान से मां के पास बैठी पड़ोसिन को डरा रहा था, जिसके कारण मां भोजन देने में विलम्ब कर रही थी। किन्तु वास्तव में—

"जननी बालक का मचलना देखकर प्रसन्न हो रही थी और थोड़ी देर तक बैठी रह कर और भी मचलना देखना चाहती थी।"[2]

यदि तनिक भी देर बालक मां की दृष्टि से ओझल हो जाता है तो वह व्याकुल हो उठती है। वह उसे रोकना चाहती है किन्तु उसके रूठने का भी उसे भय है। प्रसाद की श्रद्धा का यह रूप कितना मनोहर बन पड़ा है—

'कहां रहा नट खट। तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना।
अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी सुख-दुःख तो दिया घना,
चंचल तू, बन चर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं,
मैं डरती तू रूठ न जाए करती कैसे तुझे मना।[3]

प्रणयिनी :—

प्रसाद की रमणीय नारी-मूर्त्तियों में एक प्रणय का सागर हिलोरें लेता रहता है। 'देवसेना', 'मधूलिका', 'चन्दा', 'माला', 'शैला', 'इरावती' आदि प्रायः

---

१. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृष्ठ १७९
२. छाया, मदन मृणालिनी, पृष्ठ १०९
३. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १७९

सभी नायिकाओं के हृदय में पवित्र-प्रणय का समावेश है। प्रसाद के अनुसार प्रेम 'स्त्रियों का जन्म सिद्ध अधिकार है। उसे खोजना परखना नहीं होता, कहीं से ले आना नहीं होता। वह बिखरा होता है—असावधानी से—धनकुबेर की विभूति के समान। उसे सम्भालकर केवल एक ओर व्यय करना पड़ता है—इतना ही तो।'[२]

उसकी इस प्रणय-सरिता में अवगाहन करने के लिए पुरुष-मात्र उत्सुक रहता है। उसकी प्रणय-सरिता अत्यन्त वेगवती है। वस्तुतः "स्त्री जल सदृश कोमल एवं अधिक से अधिक निरीह है। बाधा देने की सामर्थ्य नहीं, तब भी उसमें एक धारा है, एक गति है, पत्थरों की रुकावट की भी उपेक्षा करके, कतराकर वह चली ही जाती है। अपनी संधि खोज ही लेती है और तब उसके लिए पथ छोड़ देते हैं, सब झुकते हैं, सब लोहा मानते हैं।"[३]

प्रसादजी उसके हृदय को प्रेम का रंगमंच कहते हैं।[४] वह 'जिससे प्रेम करती है, उसी पर सरवस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है, यदि वह भी उसका प्रेमी हो तो। स्त्री वय के हिसाब में सदैव शिशु, कर्म से वयस्क और अपनी असाहयता में निरीह है। विधाता का ऐसा ही विधान है।'[५]

प्रेरणादायिनी

नारी पुरुष को प्रत्येक क्षेत्र में प्रेरणा एवं सम्बल प्रदान करती है। नारी ही पुरुष में स्फूर्ति, मद एवं जीवन की स्पृहा भर देती है। वह देवी, चण्डी एवं माया है।[६] प्रसाद की नारी भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ कंधे से कंधा लगाकर चलने वाली उत्साही नारी है। 'अलका', 'मल्लिका', 'कानेलिया', 'विजया' आदि जीवन के व्यापक क्षेत्र में अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करती हैं। राष्ट्रीय उद्बोधन में वे पुरुष की सहचरी बनकर अवतीर्ण होती हैं। उनकी संकीर्ण सीमाओं की शृंखला टूट जाती है। वे अपनी प्रतीभा का उपयोग करते हुए विभिन्न राष्ट्रीय योजनाओं में भाग लेती हुई परिलक्षित होती हैं।

तारा जैसी साधारण नारी भी संकट के समय मंगल का हाथ बटाने के लिए तत्पर है—"वेतन तो थोड़ा ही मिलेगा। यदि मुझे भी कोई काम मिल जाए तो देखना मैं तुम्हारा हाथ बंटा लूंगी।"[७]

---

१. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृष्ठ १७९
२. कंकाल, पृष्ठ २२७
३. वही, पृष्ठ २२७
४. कंकाल, पृ० २२७
५. वही, पृ० २२४
६. जैनेन्द्र कुमार, सुनिता, पृ० १३६
७. कंकाल, पृ० ३६

इस प्रकार प्रसादजी की नारी जीवन के सभी क्षेत्रों में अपने सौन्दर्य का आलोक विकीर्ण कर रही है।

पुरुष-सौन्दर्य

कामायनीकार ने सौन्दर्य के कोमल-कमनीय एवं पुरुष-गंभीर दोनों ही स्वरूपों का चित्रण किया है। जैसा कि पूर्व प्रकरण में परिचय दिया जा चुका है कि पुरुष और प्रकृति के सहयोग से ही सृष्टि का विकास हुआ है। पुरुष जहाँ स्वभावतः पुरुष है वहीं नारी कोमल और मधुर। कोमल नारी माधवीलता सदृश दृढ़ पुरुष का आम्र वृक्ष के समान अवलम्ब खोजती है। इसी का आधार ग्रहण कर वह अपना विकास करती है।

कोमलता और मधुरता को महत्त्व प्रदान करने वाली पुरुष की पुरुषता एवं दृढ़ता ही है। ऋग्वेद काल से पुरुष-सौन्दर्य के आदर्श उसका बल, वीर्य-शौर्य एवं तेजस्विता आदि माने गये हैं। सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, वायु के समान बलशाली पुरुष ही प्रजा की रक्षा करने में समर्थ है। पुरुष के कन्धो पर ही परिवार के पालन-पोषण का भार होता है। इन सब गुणों का आगार है इन्द्र। वह इन्द्र, बलवान पुरुषों का स्वामी होकर, प्राप्त प्रजाओं में सर्वातिशायी होकर, बड़े भारी वेग और बल को तथा समस्त सेनाओं को पराजित करने वाला है।[१] ऋग्वेद में ऐसे ही बलशाली पुरुष से सब की रक्षा की प्रार्थना की गई है।[२]

हिन्दी साहित्य के भी चारों कालों में पुरुष-सौन्दर्य को अँकित करने की पर्याप्त चेष्टा दृष्टिगोचर होती है। परन्तु पुरुष का नारी सौन्दर्य की अपेक्षा अत्यल्प चित्रण हुआ है। इसका कारण सम्भवतः अधिकांश कवियों का पुरुष होना है, जिनकी स्वाभाविक वृत्ति रमणी-रूप में ही अधिक रमी है। फिर भी प्रसंगवश जितना भी वर्णन हुआ है, वह अपने आप में पूर्ण है। आदिकाल अथवा वीरगाथा काल में पुरुष की रण-दुर्मद, वीर दर्पपूर्ण आकृति सौन्दर्य का प्रतीक थी। भक्ति-काल में भगवान, नरहरि, दुष्ट-संहारक कल्याणकारी शक्ति के रूप में पुरुष की प्रतिष्ठा हुई। श्रृंगार-काल व रीतिकाल में वह चन्दन-चर्चित आभूषणालंकृत वासना का क्षुद्र उपकरण मात्र बनकर रह गया। आधुनिक काल के साहित्य में प्रतिष्ठित पुरुष समस्त पुरुषोचित विशेषताओं के साथ अपनी कमियों को भी समाहित किए हुए एक मनुष्य है। राष्ट्र की रक्षा के लिए वह रण-योद्धा के रूप में रण-भूमि में वीरगति प्राप्त करने में अपना सौभाग्य समझता है। वही पुरुष

---

१. ऋग्वेद संहिता, भाग ५, सुक्त ३६, पृ० ४७४
२. ऋग्वेद संहिता, भाग ५, सुक्त ७४, पृ० ४९

प्रणय-प्रसंग में अत्यन्त निरीहि और कोमल हो जाता है। निरन्तर जीवन-संघर्ष से जुझने के कारण वह निराशा एवं नियिति का दासत्व भी स्वीकार कर लेता है। अत्यन्त उदार और निःस्पृह होते हुए भी वह प्रणय पर एकाधिकार चाहता है। यह प्रणयांश यदि स्वयं उसकी ही सन्तान में वितरित हो यह भी उसे सहन नहीं होता। ईर्ष्याग्नि से उसका रोम-रोम जल उठता है। उसे प्रणय पर मात्र अपना ही स्वत्व चाहिए। इस प्रकार आधुनिक साहित्य में पुरुष का सौन्दर्य उसके अवगुणों के मध्य और भी अधिक दीप्त हो उठा है।

प्रसादजी का जीवन एक ऐसे परिवेश में बीता है जहां लक्ष्मी और सरस्वती सहोदरा की भांति निवास करती थीं। एक ओर साहित्य संगोष्ठियों के साथ कला चर्चा होती थी दूसरी ओर नाना व्यंजनों के साथ सुगन्धित ताम्बुल का आस्वादन किया जाता था। उन्होंने स्वयं भी वेद, उपनिषद, पुराणों एवं इतिहास और पुरातत्व का गहन अध्ययन किया था। उनके घर दरिद्र, दीन-हीनों को कम्बल बांटे जाते थे। किन्तु असमय में ही माता-पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु के कारण कालान्तर में ये अपनी सभी सम्पत्ति से हाथ धो बैठे। वैभव में पला हुआ कोमल शरीर और मन दारिद्रय की दारुणता से संघर्ष करता रहा। फलस्वरूप उनकी पुरुष रचना में ये सभी विशेषताएं समाहित हैं। एक ओर यह वैदिक इन्द्र की समानता करता है वहा उसके मन में एक गहरी वेदना और कहीं कहीं निराशा के स्वर भी भरे हुए हैं। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त जैसी पौरुष की 'भयंकर-रमणीय' मूर्तियां इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

बाह्य सौन्दर्य

पुरुष की वाह्य आकृति एवं गठन के अन्तर्गत प्रसादजी को व्यायाम से पुष्ट गौरवर्ण, उन्नत प्रशस्त ललाट, पुरुषत्व से दीप्त पुरुष मूर्ति प्रिय हैं। उनके पुरुष-सौन्दर्य का आदर्श मनु का स्वास्थ्य एवं शारीरिक दृढ़ता है—

"अवयव की दृढ़ मांसपेशियां,
ऊर्जास्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिराएं स्वस्थ रक्त का
होता था जिसमें संचार।" [1]

देव गंधर्व सदृश व्यायाम-पुष्ट शरीर और उस पर बहुमूल्य ऐश्वर्यशाली शृंगार प्रसाद की सौन्दर्य-दृष्टि का केन्द्र है। वैदिक पुरुष इन्द्र भी समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न थे। सम्भव है पुरुष की इस शोभा से वह बहुत प्रभावित रहे हों। मालवती कहानी के सप्त कुमारों का सौन्दर्य दर्शनीय है—

---

१. कामायनी चिन्ता सर्ग, पृ० ४

"कुछ गम्भीर विचारक से वे युवक देव गन्धर्व की तरह रूपवान थे। लम्बी चौड़ी हड्डियों वाले व्यायाम से सुन्दर शरीर पर दो एक आभूषण और काशी के बने हुए बहुमूल्य उत्तरीय, रत्नजटित कटिबन्ध में कृपाणि। लच्छेदार बालों के ऊपर सुनहले पतले पट्टबन्ध और वसन्तोत्सव के प्रधान चिन्ह स्वरूप दूर्वा और मधूक पुष्पों की सुरचित मालिका। उनके मांसल भुजदण्ड, कुछ कुछ आसवपान से अरुण नेत्र, ताम्बूल रंजित सुन्दर अधर उस काल के भारतीय शारीरिक सौन्दर्य के आदर्श प्रतिनिधि थे।[1]

यह आदर्श केवल उस विशेष काल का ही नहीं था अपितु प्रसाद द्वारा रचित प्रायः सभी पुरूष सृष्टियां इसी प्रकार की दृढ़ता एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं। काशी की गलियों में रहने वाले गुंडे की धजा भी निराली है। एक ओर गुण्डा नाम को सार्थक करता हुआ रूप दर्शकों को आतंकित करता है, दूसरी ओर काशी के वैभव का भी वह प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों के सहयोग से वह काशी का गुण्डा एक विशिष्ट व्यक्तित्व बन गया है।

"वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुरियां नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मुंछे बिच्छू की डंक की तरह देखने वालों की आंखों में चुभती थीं। उसका सांवला रंग सांप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ घुंसा रहता था। उसके घुंघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊंचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गंडासा, यह थी उसकी धज। जब वह चलता तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।"[2]

मुगल बादशाहों के दरबार में रहने वाले इस ऐश्वर्य का भी अपना महत्त्व है। एक से एक सुन्दर आकृति वाले गुलाम पुरूष बादशाह के जनानखाने की शोभा बढ़ाते थे। किन्तु वे अपने अपरूप सौन्दर्य और उसके शृंगार से सन्तुष्ट न थे। क्योंकि यह सौन्दर्य केवल एक निर्जीव आकार मात्र था। पुंसत्वहीन करके उनके पुरुषत्व को सदैव के लिए नष्ट कर दिया गया था। पुरुष का वास्तविक सौन्दर्य तो उसका पुरुषत्व है। इसका ज्ञान होते ही ये गुलाम अपने सौन्दर्य के प्रति क्षोभ और ग्लानि से भर जाते थे। ऐसे ही एक गुलाम कादिर का प्रसादजी ने बड़ा सजीव चित्रण किया है—

---

१. इन्द्रजाल, सालवती, पृ० १११

२. इन्द्रजाल, गुण्डा, पृ० ८०

कादिर अपने कमरे में कपड़े पहन कर तैयार है, केवल कमरबन्द में एक जड़ाऊ दस्ते की कटार लगाना बाकी है। कटार लगाकर एक बड़े दर्पण में मुंह देखने की लालसा से वह उस ओर बढ़ा। दर्पण के सामने खड़े होकर उसने देखा, अपरूप सौन्दर्य।[1]

वस्तुतः प्रसाद को पुरुष की यौवन से दीप्त स्वस्थ एवं बलिष्ठ आकृति ही सौन्दर्यमयी प्रतीत होती है। उन्होंने पुरुष के उदासीन और दुर्बल स्वरूप की गणना कुरूपता के अन्तर्गत की है।

"कभी वह सुन्दर रहा होगा किन्तु आज तो उसके अंग-अंग से मुंह, की एक-एक रेखा से कुरूपता टपक रही थी। आंखें गड्ढे में जलते हुए अंगारे की तरह धक् धक् कर रही थीं।"[2]

पुष्ट और बलिष्ठ शरीर का स्वामी यदि ऐश्वर्य और वैभव से हीन ब्रह्मचारी हो तब भी आकर्षण का केन्द्र होता है—

और यह युवा बलिष्ठ ब्रह्मचारी शिर पर रुद्राक्ष की माला, कंठ में यज्ञोपवीत, खुले हुए अस्तव्यस्त केश, काषाय का अंचला डाले हुए अद्भुत जगाने वाले की तरह कहां से आ गया।[3]

पुरुष के व्यायाम से पुष्ट शरीर को ही स्त्रियां सस्पृह देखती हैं।[4] उसके पुष्ट स्कन्ध ही परिवार एवं राष्ट्र का भार वहन करने में समर्थ हो सकते हैं। मधुवन वैवाहिक वेश में बहुत ही सुन्दर दिखाई दे रहा था। खुले हुए पुष्ट शरीर का सौन्दर्य प्रसाद की अनुपम रचना बन पड़ी है—

'मधुवन का खुला हुआ दाहिना कंधा अपनी पुष्टि में बड़ा सुन्दर दिखाई पड़ता था। उसका मुख हवन के धुंए से मंजे हुए तांबे के रंग का हो रहा था। छोटी छोटी मूंछे कुछ ताव में चढ़ी थीं। किसी आने वाली प्रसन्नता की प्रतीक्षा में आंखें हंस रहीं।'[5]

पुरुष की स्वस्थ एवं सुन्दर आकृति में यदि साहस को भी समाविष्ट कर दिया जाए तो सोने में सुहागा मिल जाता है। साहस पुरुषत्व का अनिवार्य लक्षण

१. छाया, गुलाम, पृ० ९०
२. महाराणा का महत्त्व, पृ० ५
३. इरावती, पृ० ५८
४ तितली, पृ० १३९
५. वही, पृ० ११५

है। प्रसाद जी ने भी साहस से दीप्त मुख को सुन्दर की श्रेणी में रखा है। आगन्तुक ने भीतर प्रवेश किया। वह एक बलिष्ठ युवक था। साहस उसकी मुखाकृति थी।[1] प्रसाद को पुरुष की वीरता-व्यंजक भव्य मूर्ति बहुत प्रिय है। दृढ़ एवं स्वस्थ पुरुष जब वीरतापूर्ण उत्साह से भर जाता है, तो उसकी आकृति में एक विशेष आकर्षण आ जाता है। प्रसाद ने जिस वीर पुरुष के सौन्दर्य का चित्रण किया है, यह बहुत कुछ भारतेन्दुकालीन सौन्दर्य-वर्णन से भी प्रभावित है। युद्ध के लिए सन्नद्ध वीर की तनी हुई आकृति द्रष्टव्य है—

"युवक एक जो उनका नायक था वहां
राजपूत था, उसका वदन बता रहा
जैसी भी थी चढ़ी ठीक वैसा कड़ा
चढ़ा धनुष था, वे जो आंखे लाल थीं
तलवारों का भावी रंग बता रही।"[2]

वीर की उद्धत आकृति से रणक्षेत्र में क्रोधमय तेज प्रसारित होता है। किन्तु अवकाश के क्षणों में उसके उन्हीं लाल-लाल नेत्रों में एक अद्भुत करुणा-मिश्रित गम्भीरता छाई रहती है। वीरता और करुणा का ऐसा समन्वय प्रसाद की ही विशेषता है। मुख पर कर्त्तव्य-भावना की दृढ़ता वर्तमान रहती है। हर्ष और गम्भीरता से युक्त अद्भुत तेज उसके शरीर पर छाया रहता है, जिसमें सदैव वीरत्व उद्भासित होता रहता है। महाराणा प्रताप का ऐसा ही करुणामिश्रित तेजमय सौन्दर्य है—

करि-कर-सम कर बीच लिये करवाल है,
कौन पुरुष वह बैठा तट के स्रोत के
दोनों आंखे उठ-उठ कर बतला रहीं
जीवन-मरण-समस्या उनमें है भरी।
यद्यपि है वह वीर श्रान्त तब भी अभी
हृदय थका है नहीं, विपुल बलपूर्ण है
क्योंकि कर्मफल लाभ एक बल है स्वयं।
करुणामिश्रित वीर भाव उस वदन पर
अनुपम महिमा-मण्डित शोभित हो रहा
जन्मभूमि की ओर महाकरुणा भरी

---

१. आकाशदीप, अपराधी, पृ० १४०
२. महाराणा का महत्त्व, पृ० ५

यवन शत्रु प्रति कालानल के कोण-सी
दोनों आंखें, तिस पर भी गम्भीरता
हर्ष भरा है अपने ही कर्त्तव्य का
आजीवन जिसको वह करता आ रहा।[१]

विजया भी स्कन्दगुप्त की ऐसी ही भयानक और सुन्दर मूर्ति[२] देख कर अपना हृदय हार बैठी थी। पुरूरवा की भी ऐसी ही शौर्य व्यञ्जक मधुर-मूर्ति थी जिसे निर्निमेष देखते हुए उर्वशी उस पर मुग्ध हो गई थी।[३]

पुरुष के इस प्रकार के विरोधी सौन्दर्य का रूप-चित्रण प्रसाद की ही विशेषता है। पुरुषता और कोमलता, भयानकता और रमणीयता—उनके पुरुष में ये सभी विशेषतायें समाहित हैं।

अन्तः सौन्दर्य :—

प्रसादजी ने जहां पुरुष के बाह्य रूप-चित्रों को एक विशेष सौंदर्य प्रदान किया है, वहीं वे उसके अन्तःकरण में भी बहुत गहरे पैठे हैं। एक मनोवैज्ञानिक की भांति उन्होंने पुरुष-मन का अध्ययन-विश्लेषण किया है। पुरुष प्रकृति से ही धीर-गम्भीर एवं दृढ़ स्वभाव वाला होता है। प्रसादजी ने पुरुष की मूलभूत विशेषताओं को हृदयगंम करते हुए उसे उच्च मानवीय गुणों से विभूषित किया है। वीरता, साहस, धैर्य एवं पौरुष की वह अदम्य मूर्ति है तो दया, क्षमा, औदार्य दानशीलता आदि गुण भी उसमें पर्याप्त है। इन सब गुणों के साथ ही वह देवता या अवतार नहीं बन गया है, उसमें मानवीय दुर्बलताओं का भी समावेश है—यथा स्वच्छन्दता, निःसंगता एवं अधिकारलिप्सा आदि। इन्हीं कमजोरियों के पार्श्व में उसके गुणों को अथवा कर्म-सौन्दर्य को और अधिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ है और वह एक सुन्दर पुरुष-सृष्टि का प्रतीक बन गया है।

निर्द्वन्द्वता वीरता एवं पराक्रम

प्रसादजी द्वारा रचित पुरुष-सृष्टियों का अलंकरण वीरता है। उनके साहित्य का प्रत्येक नायक वीरता, साहस और निर्भयता से परिपूर्ण है। वे वीरता को एक सुन्दर कला मानते हैं। स्त्रियां उनकी वीरता पर ही मुग्ध हो जाती हैं और उस पर मुग्ध होना कोई आश्चर्य नहीं।[४] चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त,

---

१. महाराणा का महत्त्व, पृ० ९
२. स्कन्दगुप्त, प्रथम अंक, पृ० ४७
३. चित्राधार, उर्वशी, पृ० ११
४. प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृ० १००

सिंहरण, पर्णदत्त, गोविन्दगुप्त, बुद्धगुप्त, अजयकुमार आदि प्रायः सभी वीरता-व्यंजक पुरुष-मूर्तियां है। ये वीर खड्ग का अवलम्बन रखने वाले सैनिक हैं। वे कौटोम्बिक विलासितापूर्ण कदर्य जीवन को कदापि महत्त्व नहीं देते। वीरों के कर्त्तव्य बताते हुए बन्धुवर्मा के शब्दों में प्रसादजी ने कहा है कि—"जो केवल खड्ग का अवलम्ब रखने वाले हैं—सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता सिंहासन पर, मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

क्षत्रियों का कर्त्तव्य है—आर्त, त्राण, परायण होना, विपद् का हंसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुस्क्या कर अवहेलना करना, और विपन्नो के के लिए, अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना।"[1]

ऐसे ही देवोपम वीर हृदय के साथ देश का प्रत्येक प्राणी प्राण न्यौछावर करने को तत्पर रहना है।

यह सत्य है कि इन वीरों को विलासिता की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता, किन्तु वे विलासिता से अपरिचित भी नहीं है। प्रसाद का प्रत्येक सौन्दर्य-चित्र वैभव और एश्वर्य के उपकरणों से सुसज्जित है, फिर भी वीरत्व ही उससे वंचित कैसे रह सकता था, उनका कहना है—

"जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है? जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी?—वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झंकार सुनते है।"[2] यह वीर हृदय युद्ध का नाम ही सुनकर नाच उठता है। शक्तिशाली भुजदंड फड़कने लगते हैं इस महान् हृदय को विलास की मदिरा पिलाकर रोका नहीं जा सकता। वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं, और वीरता के वरेण्य दूत हैं।[3]

स्त्रियों का रक्षक

वीरता केवल युद्ध-क्षेत्र में शत्रु से संघर्ष करते हुए वीरगति प्राप्त करने में ही नहीं है। वीरता यह भी देखती है कि युद्ध किसके साथ किया जा रहा है और इसका उद्देश्य क्या है? वास्तव में वीर वही है, जो न्यायानुसार अपने समान बल वाले से युद्ध करे। वह नारी पर अपनी शक्ति की परीक्षा नहीं करता। स्त्रियां

---

१. स्कन्दगुप्त, द्वितीय अंक, पृ० ६६
२. वही, तृतीय अंक, पृ० ८९
३. अजातशत्रु, दूसरा अंक, पृ० ७०

कोमल अबला होती है। उनकी व समाज की रक्षा का भार पुरुष ने अपने कन्धे पर ले रखा है। दीन-हीन मनुष्यों और स्त्रियों के सम्मान का वह रक्षक है। उसे अपने कुल की कामिनियों का अपमान असह्य है। इसके लिए वह मरने-मारने को तैयार रहता है। इतिहास साक्षी है कि स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा के लिए वीरों ने रक्त की नदियां बहा दी हैं। स्त्रियों का अपमान सहते हुए दीन जीवन बिताने की अपेक्षा वे मृत्यु को श्रेष्ठ समझते हैं। उनका कहना है—

"मरण जब—दीन जीवन से भला हो,
सहें अपमान क्यों फिर इस तरह हम
मनुज होकर जिया धिक्कार से जो
कहेंगे पशु गया बीता उसे हम।"[1]

वीरों की प्रतिद्वन्द्विता अपने शत्रुओं से होती है, उनकी पत्नियों से नहीं। उनके लिए सभी स्त्रियां सम्माननीय एवं रक्षणीय हैं, यही सच्चा पुरुषत्व एवं वीरत्व है। महाराणा प्रताप इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। उनका पुत्र अमरसिंह जब शत्रु की नारी को बन्दी बना लेता है तो उनका हृदय ग्लानि और क्षोभ से भर उठता है और वे उसे ससम्मान पति के पास भेज देते हैं। उसके बन्दी बनाए जाने पर उनकी रोष भरी उत्कण्ठा दर्शनीय है :—

कहा तमक कर तब प्रताप ने—"क्या कहा"
अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है।
इस अबला के बल से होंगे सबल क्या ?
रण में टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी
तो बचने के लिए शत्रु के सामने
पीठ करोगे ? नहीं, कभी ऐसा नहीं
दृढ़ प्रतिज्ञ यह हृदय, तुम्हारी ढाल बन
तुम्हें बचावेगा—।[2]

और उन्होंने आदर्श-वीरता का संदेश अपने सैनिकों में प्रसारित करवा दिया कि वीर कभी भी परम सत्य से विमुख नहीं होते, क्षत्रिय अबला को कदापि कष्ट नहीं देते। वे अपने समान प्रतिद्वन्द्वी से ही शत्रुता एवं युद्ध का आह्वान करते हैं। उनकी आदर्श वीरता का संदेश श्रवणीय है :—

कहिये कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुःख दे, चाहे हो शत्रु की

---

१. विशाख, तृतीय अंक, पृ० ७५
२. महाराणा का महत्व, पृ० ९

शत्रु हमारे यवन—उन्हीं से युद्ध है
यवनीगण से नहीं हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नहीं
मृगया, डर से दबी शृगाली-वृन्द की।[1]

अपने सच्चे वीरत्व के कारण ही भारतीय वीर सदैव शत्रु द्वारा भी बहु प्रशंसित हुए हैं। अकबर एवं रहीम दोनों राणा प्रताप का मन ही मन लोहा मानते हुए उनका सम्मान करते हैं। सिकन्दर भी अपनी जय सुनने की अभिलाषा से भारत आया था, किन्तु वापस जाते समय वह विस्मय-विमुग्ध अपना हृदय देकर, मैत्री का हाथ मिला कर जाना चाहता है। उसका ये उद्‌गारपूर्ण अभिनन्दन भी कितना स्पृहणीय है—

"सिकन्दर—आर्यवीर। मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को, सम्भवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूं।"[2]

केवल स्त्रियों के ही नहीं, ये वीर सभी दुर्बल प्राणियों के रक्षक हैं। वे उन सब पीड़ित, आघात-जर्जर पद-दलित लोगों के संरक्षक हैं जो स्वदेश की प्रजा हैं।"[3]

शरणागत वत्सलता

शरण में आए हुए की रक्षा करना पुरुष का कर्तव्य है। शरणागत की रक्षा के लिए वह किसी नियम से बाध्य नहीं होता। वह उसकी स्वाभाविक वृत्ति है, उसका धर्म है।[4] अग्निमित्र शरण में आए हुए शत्रु को भी अभयदान देता है।

आत्म सम्मान

पुरुष में आत्मसम्मान का भाव बहुत प्रबल होता है। आत्मसम्मान के गौरव से उसका तेजस्वी मुख सदैव दैदीप्यमान रहता है। मानापमान-भाव शून्य पुरुष अधम एवं निकृष्ट कोटि का, पतन के गर्त में गिरा हुआ कहा जाता है। रामगुप्त अपने इसी गौरव से विहिन हो गया था। उसने स्वयं के जीवन के लिए

---

१. वही, पृ० १२
२. चन्द्रगुप्त, तृतीय अंक, पृ० १३०
३. वही, पृ० १५१
४. स्कन्दगुप्त, प्रथम अंक, पृ० १३

अपनी सुन्दरी रानी ध्रुवस्वामिनी को शत्रु-शिविर में भेजना स्वीकार कर लिया। इसीलिए वह निर्लज्ज मदप, क्लीव जैसे अपशब्दों को सुनने का अधिकारी हुआ।[1]

सच्चे पुरुष को इन शब्दों को सुनने का अभ्यास नहीं होता। वह तो सदैव अपने और अपने देश के सम्मान के लिए मर-मिटने के लिए प्रस्तुत रहता है। चन्द्रगुप्त का कथन अवलोकनीय है :—

"आर्य संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है। सिंहरण मेरा आत्मीय है, मित्र है, उसका मान ही मेरा मान है।"[2]

इसका तात्पर्य यह नही है कि वह विनय एवं नम्रता से से विहीन होता है। वस्तुतः वह विनीत भी है और दयालु भी है। किन्तु मान एवं शील रहित विनय प्रवचनों का आवरण है। गीत भी परस्पर सम्मान की घोषणा करता है।[3] विनय एवं शील सहित पुरुष स्वयं दया करना मानता है। स्वयं वह किसी अन्य की दया के आश्रय में रहना नहीं चाहता, उसे तो स्वाभीमान पूर्ण स्वत्व की ही अभिलाषा होती है। इसके लिए उसे अपने बाहुबल पर पूर्ण विश्वास है। निर्धारित विरुद्धक भी दूसरे की सहायता से राज्य हस्तगत करना नहीं चाहता। उसका यह स्वत्व भी स्पृहणीय है :—

'विरुद्धक :—नहीं बन्धुल मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता। मुझे तो अधिकार चाहिए, स्वत्व चाहिये।

'मैं बाहुबल से उपार्जन करूंगा। मृगया करूंगा। क्षत्रिय कुमार हूं, चिन्ता क्या है? स्पष्ट कहता हूं बन्धुल।'[4]

वह दूसरे की दया के सहारे जीवन व्यतीत करने से श्रेष्ठतर मृत्यु को अंगीकार करना समझता है। प्रसाद ने दीन-जीवन को पशु से भी गया बीता बताया है :—

"मरण जब दीन जीवन से भला हो,
सहें अपमान क्यों फिर इस तरह हम।

---

१ ध्रुवस्वामिनी, पृ० २८
२. चन्द्रगुप्त, प्रथम अंक, पृ० ५०
३. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ३१
४. अजातशत्रु, दूसरा अंक, पृ० ६६

मनुज होकर जिया धिक्कार से जो,
कहेंगे पशु गया बीता उसे हम ॥"[1]

कर्मशील पौरुष—

पुरुष निष्क्रिय होकर नहीं बैठ सकता। उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है। विलास-जर्जर पुरुष में कोई आकर्षण किंवा सौन्दर्य नहीं रहता। संघर्षों का निरन्तर सामना करना ही उसका उद्देश्य होता है। इसमें कर्म ही उसकी प्रेरणा बनता है। उससे ही उसे बल प्राप्त होता है। वह सदैव कर्म-निरंतर रहता है। वह कर्म यदि जन्म भूमि के उद्धार से सम्बन्धित हो तो उसका कहना ही क्या? कर्म का सफल प्राप्त हो जाने पर मानो वीर की समस्त व्यय की गई शक्ति सार्थक हो जाती है—

"हृदय थका है नहीं, विप्रल बल पूर्ण है
क्योंकि कर्मफल लाभ एक बल है स्वयं।"[2]

इस बल को प्राप्त करने के लिए प्रसाद की सौन्दर्य सृष्टियां नियति के कठोर अनुशासन में रहते हुए भी कर्म में विरत नहीं है। वे नियति की डोरी पकड़ कर निर्भय कर्मकूप में कूद पड़ते हैं।[3]

रोहित भी निरन्तर कर्मपथ पर अग्रसर होने के लिए भगवान से प्रार्थना करता है—"(हे) कायरता के अरि! पुरुषार्थ की प्रतिमा मुझे यही वर दीजिए कि यह कर्मपथ में कभी भयभीत न हो।[4]

इसी कर्मण्यता के कारण परिवार का भरण-पोषण करना, उसे पर्याप्त सुख प्रदान करना, वह अपना कर्त्तव्य समझता है। वह इसके लिए उद्यम करने को सदैव प्रयत्नशील रहता है।[5]

श्रेष्ठि पुत्रवधू ने भी नन्दन की कर्मण्यता एवं साहस देखकर ही अपने ललाट को उज्ज्वल समझा।[6]

---

१. विशाख, तृतीय अंक, पृ० ७५
२. महाराणा का महत्त्व पृ० ९
३. अजातशत्रु, प्रथम अंक, पृ० ३६
४. करुणालय, पृ० २०
५. विशाख, द्वितीय अंक, पृ० ५४
६. आँधी, पृ० १०२

न्यायप्रिय

धीरता, निर्भयता और साहस के साथ ही वह न्याय प्रिय है। सच्ची वीरता उन्माद नहीं है, आंधी नहीं है, जो उचित अनुचित का विचार न करती हो, केवल शस्त्रबल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय।[1] प्रसेनजित, चन्द्रगुप्त एवं स्कन्दगुप्त ने आपत्तिकाल में भी न्याय का परित्याग नहीं किया।

उदार-हृदय एवं क्षमाशील

यह अवश्य है कि न्याय में भी क्षमा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कभी कभी गुरुतम अपराधी को भी पुरुष अपनी उदारता के कारण क्षमा कर देता है। स्कन्दगुप्त ने अपनी षड़यन्त्रकारी विमाता अनन्तदेवी, भाई पुरगुप्त, अनेकों बार छल करने वाले भटार्क और देवी स्वरूपा देवसेना के प्रति हत्या जैसे जघन्य अपराध की सृष्टि करने वाली विजया, माता की हत्या का प्रयत्न करने वाले शर्वनाग सभी के हृदयों को उसने क्षमा द्वारा विजित कर लिया।

परदुख कातरता एवं सहनशीलता

पुरुष स्वभाव से धीर गम्भीर होता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह नितान्त शुष्क हृदय होता है। वह ऊपर से जितना कठोर दिखाई देता है, उतना ही उसके हृदय का एक पक्ष अन्दर से कोमल भी है। देश की आत्मा को दुखी देखकर, उसके नागरिकों के कष्ट देखकर उसका हृदय विदीर्ण हो उठता है। वह देश के उद्धार के लिए नाना प्रकार के कष्ट एवं अत्याचार मौन होकर सहन करता है। मगध के महानायक पर्णदत्त से देश की दुर्दशा देखी नहीं जाती। उन्होंने देश के लिए अपूर्व सहनशक्ति का परिचय दिया है। देश के लिए उन्होंने स्वयं ने भिक्षा-वृत्ति का भी अवलम्ब लिया। सूखी रोटियों को भी उन्हें बचाकर रखना पड़ता है। साथ ही उनका पौरुष और स्वाभिमान बारम्बार उन्हें प्रताड़ित करता है। परन्तु वे देश के लिए सभी कुछ सहन करने को तत्पर रहते हैं।

मूल प्रवृत्तियों का सौन्दर्य

इन गुणों के अतिरिक्त पुरुष में कुछ मूल प्रवृत्तियां भी हैं। चाहें तो इन्हे अवगुणों या दोषों के अन्तर्गत परिगणित कर सकते हैं, किन्तु इनका भी पुरुष-जीवन में एक विशिष्ट महत्त्व हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण वह स्त्रियों से श्रेष्ठतर होने का दम्भ भरता है। प्रसादजी ने पुरुष के इस पक्ष को भी अछूता नहीं छोड़ा है। इनसे उसके सौन्दर्य में वृद्धि ही हुई है। कतिपय प्रवृत्तियां अवलोकनीय हैं—

---

१. स्कन्दगुप्त, द्वितीय अंक, पृ० ७१

स्वतन्त्रता प्रिय

पुरुष को अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में किसी का भी हस्तक्षेप, ताला या अर्गला सहन नहीं होती। मां, बहिन अथवा अन्य किसी स्त्री के द्वारा भी, इसमें तनिक सी भी आशंका से उसमें अतीतकाल से संचित अधिकार का संस्कार गरज उठता है। वह "किसी माली की संकरी क्यारी का कोई छोटा सा पौधा होना बुरा नहीं समझता, किन्तु किसी की मुट्ठी में गुच्छे का कोई सुगन्धित फूल नहीं बनना चाहता। प्राचीन काल में घरों के भीतर इतने किवाड़ नही लगते थे। उतनी तो स्वतन्त्रता थी। अब तो जगह जगह ताले कुण्डियां और अर्गलाएं। यह—असह्य है।"[1]

प्रसादजी ने पुरुष को चिरमुक्त कर्मशील कहा है। वह किसी के भी बन्धन में गतिहीन होकर पंगु के समान कब तक अवरुद्ध श्वास ले सकता है।[2] उनका यह कथन भी अवलोकनीय है—

"पुरुष को सदैव यदि स्त्री को सहलाते-पुकारते ही बीते तो बहुत बुरा है। उसे तो उन्मुक्त, विकासोन्मुख और स्वतन्त्र होना चाहिये। संसार में उसे युद्ध करना है। वह घड़ी भर मन बहलाने के लिए जिस तरह चाहे रह सकता है। उसके आचरण में, कर्म में, नदी की धारा की तरह प्रवाह होना चाहिये। तालाब के बंधे पानी सा उसके जीवन का जल सड़ने और सूखने के लिए होगा तो वह भी जड़ और स्पन्द-विहीन होगा।"[3]

अपनी स्वतन्त्रता में बाधा बनने वाली वस्तु को वह बड़ी निर्द्वन्द्वता एवं निर्दयता से दूर हटा देता है। इसके लिए वह अत्यधिक प्रेम करने वाली अपनी प्रेमिका की हत्या तक करने में नहीं हिचकता। शैलेन्द्र श्यामा के अत्यधिक प्रेम में आबद्ध होकर भी मुक्त होने के लिए छटपटाता रहता है। शैलेन्द्र का यह द्वन्द्व भी अपेक्षणीय नहीं है—

"इस पामरी की गोद में मुंह छिपा कर कितने दिन बिताऊं? हमारे भावी कार्यक्रमों में अब यह विघ्नस्वरूप हो रही है। यह प्रेम दिखा कर मेरी स्वतन्त्रता हरण कर रही है। अब नहीं, इस गर्त में अब नहीं गिरा रहूंगा, कर्मपथ के कोमल और मनोहर कंटको को कठोरता से, निर्दयता से हटाना ही पड़ेगा। तब आज से अच्छा समय कहां—"[4]

---

१. तितली, पृ० ११०
२. कामायनी, ईर्ष्या, पृ० १५३
३. तितली, पृ० १७०
४. अजातशत्रु, दूसरा अंक, पृ० ९२

महत्वाकांक्षी

कर्मपथ में स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करने वाले पुरुष में महत्वाकांक्षा का भी अभाव नहीं है। यही महत्वाकांक्षाओं की प्रबल उत्कण्ठा उसे कठोर कर्मपथ पर निरन्तर अग्रसर करती रहती है। पद-प्रभुत्व ऐश्वर्य, सम्मान एवं गौरव, न जाने उसका हृदय कितनी आकांक्षाओं का घर होता है। इनकी पूर्ति के लिए उसे अपने हृदय पर अंकुश लगा कर कठोर बनना पड़ता है। समान प्रेम भी उसकी महत्वाकांक्षाओं का एक अंग ही है—"उसे प्रेम का हिसाब लगाना पड़ता है, उसे सीखना पड़ता है। संसार में जैसे उसकी महत्वाकांक्षा की और भी बहुत सी विभूतियां है, वैसे ही यह भी एक है। पद्मिनी के समान जल मरना स्त्रियां ही जानती है, और पुरुष केवल उसी जली हुई राख को उठा कर अलाउद्दीन सदृश बिखेर देना ही तो जानते हैं।"[1]

अधिकारलिप्सा एवं शासनवृत्ति

पुरुष में अधिकार की, शासन की भावना बहुत प्रबल होती है। परिवार, राज्य, यहां तक कि प्रेम पर भी वह एकाधिकारपूर्वक शासन करना चाहता है। इस अधिकार में भाग लेने वाली, यदि स्वयं उसकी सन्तान ही हो, वह भी उसे सहन नहीं होती। उसे तो सम्पूर्ण प्रभुत्व चाहिए। वह इस पंचभूत की रचना में एक मात्र तत्व बनकर रमण करना चाहता है। उसे पुत्र और पति में प्रेम बांटने का प्रकार स्वीकार नहीं। वह भिक्षु बन कर प्रेम का विचार नहीं चाहता।[2] वह तो प्रिय की काली आंखों में एक मात्र अपना ही चित्र देखना चाहता है।[3] मनु की प्रभुत्व कामना की चरम परिणति का भी अपना ही विशिष्ट सौन्दर्य है—

"यह जीवन का वरदान मुझे
दे दो रानी अपना दुलार।
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।"[4]

वस्तुतः पुरुष का मन अधीर होकर अपने प्रभुत्व की सुख-सीमा को खोजने में लीन रहता है।[5] किन्तु उसकी कोई सीमा नहीं मिलती। वह तो आकर्षण से

---

१. कंकाल, पृ० २२८
२. कामायनी, ईर्ष्या, पृ० १३१
३. वही. पृ० १५५
४. कामायनी, ईर्ष्या, पृ० १५६
५. वही, पृ० १४७

भरे सम्पूर्ण विश्व को केवल अपना ही भोग्य समझता है।[1] वह शासक है। चिर स्वतन्त्र है उसका उसकी इच्छित वस्तु पर असीमित अधिकार है।[2]

इस शासन-वृत्ति के कारण वह प्रजा की सुख-शांति का भार वहन करना अपना दायित्व समझता है। राजा हरिश्चन्द्र के विचारों में इन भावनाओं की छाप स्पष्ट परिभाषित होती है—

> आर्यों के अनुकूल देवगण हैं सदा
> विश्व हमारा शासन अभिनय रंग है
> हम पर है दायित्व सभी सुख-शान्ति का
> सब विभुतियां और उपकरण गर्व के
> आर्य जाति के चरणों में उपहार हैं।"[3]

आत्मजयाभिलाषी—

शासनाधिकरण प्रकृति के कारण पुरुष में अपनी जय सुनने की बड़ी लालसा होती है। उसे अपने अधीनस्थ लोगों के मुख से 'जय' शब्द बड़ा सुहावना लगता है।[4] सिकन्दर तो दाण्डायन के मुख से भी 'जय' सुनने की अभिलाषा रखता है।[5]

प्रसादजी ने पुरुष की समस्त मूल प्रवृतियों को उसके व्यक्तित्व के, उसके सौन्दर्य के आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। इन गुणों के अभाव में उसके पुरुष होने में कोई विशेषता नहीं होगी।

जिस प्रकार उनकी नारी रचनाएँ कोमलता का पालना, दया का उद्गम होते भी वीर एवं साहसी है, उसी प्रकार पुरुष मे भी उन्हें केवल पुरुष गुण ही वरेण्य नहीं है। रण-दुर्मद, प्रचण्ड, दुर्द्धर्ष युवकों के हृदय में भी तनिक कोमलता आवश्यक है। केवल पुरुषत्व के द्वारा वह मनुष्य नहीं रह जावेगा। इसके लिए, पुरुष के उत्तप्त दग्ध-हृदय को स्नेह की शीतल छाया की आवश्यकता है। दैन्य जीवन के प्रचण्ड आतप में सुन्दर स्नेह, उसकी छाया बन कर; झुलसे हुए जीवन को धन्य बना देती है।[6]

---

१. वही, कर्म, पृ० १३६
२. वही, संघर्ष, पृ० २०६
३. करुणालय, पृ० १४
४. अजातशत्रु, पृ० ५१
५. चन्द्रगुप्त, प्रथम अंक, पृ० ८४
६. स्कन्दगुप्त, प्रथम अंक, पृ० ७३

दुर्द्धर्ष, वीर और उत्साही पुरुष, जहाँ जीवन के बाह्य कर्मक्षेत्र में निरन्तर संघर्ष रत रहते हैं, वहां उनका हृदय एक भिन्न प्रकार के संघर्ष में लीन रहता है। उनके प्राण निरन्तर एक अनजाने अभाव की पीड़ा से संघर्परत रहते हैं। विजेता सम्राट चन्द्रगुप्त भी अपने हृदय में इस अभाव एवं रिक्तता का अनुभव करते हैं। उनके हृदय में भी एक आंधी सी चल रही है—

"संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका। आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वन्द्व। कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है। मालविका तुम मेरी ताम्बुलवाहिनी नहीं हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो, मैं दरिद्र हूं कि नही, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं। मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता।"[१]

चम्पा द्वीप का अधीश्वर बुद्धगुप्त कठोर दस्यु होते हुए भी चम्पा के प्रेमाकर्षण से मुक्त होने में असमर्थ है। उसे भी अपने हृदय के दुर्बल अंश पर श्रद्धा है। वह चम्पा का प्रणय-भिक्षुक है। स्वयं बुद्धिगुप्त के ही उद्‌गार अवलोकनीय हैं—

"स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश। वह महिमा की प्रतिमा। मुझे स्मृति नित्य आकर्षित करती है, परन्तु मैं क्यों नही जाता ? जानती हो इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूं। मेरा पत्थर सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्त मणि की तरह द्रवित हुआ।"[२]

चम्पा मैं ईश्वर को नही मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़-तम में मुस्कराने लगी। पशुबल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हंसी-खिलखिलाने लगी। पर मैं हंस न सका।'[३]

वात्सल्यमय

उनके हृदय में प्रणय के साथ वात्सल्य भी हिलोरे लेता रहता है। वे रण-क्षेत्र में हंसते-हंसते प्राण न्योछावर कर सकते हैं, किन्तु अपनी सन्तान को दुख से तड़पता हुआ देखकर उनकी आंखों से खुन के आंसू टपकने लगते है।[४]

---

१. चन्द्रगुप्त, चतुर्थ अंक, पृष्ठ १६७
२. आकाशदीप, पृ० १९, २०
३. आकशदीप, पृ० १९,२०
४. स्कन्दगुप्त, पंचम अंक, पृ० १९,२०

दीन-दुनिया से बेखबर शराबी के भावना शून्य हृदय को भी एक बालक की सिसकियां विचलित कर देती है। बालक पर अत्याचार होते देख कर नियति की कठोरता के प्रति उसके हृदय में भी हलचल मच जाती है।

"किसने ऐसे सुकुमारों फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की ? आह री नियति ! तब इसको लेकर मुझे घर-वाली बनना पड़ेगा क्या ? दुर्भाग्य ! जिसे मैंने कभी सोचा भी नहीं था मेरी इतनी माया-ममता-जिस पर, आज तक केवल बोतल का ही पूरा अधिकार था—इसका पक्ष क्यों लेने लगी ? इस छोटे से पाजी ने मेरे जीवन के लिए कौन सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है ? तब क्या करूँ ? कोई काम करूँ ? कैसे दोनों का पेट चलेगा। नहीं, भगा दूंगा इसे आंख तो खोले।"[1]

इस प्रकार प्रसाद जी की पुरुष सृष्टियां पुरुषता एवं कोमलता का अद्भुत सामन्जस्य हैं, जो वीरता, साहस और निर्भीकता के साथ न्याय, क्षमा और उदारता की प्रतिमूर्ति है। उनके हृदय में वात्सल्य और प्रेम की भी अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। सनातनकाल से पुरुष अपनी कतिपय मूल-प्रवृत्तियों से मण्डित रहा है। अवगुणों की श्रेणी में परिगणित होते हुए भी इनसे विहीन होने पर वह नपुंसक संज्ञा का भागी बन जाता है। इन प्रवृत्तियों से भी प्रसाद की पुरुष—रचनाएं पूर्णरूपेण अलंकृत है।

बाल-सौन्दर्य

नारी और पुरुष सौन्दर्य के साथ साहित्य में बाल-सौन्दर्य का बहुत महत्त्व है। कवि शिरोमणि महाकवि सूरदास भगवान के बाल-रूप का वर्णन करके अद्यतन हिन्दी साहित्यकार को अपनी रश्मियों से आभासित कर रहे हैं। बालक को भगवान का रूप माना जाता है। बालक की सरल स्वाभाविक चेष्टाएं, उसकी मनोहर भोली-भाली भाव भगिमाएं कठोर हृदय को भी एक बार शुभ्र उल्लास से भर देती है।

साहित्य में बाल-सौन्दर्य-चित्रण की परम्परा बहुत पुरानी है। प्रायः कवियों ने कृष्ण के माध्यम से बालकों के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है। आधुनिक युग में भी बाल-सौन्दर्य का वर्णन तो अवश्य हुआ हैं, किन्तु अत्यल्प मात्रा में। वह भी अवसरानुकूल, जहां भी उन्हें थोड़ा सा अवकाश मिला है। विस्तृत रूप में अथवा शुद्ध-बाल सौन्दर्य की दृष्टि से यह युग प्रायः अभावग्रस्त ही रहा है।

प्रसादजी वस्तुतः रूप, यौवन और सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने नारी एवं पुरुष सौन्दर्य के चित्रण में जितनी अधिक रुचि ली है, उतना वे मानव के बाल-

१. आँधी, मधुआ, पृ० ५०

रूप की ओर आकृष्ट नहीं हुए हैं। यदि वे चाहते तो उन्हें कामायनी में इसका पर्याप्त अवकाश मिल सकता था, परन्तु न जाने क्यों इसकी उन्होंने प्रायः उपेक्षा ही की है। फिर भी यथासम्भव उसका वर्णन किया अवश्य है।

बाह्य सौन्दर्य

प्रसादजी ने यौवन के ऐश्वर्यशाली एवं वैभवपूर्ण चित्र खींचे हैं वहां उन्होंने बाल-चित्रों का निर्माण करुणा की लेखनी से किया है। उनके साहित्य में उपलब्ध जितने भी बाल रूप हैं, वे प्रायः करुणा, दया एवं सहानुभूति के पात्र हैं। छोटा जादूगर, मधुआ, बेड़ी से बंधा बालक, सभी अपने आप में एक अलौकिक करुण-मूर्तिया हैं। इनके कतिपय चित्र दर्शनीय हैं—

छोटा जादूगर दारिद्र्य एवं दैन्य की पीड़ा के कारण अत्यल्प अवस्था में ही गम्भीर बनने पर विवश है। बाल्यावस्था में जबकि चन्चलता एवं सरलता का ही साम्राज्य रहता है, उसकी आजिविका के भार से आक्रान्त यह गम्भीर मूर्ति दर्शकों के हृदय को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

जहां एक लड़का चुपचाप शरबत पीने वालों को देख रहा था। उसके गले फटे कुरते के ऊपर से एक मोटी सी सूत की रस्सी पड़ी थी, और जेब में ताश के पत्ते थे। उसके मुंह पर गम्भीर विषाद के साथ धैर्य की रेखाएं थी।[1]

दरिद्रता की प्रतिमूर्ति मोहन के चित्र में तो करुणा की पराकाष्ठा ही हो गई है—नगरोपकण्ठ में कुएं के समीप बैठा हुआ अपनी छोटी बहिन को वह समझा रहा है। फटे हुए कुरते की कोर से उसके अश्रु पोंछने में वह सफल नहीं हो रहा था। क्योंकि कपड़े के सूत से अश्रु विशेष थे। थोड़ा सा चना तो उसके पात्र में बेचने का बचा था, उसी को रामकली मांगती थी। तीन वर्ष की रामकली को तेरह वर्ष का मोहन सम्भालने में असमर्थ था।'[2] इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र बालकों की अंग कान्ति व उज्ज्वल हास का भी वैभवपूर्ण वर्णन हुआ है।

इसी प्रकार प्रायः सभी चित्रों में करुणा का विशेष पुट है। केवल एक मात्र 'बाल क्रीडा' के अन्तर्गत उन्होंने बालकों के सरल निश्छल आनन्द और उसकी चेष्टाओं का चित्रण किया है। बालक जब प्रसन्न होता है तो बिना किसी की बात समझे हुए हंसता ही रहता है। गोरे-गोरे गाल अत्यधिक मोद से लाल हो जाते हैं। बूढ़ा माली बकबक करता रहता है, परन्तु उसकी चिन्ता किसे है।[3]

---

१. छोटा जादूगर
२. प्रतिध्वनि, पृ० ५३
३. कानन कुसुम, पृ० ४६, ४७

धूल-धूसरित क्रिड़ारत बालक का मां से आकर लिपट जाना कितना मनोरम लगता है। प्रसाद ने इसे अलौकिक स्वरूप प्रदान किया है—

"मां—"फिर एक किलक दुरागत, गूंज उठी कुटिया सूनी,
मां उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी,
लटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गयीं,
निश तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।"[१]

अन्तः सौन्दर्य

प्रसादजी को जहां युवा मन के मोतिकों की परख थी वहीं उन्हें बाल-मन का भी समुचित ज्ञान था। बालमन का सौन्दर्य उसकी शिशुता एवं सरलता होती है। इस आयु में बालक सम्पूर्ण लोक-व्यवहार से शून्य होता है। उसकी दृष्टि में छूत-अछूत, गरीब-अमीर सभी समान होते हैं। वे एक पल में रूठते हैं और दूसरे ही क्षण-प्रसन्न हो जाते हैं। प्रसादजी ने उनके हृदय का बड़ा ही सरल-स्वाभाविक चित्र अंकित किया है—

राजा हो या रंक एक ही-सा तुमको है
स्नेह-योग्य है वही हंसाता जो तुमको है
मान तुम्हारा महामानियों से भारी है
मनोनीत जो बात हुई तो सुखकारी है
वृद्धों की गल्पकथा कभी होती जब प्रारम्भ
कुछ सुना नहीं तो भी तुरन्त हंसने का आरम्भ है।"[२]

बालक को जब भूख लगती है, उस समय वह अपनी समस्त क्रीड़ा-कन्दुकों को भूल जाता है। उसे अपने और मां के बीच कोई व्यवधान सहन नहीं होता। भय तो उसे स्पर्श तक नहीं करता। प्रसादजी ने बालक की इस प्रवृत्ति को लक्ष्य कर उसका बड़ा सहज चित्रण किया है—

"खेलते समय बालक को भोजन की याद आयी फिर कहां का राम बनना और कहां की रामलीला। चट धनुष फेंक कर दौड़ता हुआ माता के पास जा पहुंचा और उस ममता-मोहमयी माता के गले से लिपट कर मां! खाने को दे, मां! खाने को दे कहता हुआ जननी के चित्त को आनन्दित करने लगा।"[३]

---

१. कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृ० १८७
२. कानन कुसुम, पृ० ४७
३. छाया, मदन मृणालिनी, पृ० १०९

अपने और जननी के बीच के व्यवधान को वह बड़ी वीरतापूर्वक हटाने को तत्पर है। उसे यह चिन्ता नहीं होती कि उसकी इस क्रिया का कोई भला मानेगा अथवा बुरा। अपने छोटे-छोटे धनुषबाण ही उसके लिये महान अस्त्र होते हैं। जिन पर उसे दृढ़ विश्वास है—

"भोजन तत्काल ही न मिलने से बालक का मचलना और भी बढ़ चला। धीरे धीरे वह क्रोधित हो गया, दौड़ कर अपनी कमान उठा लाया, तीर चढ़ा कर पड़ोसिन को लक्ष्य किया और कहा—तू यहां से जा नहीं तो मैं मारता हूं।"[१]

बालकों में अनुकरण करने की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है। वे अपने से गुरुजनों के आचरण का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं। पुनः उसी का अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं। प्रसादजी ने भी उनकी इस प्रवृत्ति का बहुत ही अल्प शब्दों में चित्रण किया है—

विजयदशमी का त्योहार निकट है, बालक लोग नित्य रामलीला होने से आनन्द में मग्न हैं।

हाथ में धनुष और तीर लिए हुए एक छोटा सा बालक रामचन्द्र बनने की तैयारी में लगा हुआ है।"[२]

किन्तु जिन बालकों पर शैशव से ही दरिद्रता एवं दैन्य की मार पड़ती है, वे प्रारम्भ से ही कितने धीर, गम्भीर, चतुर, स्वाभिमानी एवं आत्मविश्वासी बन जाते हैं। इसका करुण—कोमल चित्रण करने में प्रसादजी को अद्‌भुत सफलता मिलती है। बाल सुलभ भोली आकृति और जीवन संघर्ष की कठोरता से इन बालकों का विरोधी सौन्दर्य अद्‌भुत बन गया है। विरोध में सामजस्य प्रसाद की प्रतिभा की विशेषता है। 'छोटा जादूगर,' 'मधुआ,' 'मोहन,' सभी अपनी करुण परिस्थितियों में स्वावलम्वी, प्रगल्भ, निशानेबाज, आत्मविश्वासी, और स्वाभिमानी हैं। उन्हें दूसरों की सहानुभूति ही चाहिये। कर्म कठोरता से वे भयभीत नहीं होते।

इन प्रकार प्रसादजी ने साहित्य में बाल—सौन्दर्य का विशेष करुणा की दृष्टि से अवलोकन किया है। मोर मुकुट धारण किए हुए, रत्न-जटित आंगन में क्रीड़ा करते हुए माखन चोर कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन से तो साहित्य का कोना २ जगमगा रहा है, किन्तु जीवन की विषम परिस्थतियों से जूझते हुए इस करुण—सौन्दर्य का क्षीण-आलोक अपना अलग अस्तित्व रखता है।

---

१. छाया, मदन मृणालिनी, पृ० १०९

२. छाया, पृ० १०९

चतुर्थ अध्याय

प्रकृति-सौन्दर्य

प्रकृति-सौन्दर्य

प्रकृति और मानव

इस विश्व में प्रकृति-सौन्दर्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। अपनी आदिम अवस्था से ही मानव इसके प्रभूत सौन्दर्य से अभिभूत होता आया है। वह सबसे अधिक प्रकृति के ही सम्पर्क में रहा है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त अन्न, फूल एवं जलादि द्वारा ही उसके अंग-प्रत्यंग पुष्ट हुए हैं। प्रकृति के निरन्तर सहचर्य ने ही उसे मां व सहचरी के समान ममता, वात्सल्य एवं सहानुभूति, आदि गुणों से अभिषिक्त किया है। प्रकृति हमारी धात्र है। उसके जलवायु से हमारा शरीर पुष्ट हुआ है, उससे हम भाग नहीं सकते हैं। मौन रहते हुए भी वह हमें सहचर-सुख देती है।[१] इसी प्रकृति पर आज मानव विज्ञान और बुद्धि-कौशल द्वारा निरन्तर विजय प्राप्त करता चला जा रहा है। किन्तु जितना ही अधिक वह प्रकृति को विजित करता जा रहा है उतना ही प्रकृति-सौन्दर्य के सम्पर्क से च्युत होता जा रहा है। इसी कारण उसकी जीवनी शक्ति में निरन्तर ह्रास हो रहा है। प्रसादजी ने इसी को लक्ष्य कर स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी।
शोषण पर जीवनी बना दी जर्जर झीनी॥'[२]

कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी प्रकृति को मानव जीवन के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक माना है—'जब मनुष्य स्वयं को प्रकृति के प्राणप्रद और वरद स्पर्श से दूर कर लेता है और जीवन व आरोग्य के लिए अपने आविष्कारों का अवलम्ब लेता है तो वह उन्मादी हो जाता है। स्वयं को खंड-खंड कर लेता है और अपने ही जीवन-रस का शोषण करता है। प्रकृति के विशाल आंचल का अवलम्ब छोड़ कर उसकी दीनता नग्न और निर्लज्ज बन जाती है। प्रकृति के आवरण में वह सादगी का रूप धारण किए रहती है।'[३]

---

१. गुलाबराय, प्रसादजी की कला, पृ० २७६

२. प्रसाद, कामायनी, संघर्ष, पृ० २०७

३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, साधना, पृ १४

प्रकृति-सौन्दर्य के दो रूप

साहित्योतर प्रकृति-सौन्दर्य

भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने प्रकृति विषयक विभिन्न धारणाएं व्यक्त की हैं। कुछ ने उसके बाह्य रूप को अधिक महत्व दिया है, कुछ ने उसकी आन्तरिक वृत्तियों को। कुछ ने मन, अहंकार एवं बुद्धि आदि को भी प्रकृति के अन्तर्गत माना है। वास्तव में प्रकृति दृश्य और अदृश्य दोनों ही सृष्टियों को आच्छादित किए हुए हैं। कतिपय विद्वान तो ईश्वरीय रचना मात्र को ही प्रकृति कह कर पुकारते हैं।[१] उनका कथन है कि प्रकृति दृश्यमान एवं चेतन है। उसी का बाह्य रूप ईश्वर की वर्तमान आन्तरिक सत्ता का भी अभिव्यंजक है।[२] वैज्ञानिकों ने उसे सम्पूर्ण रूप से जड़ मानते हुए प्रयोगात्मक एवं विश्लेषणात्मक रीति से उसका विवेचन किया है। उनका सौन्दर्य अथवा भाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

विभिन्न दार्शनिकों ने उसे जड़ अथवा चेतन मानते हुए सृष्टि के विकास में उसका सहयोग स्वीकार किया है। वेदान्त-दर्शन के आचार्य शंकर ने प्रकृति को जड़ माना है। उनके अनुसार ब्रह्म ही परम सत्ता है। यह सगुणात्मिका प्रकृति माया से आवृत्त है। जब तक माया का यह आवरण नष्ट नही किया जाएगा तब तक आत्मा के शुद्ध स्वरूप के दर्शन असम्भव हैं। अज्ञान के कारण जीव और जगत् की सत्ता प्रतीत होती है, किन्तु वह रस्सी में सर्प के समान असत्य है। जब ज्ञान के द्वारा यह आभास नष्ट हो जाता है, तो ब्रह्म मात्र अवशिष्ट रह जाता है। इसी ब्रह्म के तादात्म्य प्राप्त करना ही प्रत्येक जीव के जीवन का लक्ष्य है। इसी एकात्म्य का अनुभव करना ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव है। अतः आनन्दानुभव अथवा सौन्दर्यानुभूति केवल प्रकृति द्वारा सम्भव नहीं है। वह तो माया के आवरण के कारण सुन्दर प्रतीत होती है। शंकराचार्य जीव को भी ब्रह्म का अंश बताते हुए उसे ब्रह्म स्वरूप ही मानते हैं। इस प्रकार अपने मूल रूप में जीव भी अनन्त चैतन्यस्वरूप है। परन्तु अविद्याजनित उपाधियों के कारण उसके अनुभव एवं ज्ञान का क्षेत्र सीमित हैं। इसी अज्ञान जन्य अहंकार के कारण वह कर्मफल भोगता है।

---

१. "Nature but a name for an effect whose cause is God" Cowper.

The new Dictionary of thoughts, Page, 435.

२. "Nature is the living, visible garment of God" Gaethe.
The same, Page 436.

फिर भी जब तक स्वात्मसाक्षात्कार न हो जाय, तब तक इसमें व्यावहारिक दृष्टिकोण रखना ही समुचित है क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म साक्षात्कार इस नाम रूपात्मक जगत् के उत्तरोत्तर परिज्ञानान्तर हो सम्भव है अन्यथा नहीं।[1]

शंकराचार्य ने प्रकृति को जहां नितान्त जड़ एवं ईश्वर को निर्गुण परम सत्य माना है, वहां वैष्णव दर्शन के अनुगामी रामानुज ने ईश्वर में तीन तत्त्व माने हैं—चित् (जीव), अचित् (प्रकृति या जड़) एवं अन्तर्यामी तत्त्व ईश्वर। यह ईश्वर व एकमात्र सत्ता दोनों तत्त्वों से युक्त होता है। यद्यपि जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि वे ईश्वर के अधीन होकर रहते हैं। जीव भोक्ता है और जड़ भोग्य। ईश्वर इन दोनों में समाहित रहते हैं। इसीलिए चित् तथा अचित् अर्थात् सारी सृष्टि ईश्वर या ब्रह्म का ही शरीर अथवा प्रकार है।

वे श्वेताश्वर उपनिषद्, पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों में वर्णित रूप को स्वीकार करते हैं। श्वेताश्वर के अनुसार प्रकृति एक है, अनादि है तथा अपने समान ही बहुत ही प्रजाओं की सृष्टि करने वाली है। रामानुज प्रकृति को ईश्वर का अंश तथा ईश्वर के द्वारा परिचारित मानते हैं। प्रकृति स्वयं सृष्टि नहीं करती, प्रत्युत् ईश्वर की अध्यक्षता में ही वह सृष्टि का कार्य करती है।[2] इस प्रकार रामानुज ने ही प्रकृति की सार्थकता को सम्पन्न किया तथा उसके प्रति एक सरस भावना का संचार किया।

प्रकृति के प्रति इस दृष्टिकोण को आचार्य वल्लभ ने और भी अधिक पुष्ट किया है। उनका सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' नाम से अभिहित किया जाता है। उन्होंने माया के व्यापार को नितान्त अस्वीकार किया है। यह जगत् या प्रकृति उस ईश्वर की लीला का परिणाम है। जब उसकी इच्छा होती है, वह अपनी लीला द्वारा इसकी रचना करता है और ईच्छानुसार ही प्रलय द्वारा इसे समाप्त कर देता है। भगवान अपने विलास के लिए जगत् का आविर्भाव-तिरोभाव करते रहते हैं। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के तीनों रूपों की कल्पना की है। क्षर पुरुष अर्थात् भौतिक तत्व प्रकृति, अक्षर पुरुष (जब ब्रह्म में से थोड़ी मात्रा में आनन्दांशतिरोहित होता है) तथा जब पूर्ण मात्रा में आनन्द उपस्थित रहता है, तब वह परब्रह्म या पुरुषोत्तम कहलाता है। इस प्रकार भगवान में तीन अंश हैं, सत्, चित् और आनन्द। भगवान के सत् अंश से प्रकृति अथवा भौतिक पदार्थों का निर्माण होता है, इस समय चित् और आनन्द अंश छिपे रहते हैं। जीव सृष्टि के आविर्भाव के समय केवल आनन्द अंश लुप्त रहता है। इस प्रकार जीव और प्रकृति एक ही जीव के अंश हैं, अतः ईश्वर से वे विलग भी नहीं हैं।

---

१. वेदान्तसारः, 'भावबोधिनी,' व्याख्योपेतः, पृ० १३

२. पंडित बलदेव उपाध्याय, साभार उद्धृत, भारतीय दर्शन, पृ० ४८५

उपसंहार

'सुन्दर' शब्द प्रतिदिन के जन-जीवन में इतना अधिक प्रचलित है कि उस को कोई सर्वमान्य परिभाषा देना बहुत कठिन है। यही कारण है कि भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों के इस विषय में अनेक वर्ग बन गए हैं। कतिपय विचारक वस्तु के सम्मात्रा, संहति, सामंजस्य, सुडोलता, सुगठन आदि वाह्य आकृतिगत गुणों में ही सौन्दर्य मानते हैं। कुछ आत्मवादी विचारक सौन्दर्य को मानव-मन की वस्तु मानते हैं। उनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति व्यक्तिगत रुचि एवं परिस्थितियों पर निर्भर होती है। उन्होंने सौन्दर्य के आनन्दात्मक तत्त्व पर भी अनिवार्य रूप से विचार किया है। कुछ विचारक इन दोनों ही अतिवादी मतों के मध्य का मार्ग स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वस्तु की वाह्य-रूपाकृति द्वारा सौन्दर्यानुभुति होती है और सौन्दर्यानुभुति द्वारा आनन्दानुभुति।

सौन्दर्य-सन्दानों का आकलन ही कला है। समस्त कलाओं का उद्देश्य सौन्दर्यानुभुति कराना है। भारतीय दृष्टि ने कलाओं को साहित्य से इतर श्रेणी उपविधा के रूप में देखा है, परन्तु पश्चिम में साहित्य को भी कला माना गया है। वस्तुतः साहित्य का निर्माण भी 'सुन्दर' की अभिव्यक्ति द्वारा ही होता है। साहित्यकार इस प्रत्यक्ष जगत से जिन संवेदनाओं एवं अनुभूतियों को ग्रहण करता है, साहित्य में वह उन्हें अपनी कल्पना के सहयोग से मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है। उसके द्वारा निर्मित्त सौन्दर्य-मूर्तियां कल्पना-निर्मित होते हुए भी सहृदय के लिए सत्य है क्योंकि उनमें कलाकार के हृदय का उल्लास मिला रहता है। साहित्य का सत्य अनुभूत सत्य होता है। वह ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक सत्य के समान नितान्त तथ्यपूरक न होकर श्रेय एवं प्रेय से संयुक्त होता हैं। साहित्य जीवन की सच्ची अनुभूतियों का चित्र होता है। दया, माया, ममता, मधुरिमा, करूणा, प्रेम एवं सहानुभूति आदि मंगलविधायक तत्वों से साहित्यकार का हृदय उद्वेलित हो उठता है, फलतः वह उन्हें शब्दों के माध्यम से साहित्य में मूर्त रूप में प्रस्तुत कर देता है। ये मूर्तियां पाठक के हृदय में भी इन्हीं सात्विक अनुभूतियों को प्रबुद्ध कर देती है। अतः इस रूप में ये शिव स्वरूप हो जाती हैं। अतः साहित्य सुन्दर से प्रेरित्त होकर सुन्दर की ही अभिव्यक्ति है, जो सत्यं शिवं सुन्दरं स्वरूप होती है।

कलाकार की अभिव्यक्ति देश विशेष के समाज, सभ्यता एवं संस्कृति से बहुत प्रभावित होती है। यह नाना पारिवारिक सम्बन्धों के मध्य रहने वाला सामाजिक प्राणी होता है। सभ्यता किसी भी देश के बाह्य रहन-सहन का ढांचा एवं संस्कृति उसकी आत्मा होती है। साहित्यकार इन्हीं के परिवेश में अपनी सौन्दर्याभिव्यक्ति करता है। सभ्यता द्वारा उसकी मूर्तियों को रूप अथवा आकार एवं साज-सज्जा के उपकरण प्राप्त होते हैं तथा संस्कृति से उन्हें जीवन एवं कांति।

सुन्दरम् के अमर गायक महाकवि जयशंकर प्रसाद ने काशी के एक ऐसे वैभवपूर्ण परिवार में जन्म लिया था जिसमें लक्ष्मी एवं सरस्वती सहोदरा की भांति निवास करती थीं। बालक प्रसाद ने अपने एक ओर अतुल ऐश्वर्य के उपकरण बिखरे हुए देखे तो दूसरी ओर साहित्य-संगोष्ठियों एवं नियमित दान के कार्यक्रम। परन्तु शीघ्र ही परिवार पर दैवी प्रकोप हुआ एवं एक के बाद पारिवारिक सदस्यों का क्षय होता चला गया। स्वयं कवि के तीन विवाह हुए और सभी पत्नियां असमय ही उन्हें करुण वियोग-व्यथा में निमग्न छोड़ कर काल-कवलित हो गईं। इन्हीं परिस्थितियों के मध्य प्रसाद के बहुमुखी व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। सुन्दर स्वस्थ गौरवर्णी शरीर पर रेशम का कुर्ता व धोती, कन्धे पर रेशमी दुपट्टा और पैरों में चप्पल—यह था उनका बाह्य व्यक्तित्व। इस पर भी बड़े बड़े विशाल नेत्र एवं पान से रंगे हुए पतले अरुण अधरों पर खेलती रहने वाली स्नेहपूर्ण मुस्कान सबको अपनी आकर्षण की परिधि में बांध लेते थे।

उनके अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी एवं उर्दू साहित्य का अध्ययन किया था। वेद, उपनिषद एवं ब्राह्मण ग्रन्थ आदि का उन्होंने केवल मात्र गहन अध्ययन ही नहीं अपितु उनका चिन्तन एवं मनन भी किया था। इतिहास, सभ्यता एवं संस्कृति तथा साहित्य-शास्त्रों के गहन अध्ययन, मनन एवं विश्लेषण के पश्चात् उन्होंने मौलिक उपपत्तियां भी प्रस्तुत की हैं। इन्हीं परिस्थितियों के परिवेश में उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव उनके साहित्य में परिलक्षित होता है। वे एक बहुमुखी प्रतिभा वाले कलाकार हैं। उन्होंने साहित्य क्षेत्र की प्रत्येक विधा को अपनी लेखनी से सम्पन्न बनाया है। काव्य क्षेत्र में 'कामायनी' महाकाव्य एवं चित्राधार लहर, 'झरना' एवं कानन कुसुम उनके स्फुट काव्य-संग्रह हैं। विरह-काव्य के रूप में 'आंसू' विश्व का अप्रतिम काव्य है। नाट्य क्षेत्र को भी प्रसाद ने मौलिक रचनाएं प्रदान की हैं। वे शिल्प की दृष्टि से ही नवीन नहीं हैं अपितु उनमें इतिहास के गम्भीर तथ्यों का साक्ष्य के आधार पर विवेचन भी किया गया है। एक ओर उनके नाटक भारतीय शास्त्रीय दृष्टि से पूर्ण हैं दूसरी ओर पाश्चात्य सिद्धांतों का भी उनमें अपूर्व समन्वय है, इसी कारण उनका अन्त प्रसादान्त कहलाता है। उनमें मंगलाचरण, गर्भ-सन्धियों, अर्थ-कृतियों, रस, विदूषक आदि एवं संघर्ष का सामंजस्य है। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु,

राज्यश्री तथा ध्रुवस्वामिनी उनके ऐतिहासिक नाटक हैं और कामना तथा एक घूंट प्रतीकात्मक नाटक। इसके अतिरिक्त चित्राधार में संकलित अपनी दो लघु नाटिकाओं द्वारा उन्होंने चम्पू-काव्य-परम्परा में भी यथेष्ट योगदान दिया। 'आंधी' प्रतिध्वनि 'छाया' इन्द्रजाल एवं आकाशदीप उनके कहानी-संग्रह है और तितली कंकाल एवं इरावती उनकी औपन्यासिक रचनाएं। काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में उनके साहित्य से सम्बन्धित विवेचनात्मक निबन्ध संकलित हैं। इस प्रकार प्रसाद ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी देन से समृद्ध बनाया है। लगभग छत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही उनके असमय निर्वाण से हिन्दी-साहित्य को जो क्षति पहुंची है, उसकी पूर्ति सम्भव किसी प्रकार भी सम्भव नहीं दीखती।

प्रसाद जी सौन्दर्यवादी कलाकार हैं। उन्होंने भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य को कलाओं से भिन्न माना है। वे कलाओं को उपविद्या के अन्तर्गत मानते हुए छन्द-शास्त्र, पिंगल, समस्यापूर्ति एवं प्रहेलिकादि को कला में परिगणित करते हैं। साथ ही साहित्य के प्रसंग में सौन्दर्य की विवेचना को भी वे अनिवार्य मानते हैं। उनका कथन है कि 'ज्ञान और सौन्दर्य-बोध विश्व-व्यापि वस्तु है। इनके केन्द्र देश काल और परिस्थितियों से प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं।' 'संस्कृति सौन्दर्य बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।' इसलिए साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौन्दर्यानुभूति की खोज अप्रासंगिक नहीं, किन्तु आवश्यक है।'[1] इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने साहित्य को इस प्रकार परिभाषित किया है—'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है।'[2] इस प्रकार वे साहित्य को सत्यं शिवं सुन्दरं स्वरूप मानते हैं।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में वे मूर्त और अमूर्त का भेद नहीं मानते। वे आत्मा एवं रूप दोनों के सामंजस्य में सौन्दर्य की स्थिति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'मानव-सौन्दर्य-बोध के द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है।'[3] इसकी अनुभूति रूप एवं हृदय द्वारा होती है। उनका कथन है—"आंखों की प्रतिष्ठा रूप में है और रूप ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति, हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त और अमूर्त दोनों में रूपत्व का आरोप करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त और अमूर्त की सौन्दर्य-बोध-सम्बन्धी दो धारणाएं अधिक महत्त्व नहीं रखती। सीधी बात तो

---

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० २८, २९
२. वही, पृ० ३७
३. वही, पृ० ३४

यह है कि सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता।''[1] इस प्रकार प्रसाद ने अन्तःबाह्य के सामंजस्य में सौन्दर्य माना है।

प्रसादजी ने अपने अपने साहित्य में सौन्दर्य के अनेक विध रूप चित्रों की संयोजना की है। जिस समय उन्होंने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया, वहां द्विवेदीजी के कठोर अनुशासन के भय से कविगण सौन्दर्य और शृंगार के नाम से भी भयभीत थे। इससे पूर्व रीतिकाल में वह पंकिलता में निमग्न हो गया था। सर्व प्रथम प्रसाद ही स्वच्छन्द प्रवृत्ति लेकर इस क्षेत्र में अवतरित हुए। उन्हें सृष्टि के प्रत्येक कण में विश्वात्मा का सौन्दर्य बिखरा हुआ प्रतीत हुआ, फलतः उन्होंने उसके अनेक चित्र अपने साहित्य में अंकित किए हैं।

मानव ईश्वर की सुन्दरतम रचना है। प्रसादजी ने नारी, पुरुष एवं बाल सौन्दर्य के अन्तर्गत इसके अनेक रूप चित्र अंकित किए हैं। प्रसाद ने नारी—सौन्दर्य के आदर्श भारतीय संस्कृति के अनुरूप हैं। उसका बाह्य सौन्दर्य श्रद्धा के रूप में द्रष्टव्य है। इसके लिए उन्होंने प्रकृति के सात्विक उपमानों की नियोजना करके, उसके रूप को अलौकिक बना दिया है। वे रूप-यौवन और प्रेम के अद्वितीय कलाकार हैं। उनकी समस्त नारी-सृष्टियां यौवन का एक घूंट पीने को सत्सुक है। प्रायः उनके सबके जीवन में प्रेम का मुकुल विकसित हुआ है। जहां उसका बाह्य रूप सुन्दर है, वहां उसका अन्तःकरण भी दया, माया, ममता, वात्सल्य, मधुरिमा, सहनशीलता, करुणा एवं प्रेम आदि गुणों के सौन्दर्य से मण्डित है।

पुरुष को भारतीय संस्कृति में समाज का रक्षक एवं भरण-पोषण करने वाला माना गया है। प्रसाद के पुरुष का आदर्श वैदिक इन्द्र है। यदि एक ओर वह अवयव की दृढ़ मांसपेशियों से युक्त स्वस्थ शरीर वाला है तो दूसरी ओर दीन-हीन मनुष्यों एवं स्त्रियों का रक्षक, वीर, साहसी, त्यागी, देश-प्रेमी एवं कर्मठ है। इन उदात्त गुणों के अतिरिक्त उसके हृदय में भी प्रेम की अन्तःसलिला प्रवहमान है।

प्रसाद अनुभूति-प्रधान कवि हैं। उन्होंने प्रकृति में भी सर्वत्र एक चेतन सत्ता की अनुभूति की है। उन्होंने संस्कृत कवियों की भांति प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रों का अंकन अपेक्षाकृत कम किया है। प्रकृति का मानवीकरण करके उन्होंने साहित्य में उषा नागरी, रजनी नायिका, प्रभात, पर्वत, तारा, सरिता आदि के अनेक रमणीय चित्र अंकित किए। उनके चित्रों में नील, अरुण एवं पिंगल वर्णों की प्रधानता है और वे 'मधु-मंदिर' गंध से सुवासित हैं। इसके अतिरिक्त कवि ने उदात्त चित्रों की भी सुखद संयोजना की है। कहना न होगा कि उनमें भी उनकी रमणीय वृत्ति ही प्रधान है।

---

१. वही, पृ० ३५

वे मानव-निर्मित कलात्मक वस्तुओं के सौन्दर्य की ओर भी आकृष्ट हुए हैं। उन्होंने शिल्प का करुणा से आच्छादित सौन्दर्य का चित्रण किया है। उन्हे प्रकृति की रम्य वाटिका के मध्य सुन्दर कुटिया बहुत प्रिय है। कामायनी में उनकी भव्य नगर-रचना की कल्पना भी द्रष्टव्य है।

साहित्य सौन्दर्य की शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति है। प्रसादजी मधुर रमणीयता, प्रेम एवं सौन्दर्य के कवि हैं। इन्हीं के अनुरूप उनकी भाषा भी मधुर शब्दों से निर्मित हुई है। उसमें मधु, मदिर, मय आदि शब्दों का बाहुल्य हैं। उन्होंने आवश्यकतानुसार शब्दों को अपने ही रूप में ढाल कर उनका विन्यास इस प्रकार किया है कि उसके स्थान पर अन्य दूसरा पर्यायवाची अथवा दूसरी भाषा का शब्द प्रयुक्त कर देने से उसके अर्थ-गौरव में चमत्कार का अभाव सा परिलक्षित होता है। उनकी भाषा का प्रमुख ऐश्वर्य है उसकी सांकेतिकता एवं मूर्तिमत्ता। उन्होंने न केवल दृश्य वस्तुओं के ही मूर्त चित्र अंकित किए है अपितु लज्जादि मनोभावों को भी साक्षात रूप प्रदान किया है।

जहां कवि ने मनोभावों के अभिव्यक्तिकरण के लिए अभिधा शक्ति का प्रयोग किया है वहां उससे भाषा में सहजता एवं सुबोधता आ गई है। परन्तु सूक्ष्म एवं गुम्फित भावों के मूर्तिकरण के लिए भाषा की लक्षणा शक्ति की अधिक अपेक्षा है। प्रसाद ने मूर्तिकरण एवं मानवीकरण के लिए जिन लक्षणाओं का प्रयोग किया है, उनका अभूतपूर्व सौन्दर्य उनके सम्पूर्ण काव्य को एक दिव्य स्विप्निल स्वर्णावरण की भांति आच्छादित किए है।

कवि ने अलंकारों को भाषा की बाह्य सज्जा के रूप में ही न अपनाकर उन्हें भावानुभूति के सहायक के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने परम्परा से प्रचलित शब्द एवं अर्थालंकारो के अतिरिक्त पाश्चात्य अलंकारों को भी सहजता के साथ अपनाया है। रस एवं छन्द के क्षेत्र में तो उन्होंने अपनी मौलिक देन द्वारा क्रान्ति ला दी है। उन्होंने आलम्बन एवं मनोभावों का इतना अधिक एवं मूर्त चित्रण किया है कि उनसे ही पाठक को रसानुभूति हो जाती है। उन्हें शृंगार, करुण एवं वीर रस अधिक प्रिय है। उन्होंने परम्परा से प्रयुक्त मात्रिक वार्णिक तुकांत-अतुकांत छन्दों के अतिरिक्त दो या दो से अधिक छन्दों को मिलाकर आवश्यकतानुसार नवीन छन्दों का निर्माण कर लिया है। 'आनन्द' नामक नवीन छन्द, जो विरह काव्य के लिए सर्वथा उपयुक्त सिद्ध हुआ है, प्रसाद का स्वनिर्मित छन्द है।

प्रत्येक कलाकार अपने पूर्वकालिक एवं समकालीन साहित्य से अवश्य प्रभावित होता है। प्रसाद पर भी उनके पूर्ववर्ती एवं समकालीन साहित्यकारों का पर्याप्त प्रभाव है। इस दृष्टि से वे वैदिक साहित्य, संस्कृत कवि कालिदास एवं

भारवि तथा बंगला कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर से विशेष रूप से प्रभावित हैं। पाश्चात्य कवियों में बायरन, शैली एवं कीट्स का उन पर प्रभूत प्रभाव है। आधुनिक कवियों की प्रख्यात त्रयी में प्रसाद अग्रण्य हैं। यद्यपि तीनों का उसमें महत्वपूर्ण स्थान है। कारण तीनों ही कवियों ने सौन्दर्य को रीतिकालीन पंकिलता एवं द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता के घेरे से मुक्त कर उसे पवित्र सात्विक स्वरूप प्रदान किया। प्रसाद ने रमणीय एवं मधुर भावों के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये, पंत ने प्रकृति के प्रत्येक दृश्य में सौन्दर्य के दर्शन किए और निराला ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के सौन्दर्य का साक्षात्कार किया। किन्तु सौन्दर्य-दर्शन को प्रसाद ने ही सर्वप्रथम स्वच्छन्द एवं मौलिक दृष्टि प्रदान की। उनकी सौन्दर्य-सृष्टियां विश्व-साहित्य की अमूल्य निधियां हैं।

परिशिष्ट

ग्रन्थ सूची

(अ) आलोच्य ग्रन्थ

चित्राधार	जयशंकर प्रसाद
करुणालय	,,
कानन-कुसुम	,,
प्रेम पथिक	,,
महाराणा का महत्व	,,
आंसू	,,
झरना	,,
लहर	,,
कामायनी	,,
राज्यश्री	,,
विशाख	,,
अजातशत्रु	,,
कामना	,,
स्कन्दगुप्त	,,
ध्रुवस्वामिनी	,,
एक घूंट	,,
जनमेजय का नागयज्ञ	,,
चन्द्रगुप्त	,,
छाया	,,
प्रतिध्वनि	,,
आकाशदीप	,,
आंधी	,,
इन्द्रजाल	,,
कंकाल	,,
तितली	,,
इरावती	,,
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	

(आ) सहायक ग्रन्थ

(क) हिन्दी

अशोक के फूल	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
आधुनिक हिन्दी कविता में अलंकार विधान	
आधुनिक हिन्दी कविता, सिद्धान्त और समीक्षा	डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
अनामिका	सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला,"
अपरा	"
अरस्तू का काव्य शास्त्र	डा० नगेन्द्र
अध्ययन	डा० भागीरथ मिश्र
अध्ययन और आस्वाद	गुलाबराय
अनुसधान और आलोचना	नगेन्द्र
आधुनिक साहित्य	नन्द दुलारे वाजपेयी, भारती भण्डार लीडर प्रेस, प्रयाग, २००७ वि०
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां	डा० नगेन्द, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
कवि प्रसाद की काव्य साधना	श्री रामनाथ "सुमन," छात्र हितकारी पुस्तकालय प्रयाग, १९५७।
कवि और काव्य	शान्ति प्रिय द्विवेदी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग
कवि प्रसाद–आंसू तथा अन्य कृतियां	विनय मोहन शर्मा, शिवाजी प्रकाशन, लखनऊ, २००१
कला और संस्कृति	वासुदेव शरण अग्रवाल, साहित्य भवन लि०, १९५२ ई०
कामायनी अनुशीलन	रामलाल सिंह, इण्डियन प्रेस, प्रयाग २००२
कामायनी दर्शन	कन्हैयालाल सहल, विजयेन्द्र स्नातक, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५३।
कामायनी–सौन्दर्य	डा० फतह सिंह, सुमति सदन, कोटा, २०१० वि०।
कामायनी और प्रसाद की कविता-गंगा	शिव कुमार मिश्र, रवि प्रकाशन, कानपुर, १९५४।
कला और सौन्दर्य	रामकृष्ण "शिलीमुख"
काव्य में अभिव्यंजनावाद	लक्ष्मीनारायण सुधांशु
कल्पलता	हजारी प्रसाद द्विवेदी
काव्य में उदात्ततत्व	नगेन्द्र
काव्य-शास्त्र	हजारी प्रसाद द्विवेदी
कला और आधुनिक प्रवृत्तियां	रामचन्द्र शुक्ल
कला	हंसकुमार तिवारी
कला और साहित्य	आकाशवाणी, भारत सरकार, प्रकाशन
कुंकुम, कुछ बातें	बालकृष्ण शर्मा "नवीन"
गोदान	प्रेमचन्द
चयन	सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"
चिन्तामणि, भाग १	रामचन्द्र शुक्ल
चिन्तामणि, भाग २	रामचन्द्र शुक्ल
चोखे–चौपदे	अयोध्यासिंह उपाध्याय
छायावाद युग	डा० शम्भूनाथ सिंह

छायावाद का पतन	डा० देवराज
छन्द प्रभाकर	
जयशंकर प्रसाद	नन्द दुलारे वाजपेयी
जयशंकर प्रसाद वस्तु और कला	रामेश्वरलाल खण्डेलवाल
जयशंकर प्रसाद और आंसु	देवन्द्र शर्मा 'इन्द्र'
जायसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल
जीवन और कृतियां	प्रेमचन्द
नया साहित्य: नये प्रश्न	नन्द दुलारे वाजयेयी
डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निवन्ध	भारत भूषण अग्रवाल
पल्लव	सुमित्रा नन्दन पत
पथ प्रवन्ध	मैथली शरण गुप्त
पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा	डा० नगेन्द्र
पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त	लीलाधर गुप्त
पाश्चात्य काव्यशस्त्र के सिद्धान्त	शान्ति स्वरूप गुप्त
प्रसादजी की कला	गुलावराय
प्रसाद	(स) निर्मला तलवार
प्रसाद और कामायनी	सत्यनारायण दुवे शरतेन्दु
प्रसाद के उपन्यास और कहानियां	सुशीलादेवी
प्रसाद और उनका साहित्य	विनोद शंकर व्यास
प्रसाद का जीवन और साहित्य	डा० रामरतन भटनागर
प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व	(सं) महावीर अधिकारी
प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन	किशोरी लाल गुप्त
प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	अयोध्या सिंह उपाध्याय
प्रिय प्रवास	अयोध्यासिंह उपाध्याय
बोलचाल	"
भारत भारती	मैथली शरण गुप्त
भारतीय सांस्कृतिक इतिहास	हरिदत्त वेदालंकार
भारतीय संस्कृति का इतिहास	भटनागर एवं शुक्ला
भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका	फतहसिंह
भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय
भारतीय साहित्यशास्त्र	बलदेव उपाध्याय
भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा	डा० नगेन्द्र
मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना	डा० उषा पाण्डेय
मंझन का सौन्दर्य दर्शन	डा० ललता प्रसाद सक्सेना
वरदान	प्रेमचन्द
विद्यापति की काव्य प्रतिभा	डा० गोविन्दराम शर्मा
विद्यापति	डा० शिव प्रसाद सिंह
महाकवि कीट्स का काव्य लोक	यतेन्द्र कुमार
विचार और वितर्क	हजारी प्रसाद द्विवेदी
विचार और विवेचन	डा० नगेन्द्र

शिंजनी	दिनकर
साधना	रवीन्द्र नाथ टैगोर
साहित्य	रवीन्द्र नाथ टैगोर
साहित्य और सौन्दर्य	डा० फतहसिंह
साहित्यलोचन	श्यामसुन्दरदास
साहित्य, अनुभूति विवेचन	संसारचन्द्र
साहित्य का श्रेय और प्रेय	जैनेन्द्र
साहित्य का मर्म	हजारी प्रसाद द्विवेदी
साहित्य समीक्षांजलि	डा० सुधीन्द्र
साहित्य तथा साहित्यकार	डा० देवराज उपाध्याय
साहित्य चिन्तन	रामकुमार वर्मा
साहित्य का उत्कर्ष	डा० श्यामनारायण पाण्डेय
साहित्य लोचन	श्यामसुन्दर दास
साहित्य सिद्धान्त	रामअवध द्विवेदी
साहित्य-शास्त्र	रामकुमार वर्मा
साकेत	मैथलीशरण गुप्त
समीक्षा तत्व	डा० ओम प्रकाश शास्त्री
साहित्य	शंकर देव ग्रवतरे
साहित्य और कला	हरद्वारी लाल शर्मा
साहित्य समीक्षा	रामरतन भटनागर
साहित्य की मान्यताएं	भगवती चरण वर्मा
सूर-साहित्य	हजारी प्रसाद द्विवेदी
सौन्दर्य शास्त्र	डा० हरद्वारी लाल शर्मा
सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय
सौन्दर्यशास्त्र के तत्व	डा० कुमार विमल
साहित्य और अनुभूति	परमानन्द शर्मा
सौन्दर्य तत्व और काव्य सिद्धान्त	सुरेन्द्र बारलिंगे
सौन्दर्य विज्ञान	हरिवंश सिंह
हमारी सांस्कृतिक एकता	रामधारीसिंह "दिनकर"
हिन्दी साहित्य	हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य युग और धारा	कृष्ण नारायण प्रसाद मागध
हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी	नन्द दुलारे बाजपेयी
हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त	सुरेशचन्द्र गुप्त
हिन्दू	मैथलीशरण गुप्त
हिन्दी साहित्य	श्यामसुन्दरदास
हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास	डा० भगीरथ मिश्र
हिन्दी काव्य के युगान्तार	डा० सुधीन्द्र
हिन्दी नाटक उद्भव और विकास	डा० दशरथ ओझा
हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	वेदपाल खन्ना

(ख) संस्कृत

अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
वक्रोक्ति जीवित	कुन्तक
रसगंगाधर:	पण्डित राज जगन्नाथ
काव्यादर्श	दण्डी
नाट्यशास्त्र	भरत
काव्यालंकार	भामह
काव्यप्रकाश	मम्मट
औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
उज्ज्वल नीलमणि	रूप गोस्वामी
कुमार संभव	कालिदास
अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास
शिशुपाल वधम्	माघ
किरातार्जुनीयम्	भारवि
ऋग्वेद संहिता	वैदिक संशोधन मंडल, पूना
सौन्दर्य लहरी	शंकराचार्य
काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	डा० नगेन्द्र

ENGLISH

A History of Asethctics	Bornard Bosanquet, 1949
Kesthetics, Croce, Translated from Italian	Duglas Ainslie London 1953.
Indian Aesthetics	Ramaswami
An Anthology of critical	statements,
Dryden	Douglas grant,
Literary Crticism in Antiquity,	Vol 11, Atkins,
on the Art of Poetry	E. H. Blakeney
Meaning and truth in the Arts	John Hospers
Problem of Art	Sussane K. Langer
The Idia of Nature	R. G. Collignwood
Sadhana	Ravindra Nath
The sense of Beauty (1896)	Santyana
Santyana's Aesthetics,	Irving singar
Philosophics of Beauty	Carrit
Palgrave's Golden Treasury,	selection by Laurence Binyon

(ङ) पत्र-पत्रिकाएं एवं कोश

साहित्य परिचय, अक्टूबर, १९५७

आजकल, दिसम्बर, १९५५

ज्योत्सना, दिसम्बर १९६८

दार्शनिक त्रैमासिक, अंक ३ अक्टूबर १९६७

समालोचक, सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक

साहित्य संदेश, जनवरी १९६५

संस्कृत हिन्दी कोश-वामन शिवराज आप्टे

मानक हिन्दी कोश

संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर-नागरी प्रचारिणी सभा

साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द कोश-राजेन्द्र द्विवेदी

हिन्दी साहित्य कोश भाग १

डिक्शनरी आफ कोटेशन्स

स्टेन्लन्स बुक आफ कोटेशन्स-केसल्स

दी जनरल आफ अस्टे्टिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्य वाल्यूम २५ न० १, १९६६

प्रकृति को सबसे अधिक महत्त्व दिया है सांख्य एवं शैवदर्शन ने। सांख्य-दर्शन तो शुद्ध प्रकृति-दर्शन है। वह सृष्टि-रचना का आदि कारण प्रकृति को ही मानता है। प्रकृति स्वयं अपने आप में जड़ है, परन्तु निष्क्रिय नहीं है। पुरुष पूर्ण निर्विकार, निष्क्रिय है, परन्तु चैतन्य भी है। न तो जड़ प्रकृति ही स्वयं में समर्थ है और न ही निष्क्रिय होने के कारण पुरुष। यह प्रकृति त्रिगुणमयी (सत्व, रज, तम) है। त्रिगुणमयी प्रकृति स्वयं को पुरुष के योग्य बनाती है। वह भोग्या है, पुरुष भोक्ता। अपने संयोग द्वारा वे एक दूसरे की कमियों को पूर्ण करते हैं।

भारतीय दार्शनिकों के समान पाश्चात्य दर्शन शास्त्रियों ने भी प्रकृति पर पर्याप्त चिन्तन किया है। ग्रीक दार्शनिकता प्रकृति के चेतन आकारों (Bodies in motion) का समूह मानते हैं। उन्होंने भी अपने दृष्टिकोण विशेष से प्रकृति का अवलोकन किया है। उनका कहना है कि प्रकृति न केवल चेतन है, अपितु उसमें स्वयं उसका मस्तिष्क एवं बुद्धि भी है, जिसके कारण उसमें व्यवस्था एवं क्रमबद्धता है।

कुछ चिन्तकों का विचार है कि प्रकृति का संसार एक मशीन है। वह ऐसे आकारों की रचना एवं समूह है, जिन्हें किसी बाहरी मस्तिष्क ने किसी विशेष उद्देश्य के लिए संयोजित एवं व्यवस्थित किया है।[1] जहां ग्रीक लोग प्रकृति को स्वयं के मस्तिष्क से संचालित मानते हैं वहां वे प्रकृति से इतर किसी अन्य बुद्धि की कल्पना करते हैं, जो प्रकृति का संचालन करती है।

पश्चिम के आधुनिक विचारकों का अधिकांश चिन्तन प्रकृति के बाह्य अथवा भौतिक स्वरूप पर निर्भर है। वहां प्रकृति के प्रति विचारधारा का एक क्रमिक विकास हुआ है।

प्लेटो ने इस प्रत्यक्ष जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार दो प्रकार की सत्ताएं हैं—एक व्यावहारिक सत्ता एवं दूसरी वास्तविक सत्ता। जो जगत् हमारे ज्ञान का विषय है, वह परिवर्तनशील है। वह एकाकी रूप से नहीं रहता। वास्तविक सत्ता का एक आकार है और वह अपरिवर्तनीय है उनका कहना है कि भौतिक जगत् अनुभव जन्य है और प्रत्यय अथवा

---

१. "Instead of being on organism, the natural world is a machine, a machine in the literal and proper sense of the world, an arrangement of bodily parts designed and put toge.her and set going for a definite purpose by an intelligent mind outside itself."

R. G. Collingwood, The Idea of nature. Page 5

(Idea) प्रज्ञागम्य। व्यावहारिक जगत् से प्राप्त अनुभव जन्य ज्ञान प्रत्यय का ही अनुकरण है। भौतिक जगत् स्वयं सत्य न होकर उस विचारलोक का ही आभास है। उसकी कल्पना है कि सृष्टि के अष्टामूल में ईश्वर वर्तमान है और यही ईश्वर[1] प्रत्यय (Idea or Form) आकाश असत् से सत् की सृष्टि किया करता है। प्लेटो की कल्पना में जगत् एक महान् जीवित वस्तु है, जिसका शरीर तो दृश्य है, परन्तु आत्मा अदृश्य है। विचार स्वतः पूर्ण है, परन्तु उनके द्वारा उत्पन्न जगत् अपूर्ण है।"[2]

पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में अरस्तु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहां प्लेटो ने आकार को अधिक महत्त्व दिया है वहां अरस्तू ने आकार एवं द्रव्य को परस्पर सम्बद्ध बताया है। इनमें आकार मुख्य है और पदार्थ अथवा द्रव्य गौण। आकार ही वस्तु का पूर्ण रूप है। इस पूर्ण आकार को प्राप्त करने की ओर द्रव्य की प्रवृत्ति होती है। इसे स्पष्ट वरने के लिए कि द्रव्य में ही आकार समाहित है, पं० बलदेव उपाध्याय ने मूर्ति, मूर्तिकार और संगमरमर का उदाहरण दिया है कि मूर्ति में संगमरमर तो द्रव्य है और मूर्ति बनाने वाले के द्वारा किया गया रूप उसका आकार है। मनुष्य का शरीर द्रव्य है तथा पाचन, चिन्तन आदि प्रवृत्तियों का संघात आकार है।[3] उनका कहना है कि वस्तुओं या द्रव्य में विकास, संगठन और परिचालित होने की प्रवृत्ति होती है। यही विशेषता उन्हें प्रकृति में दृष्टि-गोचर होती है। जब भी वे किसी वस्तु को प्राकृतिक कहते हैं उस पर यह सिद्धान्त अनिवार्यतः लागू होता है।

इस प्रकार अरस्तू के लिए प्रकृति का संसार एक स्वयं परिचालित वस्तुओं का संसार है। यह एक जीवन्त सृष्टि है। उनकी धारणा है कि प्रवृति में क्रिया (Process) विकास (Growth) और परिवर्तन (Change) होता रहता है। इस निरन्तर परिवर्तन की क्रिया द्वारा वह उस पूर्ण स्थिति तक पहुंच जाती है, जहां वह द्रव्य न होकर केवल आकार ही आकार रह जाती है। यह ही ईश्वर का रूप है। अरस्तू के अनुसार प्रकृति (द्रव्य) और आकार (ईश्वर) दोनों ही सत्य है।

स्पिनोज़ा, न्यूटन, लिबनीज़ और लाक, इन दार्शनिक विचारकों का सामान्य मत है कि एक वस्तु द्रव्य (Matter) है और दूसरी बुद्धि (Mind) इन दोनों का उत्पत्ति स्थान एक ईश्वर है। यह ईश्वर एक साथ ही दो दिशाओं में कार्य करता है, एक ओर वह प्रकृति की रचना करता है दूसरी ओर मनुष्य की बुद्धि का निर्माण करता है।

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ६२१
२. पं० बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन पृ० ६२१
३. वही पृ० ६२३

स्पिनोज़ा के अनुसार केवल एक ही तत्त्व है। वह बुद्धितत्त्व और द्रव्य (Matter) को दो भिन्न तत्वों के रूप में स्वीकार नहीं करता। न तो भगवान ने बुद्धि तत्त्व को बनाया है और न ही द्रव्य को। बुद्धि और द्रव्य दोनों एक ही तत्त्व के दो गुण धर्म (Attributes) हैं। अतः वह प्रकृति और ईश्वर को एक ही मानता है। ईश्वर ही प्रकृति है और प्रकृति ही ईश्वर।

पश्चिम के विचारकों में कान्टका एक विशिष्ट स्थान है। उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में अपना नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसे विश्वातीतता (Trancendalism) नाम से अभिहित किया जाता है। उन्होंने बड़े ही विवेक पूर्ण ढंग से ज्ञान की मीमांसा की है। काण्ट ने बुद्धि अथवा मानसिक शक्तियों के विवेचन के लिए तीन ग्रन्थों की रचना की है—शुद्ध बुद्धि परीक्षा (Critique of Pure Reason) (२) कृत्य बुद्धि परीक्षा (Critique os Practica1 Reason) एवं निर्णय परीक्षा (Critique of Judgment)। काण्ट का सम्पूर्ण दर्शन इन तीनों ग्रन्थों में विवेचित ज्ञान एवं बुद्धि में ही समाहित हैं। यहां केवल प्रकृति के प्रति उसका दृष्टिकोण ही द्रष्टव्य है।

काण्ट ने प्रकृति को मनुष्य की बुद्धि द्वारा निर्मित माना है। परन्तु प्रकृति की रचना किसी व्यक्तिगत मस्तिष्क के द्वारा नहीं होती अपितु इसकी रचना किसी अनुभवातीत आत्मा (Trancendental Ego) द्वारा अथवा उस शुद्ध बुद्धि द्वारा हुई है, जो मानव मस्तिष्क मे व्याप्त है।

वह मानव ज्ञान की दो शक्तियां मानता है—इन्द्रिय शक्ति एवं बुद्धि। इन्द्रिय शक्ति नाना प्रकार के असम्बद्ध संवेदनों को एकत्रित करती रहती है और बुद्धि उन संवेदनों को आपस में संबंधित करके, उन्हें एक निश्चित आकार प्रदान करती है। अतः काण्ट उसी प्रकृति को प्रकृति नामक संज्ञा से अभिहित करता है, जिसे भौतिक शास्त्री प्रकृति कहता है। ईश्वर उसके लिए श्रद्धा का विषय है, वह बुद्धि द्वारा बोधगम्य नही है।

जिस रूप में प्रकृति हमारे सामने प्रकट होती है, वह तो केवल एक आभास मात्र (Phenomenon) है। वस्तुओं को जिस दृष्टिकोण से हम देखते हैं, वे उसी का आकार ग्रहण कर लेती है। बुद्धि द्वारा गम्य होने के कारण प्रकृति अनियन्त्रित नहीं है।

शैलिग के प्रकृति के प्रति कल्पना उदात्त है। उन्होंने प्रकृति को जीवित एवं चेतन माना है। जीवित एवं चेतन होने के कारण ही वह जीवित प्राणियों को जन्म देने में समर्थ है। "प्रकृति विचार की ही बाह्य अभिव्यक्ति है। प्रकृति में सर्वत्र सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। चेतन और प्रकृति सौन्दर्य तथा अभिरामता

से परिपूर्ण है। मन निरपेक्ष तत्त्व की उपलब्धि बुद्धि या क्रिया रूप से नहीं करता, बल्कि प्रकृति तथा कला में सौन्दर्य की भावना के रूप में ही करता है। कला, धर्म तथा दैवी स्फूर्ति एक ही वस्तु है और ये दर्शन से भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि तत्त्व ज्ञान ईश्वर की कल्पना करता है, कला तो साक्षात् ईश्वर है। ज्ञान भगवान का काल्पनिक सान्निध्य है, कला भगवान का वास्तव सान्निध्य है।[1]

दार्शनिक जगत् में शैलिंग ने प्रकृति को उन आध्यात्मवादी कल्पनाओं से मुक्त कर दिया, जो प्रकृति को केवल आभास मात्र मानती थीं। शैलिंग के अनुसार यह भौतिक जगत् सौन्दर्य से परिपूर्ण है। यही सौन्दर्य-भावना उसके स्वतः अस्तित्व का प्रमाण है। मन के समान ही प्रकृति भी उस ब्रह्म अथवा निरपेक्ष तत्त्व की अभिव्यक्ति है।

संक्षेप में प्रकृति पर भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने अपने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। भारतीय दार्शनिक प्रकृति की आध्यात्मिक सत्ता की ओर अधिक उन्मुख रहे हैं, वहा पश्चिम में विज्ञान की ओर अधिक झुकाव होने के कारण दार्शनिक प्रायः उसके भौतिक स्वरूप को भुला नहीं पाए हैं। वैज्ञानिकों का उनके सौन्दर्य से कोई तात्पर्य है ही नहीं। उन्होंने उसे तत्त्व विश्लेषणात्मक एवं परीक्षणात्मक आधारों पर परखा और परिणाम ग्रहण किये हैं। इस प्रकार प्रकृति दर्शन के क्षेत्र में तो जड़ और चेतन की गुत्थियों के बीच उलझ कर रह गई और विज्ञान के क्षेत्र में केवल तत्त्व मात्र रह गई।

साहित्यिक प्रकृति-सौन्दर्य

जहां दार्शनिक एवं वैज्ञानिक प्रकृति पर तर्क एवं विश्लेषण में ही लीन रहते है, वहां साहित्यकार प्रकृति को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। वह दार्शनिकों की भांति निरपेक्ष रह कर केवल बौद्धिक चिन्तन में ही लीन नहीं रहता, अपितु उसका प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और तब वह भाव की दृष्टि से उसका निरीक्षण करता है।

वस्तुतः कलाकार के लिए तो समस्त प्रकृति का एक एक कण एक सौन्दर्य से आलोकित रहता है। वह इस विश्व में व्याप्त सौन्दर्य के माध्यम से ही उस परम सुन्दरम् की प्राप्ति करता है। उसके लिए प्रकृति में कुछ भी जड़ या असत्य नहीं होता। प्रकृति के प्रत्येक दृश्य में उसे एक चेतना स्पन्दित हो रही प्रतीत होती है, जिसके कारण उसका सौन्दर्य एक विशेष रूप धारण करता है। विमल इन्द्र की विशाल किरणें उसी सुन्दरम् का प्रकाश दिखाती है। सागर उसी की दया का प्रसाद दिखाता है और तरंगमालाएं उसी की प्रशंसा का राग गाती हैं। कभी वह दक्षिण पवन बनकर कलियों से अठखेलियां करता है और कभी—अलि बन कर

१. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ६४१

मकरन्द की मीठी झड़ी-झेलता है। वह प्रकृति को सहचरी बना कर उसका नित्य नवीन शृंगार करके, उसके सौन्दर्य को निरखा करता है व प्रकृति के साथ क्रीड़ा करता है।

वस्तुत: प्रकृति-प्रांगण में उस सुन्दरम् का सौन्दर्य राशि-राशि बिखरा हुआ है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि उस पर समग्र रूप से नहीं पड़ती। हम उसे खण्डश: ही प्राप्त कर सकते हैं। बहुधा अनेक दृश्यों पर हमारी दृष्टि जाती है, किन्तु हमें उसमें कोई सौन्दर्य अथवा विशिष्टता प्रतीत नहीं होती। वहीं यदि किसी कलाकार की दृष्टि जाती है तो वह दृश्य सुन्दर बन जाता है। अनन्त काल से प्रकृति में ऋतु परिवर्तन होते आ रहे हैं। जन साधारण को उसमें कोई विशिष्टता दृष्टिगत नहीं होती किन्तु वही, 'ऋतु-परिवर्तन 'ऋतु-संहार' में प्रतिष्ठित होकर एक नवीन सौन्दर्य की सर्जना बन जाता है, कारण उसमें साहित्यकार के हृदय का उल्लास एवं अनुभूति का स्पर्श होता है। वह उसे केवल जड़ पदार्थ की दृष्टि से नहीं देखता, अपितु उसमें उसे अपनी आत्मा का स्पन्द सुनाई देता है। वह उसमें अपनी कल्पना एवं कलात्मक रुचि का समन्वय कर देता है। डा० शिव प्रसाद सिंह ने काण्ट का मत उद्धृत करते हुए साहित्यिक प्रकृति सौन्दर्य की विवेचना इस प्रकार की है। "कल्पना एक दूसरी प्रकृति का निर्माण करती है, उन्हीं तमाम साधनों से, जो उसे वास्तविक प्रकृति द्वारा प्राप्त होते हैं। अपनी रुचि और समझ के मुताबिक कवि भावों के नाना रूपों की सहायता और कल्पना के उन्मुक्त प्रयोग के आधार पर एक ऐसी पूर्ण वस्तु का निर्माण करता है जिसके समान्तर कोई दूसरी वस्तु प्रकृति में उपलब्ध नहीं हो सकती।"[1] यही साहित्य में वर्णित सौन्दर्य और प्रकृति में बिखरे हुए सौन्दर्य में अन्तर हो जाता है।

प्रसिद्ध सौन्दर्य शास्त्री क्रोचे, लियोपार्डी एवं सन्त्याना आदि का तो विचार है कि प्रकृति स्वयं में सुन्दर है ही नहीं। प्रकृति का सौन्दर्य हमारी कलात्मक दृष्टि का परिणाम है। प्रकृति को लेकर किसी विशेष दृष्टि के बिना किसि भी प्रकार की सौन्दर्य-कल्पना नहीं की जा सकती। क्रोचे का कहना है "प्रकृति उसी व्यक्ति के लिए सुन्दर है जो एक कलाकार की दृष्टि से उसका अवलोकन करता है। यही कारण है कि उद्‌भिजशास्त्री और वनस्पति शास्त्री पुष्पों और पशुओं में सौन्दर्य का दर्शन नहीं करते।"[2] लियोपार्डी का विचार है कि प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में सौन्दर्य यत्र तत्र बिखरा हुआ, अपूर्ण, अस्पष्ट एवं परिवर्तनशील है। इसे प्राप्त

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, विद्यापति, पृ० १६५
२. "That nature is beautiful only for him who contemplates her with eye of the artist; that zoologists and botanists do not recognize beautiful animals and flowers."

Croce, Aesthetics Page, 99.

करने के लिए चयन एवं कलात्मक दृष्टि की अपेक्षा है।[1] सन्त्याना का कथन है कि वस्तुतः हमारे सामने प्रकृति होती है, उस समय उसका सारा विस्तार सौन्दर्य के रूप में नहीं रहता। प्रत्येक दृश्य को सौन्दर्य की रूप रेखा में बांधने के लिए चयन करना पड़ता है। प्रकृति स्वयं में सुन्दर नहीं है, वरन् हम प्रकृति के व्यापक विस्तार से चयन करके, उसके विभिन्न संयोगों से सौन्दर्य का चित्र पूरा करते हैं।[2]

इस प्रकार कलाकार प्रकृति में यत्र-तत्र बिखरे हुए सौन्दर्य में से अपनी रुचि एवं स्तर के अनुरूप चयन करता है। तत्पश्चात् उसे अपनी कल्पना द्वारा सजाता है। उसमें अपने राग एवं भाव के प्राण डालकर एक ऐसे सजीव एवं पूर्ण सौन्दर्य की सर्जना करता है, जो साहित्येतर प्रकृति में अलभ्य होता है। "प्रकृति स्वतः एक कला है। साहित्य ससीम और असीम के बीच की कड़ी है। कवि अपनी सीमित शक्ति से प्रकृति के खण्डशः प्रस्तुत चित्रों के माध्यम से अखण्ड-सत्ता की अभिव्यक्ति करता है।" कवि प्रकृति की सारी सम्पदा को अपना साधन बना कर सार्वभौम अदृश्य सत्ता को व्यक्त करता है।[3]

प्रकृति सौन्दर्य की विशेषतायें

साहित्येतर प्रकृति-सौन्दर्य की विशेषताएं

प्रकृति में व्याप्त अनन्त सौन्दर्य अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है। कहीं रंग-बिरंगे सतरंगी डम्बरों का अद्‌भुत इन्द्रजाल दृष्टि को मोहपाश में बांध लेता है तो कहीं पंचम स्वर में कूकती हुई कोयल का मधुर स्वर कर्ण-कुहरों को भर देता है। गुलाब, चम्पा, बेला, जूही, चमेली आदि पुष्पों से उड़ता हुआ सौरभ नासिका को तृप्त कर देता है। पर्वत की विशाल चोटियां और उसकी गहन गुफाएं एवं उपत्यकाएं विशालता एवं भव्यता का बोध कराती है, तो चीता, सिंह, हाथी, सर्प आदि भय का संचार करते हैं।

अतः साहित्य से इतर प्रकृति हमारे सम्मुख एक जड़ रूप में उपस्थित होती है। हम उसके सौन्दर्य को देखकर आतंकित अथवा अत्यन्त हर्षित हो उठते हैं। अतः प्रकृति भय, रोमांच एवं आनन्द प्रदान करने वाली है।

साहित्य से इतर प्रकृति की सबसे बड़ी विशेषता है, उसका प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय-संवेद्य होना। यह प्रकृति हमारे सम्मुख एक माया अथवा कुमुक के रूप में नहीं आती अपितु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, हम इस सौन्दर्य का प्रत्यक्ष उपभोग भी कर सकते हैं।

---

१. The same, Page, 99.
२. Santyana, the sense of beauty, Page, 133 (1896)
३. शिव प्रसाद सिंह, विद्यापति, पृ० १३६

साहित्यिक प्रकृति-सौन्दर्य की विशेषताएं

जहां साहित्येतर प्रकृति-सौन्दर्य प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय-संवेद्य होता है, वहां साहित्यिक प्रकृति-सौन्दर्य अप्रत्यक्ष एवं हृदय-संवेद्य होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य में जिस प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण होता है, वह नितान्त असत्य होता है। वास्तव में कवि अथवा साहित्यकार की अनुभूतियां प्रकृति के सम्पर्क में आकर सजग हो उठती हैं। उन्हें वह प्रकृति से ही उदाहरण प्राप्त करके रूप प्रदान करता है। रवीन्द्रनाथ ने इस सत्य को उद्घटित करते हुए कहा है 'प्रकृति में जो कुछ दीखता है वह मेरे निकट प्रत्यक्ष है, मेरी इन्द्रियां उसका साक्ष्य देती हैं। साहित्य में जो दीखता है, वह प्राकृतिक होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं है। सुतरां साहित्य में उसी प्रत्यक्षता का अभाव पूरा करना होता है।'[1]

साहित्य में प्रकृति का सौन्दर्य निरपेक्ष रूप से चित्रित नहीं किया जाता। साहित्य में प्रकृति मानव-जीवन से निरपेक्ष नहीं रह सकती। प्राकृतिक चित्रण का उद्देश्य ही रस-निष्पत्ति में सहायक होना है। वह रस-निष्पत्ति में तब ही सहायक हो सकता है, जब वह मानव जीवन से एकाकार हो जाता है। रवीन्द्रनाथ ने सूर्यास्त के उदाहरण द्वारा इसका बड़ा अच्छा विवेचन किया है। उन्होंने कहा है—'सूर्यास्त को तीन तरह के भाव से देखा जाय। विज्ञान का सूर्यास्त, चित्र का सूर्यास्त एवं साहित्य का सूर्यास्त। विज्ञान का सूर्यास्त होता है—प्रतिदिन के सूर्यास्त की घटना, चित्र का सूर्यास्त होता है—केवल सूर्य का अन्तरध्यान मात्र नहीं, जल-स्थल, आकाश, बादलों के साथ मिलकर सूर्यास्त को देखना, साहित्य का सूर्यास्त होता है, उस जल, स्थल आकाश, मेघ के मध्यवर्ती सूर्यास्त को मनुष्य के जीवन के ऊपर प्रतिफलित करके देखना—केवल मात्र सूर्यास्त का फोटो खींचना मात्र नहीं। अपने मर्म के सौन्दर्य के साथ उसे मिला कर प्रकट करना।'[2] यही साहित्यिक प्रकृति-सौन्दर्य है। प्रकृति का जड़ सौन्दर्य जन जीवन के साथ समन्वित होकर चेतन की परिधि में आ जाता है तभी वह साहित्य में प्रतिष्ठित होता है।

साहित्यकार जड़ प्रकृति में से ऐसे दृश्यों का चयन एवं संयोजन करता है, जो रमणीय एवं मनोहर होते हैं। प्रकृति के भयानक एवं वीभत्स दृश्यों की ओर उसकी दृष्टि प्रायः नहीं जाती। आदि कवि से लेकर अद्यतन (कतिपय प्रयोगवादी अपवादों को छोड़कर) साहित्य की यही प्रवृति रही है। यदि कहीं भयावह अथवा वीभत्स प्रकृति का चित्रण हुआ भी है तो वह प्रकृति के रमणीय स्वरूप को अपेक्षाकृत और अधिक उजागर करने के लिए ही हुआ है। साहित्यकार खण्डशः

---

१. रवीन्द्रनाथ, साहित्य, पृ० २१

२ वही. पृ० ३०

बिखरे हुए प्रकृति चित्रों को, जिनसे खण्डशः ही अनुभूति प्राप्त होती है, एक स्थान पर एकत्रित करके उन्हें वह रमणीय स्वरूप प्रदान करता है, जो हमें उस परम रमणीय की अनुभूति प्रदान करता है।

साहित्यकार प्रकृति के वाह्य सौन्दर्य पर मुग्ध होकर केवल उसका चित्रांकन ही नहीं करता वरन् उसकी सौन्दर्यान्वेषी दृष्टि प्रकृति की आत्मा में अन्तर्निहत सौन्दर्य के भोलिकों को भी खोज लाती है। उसमें उसे मानव के उच्चस्तरीय गुणों के दर्शन होते हैं। कहीं वह मधुर मधुर फल-फूल एवं धान्यादि द्वारा मातृवत्सलता, ममता, परोपकार, आदि का संकेत देती प्रतीत होती है और कहीं वह उदार, क्षमाशीलता, सेवाशीलता, मानव के हितचिन्तन में लीन प्रकट होती है। इस प्रकार कलाकार उसकी आत्मा तक में झांक आता है। यही सौन्दर्य सहृदय के निकट अधिक सत्य है।

प्रकृति सौन्दर्य के विविध रूप

साहित्येत्तर प्रकृति-सौन्दर्य के विविध रूप—प्रकृति प्रांगण में उस अनन्त सौन्दर्य ने अपने अनेक रूप धारण कर रखे हैं। समय समय पर वह अपना वेश परिवर्तित करती रहती है। शीत ऋतु में वह हिम के झिलमिलाते हुए आभूषण धारण करती है। स्वच्छ सरोवरों में नवीन कमल खिल उठते हैं। वसन्त ऋतु में वह पुराने जीर्ण वस्त्रों को उतार कर रंग-बिरंगी पीली चुनरिया ओढ़ लेती है। पिक, भ्रमर और चातक के स्वरों में नित नवीन संगीत की रचना करती है। ग्रीष्म-ऋतु आते-आते वह पूर्ण रूपेण थक जाती है। गर्म गर्म लू के थपेड़े पशु-पक्षी, पेड़-पौधों सभी को झुलस कर रख देते हैं। तीव्र ताप को सहन करते-करते वह वर्षा ऋतु की जल-फुहारों से एक नवीन चेतना ग्रहण करती है। पुनः फिर से वातावरण संगीत-मय हो जाता है वह मोर के साथ नृत्य करती है, नृत्य के साथ झरनों का कल कल निनादमय संगीत चलता है। वह रंग बिरंगे डम्बरों एवं इन्द्रधनुष के वस्त्राभूषण धारण करती है। फिर से गीत, लय एवं परिवर्तन का अनन्त क्रम चलता रहता है।

यह-अनन्त रूप प्रकृति स्वयं के सौन्दर्य में स्वयं ही लीन रहती है। यह स्वयं न तो किसी को आनन्दित करती है और न ही शोकतप्त। प्रकृति का एक ही रूप किसी को हर्ष एवं उल्लास से परिपूर्ण प्रतीत होता है, दूसरे को कष्ट एवं वेदना देने वाला। आकाश में छाए हुये श्यामवर्णी घन किसी को प्रिय-आगमन की सूचना देते हैं और वह प्रेम मग्न हो उठता है, वे ही घन वियोगिनी की वियोग पीड़ा को और अधिक उद्दीप्त कर उसे व्याकुल बना देते है। इस प्रकार प्रकृति का एक एक रूप अपने में अनेकों गुण छिपाए हुए है।

प्रकृति का समग्र सौन्दर्य सर्वत्र एक ही रूप में नहीं रहता। कहीं वह अपार वनस्थली में नाना रंग बिरंगे लता, पुष्प, पादपों से सम्पन्न रहता है, कहीं विस्तीर्ण

रेगिस्तान में विरल झाड़ी वाले वृक्षों का सौन्दर्य अपने आप में निराला होता है। एक ओर ऊंची ऊंची पर्वतावली अपनी क्रोड़ में सिंह, मृग, आदि भयानक, हिंस्र तथा मनोरम जन्तुओं को छिपाए हुए दूर तक चली जाती है तो दूसरी ओर मैदानी क्षेत्र में प्रवाहित होने वाली कल-कल नादिनी नदियों का सौन्दर्य भी विलक्षण है। कहने का तात्पर्य है कि प्रकृति का रूप स्थान स्थान पर परिवर्तित हो जाता है।

हमारे सम्मुख प्रकृति सौन्दर्य का एक और व्यावहारिक रूप प्रकट होता है। वह है उसका उपयोग मूलक रूप। प्रकृति हमें इसलिए सुन्दर लगती है कि क्षुधा-तृप्ति के लिए वह हमें नाना धान्य एवं मधुर रसीले फल प्रदान करती है। नदियों के मधुर शीतल जल द्वारा तृषा की तृप्ति करती है। उसके पर्वतों के गर्भ में से प्राप्त नाना खनिज एवं मणिमुक्तियों द्वारा हमारी सम्पन्नता में वृद्धि होती है। बड़े बड़े विशाल वृक्ष हमें अपनी शीतल घनी छाया प्रदान कर श्रम एवं आतप को हर लेते हैं।

साहित्यक प्रकृति सौन्दर्य के विविध रूप

साहित्य का उद्देश्य है ससीम में ही असीम की अनुभूति करा देना। इसके लिये कलाकार प्रकृति में यत्र तत्र बिखरे हुए खण्डश: सौन्दर्य को एक स्थान पर एकत्रित करके एक समग्र सौन्दर्य की रचना करता है। वह प्रकृति के माध्यम से ही उस परम् सुन्दरम् की खोज करता है। अत: प्रकृति उसकी रचना का अनिवार्य उपकरण एवं माध्यम है। किन्तु जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि वह चित्रकार की भांति प्रकृति का यथा तथ्य अंकन नहीं करता अपितु वह प्रकृति के सौन्दर्य को जीवन-सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में रख कर ही चित्रित करता है।

साहित्य में प्रकृति-सौन्दर्य का कोई उपयोगिता से सम्बन्ध नहीं होता। वहां फल प्रदान करने वाले वृक्ष इसलिए सुन्दर नहीं है कि उनसे हमारी क्षुधा-तृप्ति होती है अपितु वे परोपकार एवं उदारशीलता आदि मानव-गुणों द्वारा हमारे हृदय की सद्वृत्तियों को अपने में लीन करके, उनके विकास में सहयोग देते हैं-इसलिए सुन्दर हैं।

वास्तव में प्रकृति निरीक्षण में प्रत्येक कलाकार का निजी दृष्टिकोण होता है, जो उसकी संवेदनात्मक अनुभूतियों एवं कल्पनात्मक मानसिक स्थितियों पर निर्भर रहता है, कोई प्रकृति के बाह्य रूप पर ही मुग्ध होकर उसे नितान्त जड़ रूप में स्वीकार करता है तो कोई उसे मानवीय जीवन के समानान्तर चेतन रूप में चित्रित करता है। 'यदि किसी ने चित्रकार की तरह प्रकृति के केवल वस्तु पक्ष-दृश्यात्मक रूप का चित्रण किया है तो दूसरा एकयोगी की तरह अन्तमुख होकर उसके भावात्मक पक्ष में बैठता है।'[1]

---

१. संसारचन्द्र, साहित्य, अनुभूति, विवेचन, पृ० १३२

इस प्रकार साहित्य में प्रकृति सौन्दर्य प्रधानतः प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दो रूपों में चित्रित किया जाता है।

इनके अतिरिक्त काव्य में प्रकृति-चित्रण की एक परम्परा चली आ रही है। इस परम्परामुक्त परिपाटी का प्रभाव साहित्यकार पर आवश्यक रूप से पड़ता है। यथा रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का चित्रण अधिकांशतः परम्परा-पालन हेतु ही किया है। कहीं कहीं तो उन्होंने वस्तुपरिगणना करके ही प्रकृति-वर्णन की इतिश्री करदी है।

प्रकृति के प्रस्तुत रूप के अन्तर्गत कलाकार किसी दृश्य विशेष पर मुग्ध होकर उसका स्वतन्त्र रूप चित्रण करता है। वस्तुतः प्रकृति के किसी दृश्य की छाप उसके मानस पर इतनी गहरी पड़ जाती है कि वह उसे उसके समस्त रंग रूपों सहित चित्रित किए बिना नहीं रह सकता। आदि कवि वाल्मिकी, कविकुल गुरु कालिदास, कोमल कल्पना के कवि पंत, वर्ड्सवर्थ. शैली आदि कवियों के काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य का स्वतन्त्र रूप से चित्रण प्रभूत मात्रा में हुआ है। इसके अन्तर्गत साहित्यकार अपनी रुचि विशेष एवं वर्णभावना के अनुसार विभिन्न ऋतु एवं प्रकृति के सुन्दर दृश्यों का अंकन करते हैं।

प्रसाद और प्रकृति

छायावादी अभिव्यंजना में प्रकृति का एक विशिष्ट स्थान है। प्रकृति उनकी अभिव्यंजना का एक सशक्त माध्यम है। इसी काल में कवियों की दृष्टि का निपात प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सौन्दर्य पर हुआ। उन्होंने प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य को पहचानकर उसमें एक चेतन सत्ता के दर्शन किए हैं। इससे पूर्व रीतिकाल में प्रकृति-नायक नायिकाओं की क्रीड़ास्थली एवं उनका संकेत-स्थल मात्र बनी हुई थी। चाहे शरद् ऋतु की शीतल चांदनी हो या ग्रीष्म का तपता मध्यान्ह, प्रकृति का रमणीय रूप हो अथवा भयानक, प्रत्येक रूप उनकी विरहाग्नि के लिए उद्दीपन का ही कार्य करता था।

छायावाद में शृंगारिकता तो है, पर उसमें शृंगारकालीन वासनात्मक अभिव्यक्ति नहीं के बराबर है। प्रकृति के कोमल रूपों के साथ कठोर रूपों का भी यहां सफलता पूर्वक अंकन हुआ है। नारी और प्रकृति के सौन्दर्य और प्रेम के चित्रों को देखने के पश्चात ऐसा निष्कर्ष दिया जाएगा कि छायावाद में जीवन और प्रकृति का स्वतन्त्र और सजीव, मांसल और पुष्ट चित्रण हुआ है।[1] द्विवेदी युग में उनके अनुशासन में आबद्ध प्रकृति भी इतिवृत्तात्मकता के निश्चल-निश्चेष्ठ घेरे में स्थिर हो गई। क्रांतिकाल में प्रकृति की ओर चैतन्य दृष्टि सर्व प्रथम प्रसाद की ही गई।

१. कृष्णनारायण प्रसाद मागध, हिन्दी साहित्य, युग और धारा, पृ० ४४८

साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि—उन्होंने ही सर्वप्रथम उदय होती हुई ताराओं और खिलती हुई कलियों का सौन्दर्य देखा और पहचाना, कारण यही है कि वे स्वयं हिन्दी काव्याकाश के उदय होते हुए नक्षत्र और खिलते हुए पुष्प थे। महाराणा प्रताप और अहल्या बाई के नामों में ही सब कुछ नहीं है, इस विराट् विश्व में उनके बाहर भी कुछ है, यह बात हिन्दी में प्रसाद जी ने सबसे पहले हमें समझाने को दी।'[1]

आरम्भ से अन्त तक उनके सम्पूर्ण साहित्य की प्रगति प्रकृति के मनोरम रमणीय परिवेश में हुई है। उपाध्यायजी ने भी प्रकृति में सौन्दर्य को सर्वप्रथम लक्षित करने का श्रेय प्रसाद को ही दिया है। 'प्रकृति में सौन्दर्य और सत्य देखने की छायावादी प्रवृत्ति सर्वप्रथम सैद्धान्तिक आधार के साथ प्रसादजी में ही दिखाई पड़ती है।'[2] फिर भी वे प्रकृतिवादी नहीं हैं। इसका कारण सम्भवतः यही है कि उन्हें पंत के समान प्रकृति का निकट सहचर्य प्राप्त नहीं हो सका था। बाल्यकाल में की गई अमर कण्टक एवं महोदधि आदि की यात्राओं के मध्य देखे गए प्रकृति के मनोहर रमणीय रूपों की एक गहरी छाप बालक प्रसाद के मन पर अंकित हो गई थी। उसी अनुभूति के सहारे कवि ने अपने साहित्य का इतना बड़ा महल खड़ा कर दिया जिसमें प्रकृति के अनेक रमणीय उद्यान बने हुए हैं।

यह भी अवलोकनीय है कि कवि की दृष्टि प्रकृति के प्रत्येक दृश्य में लीन नहीं हुई है। उनका साहित्योद्यान प्रकृति के चयन किए हुए रमणीय दृश्यों से ही सुसज्जित है। पुनः वे गहन अनुभूति के कवि हैं। प्रकृति उनके साहित्य में अनुभूतियों को मूर्त रूप प्रदान करने वाला मधुमय उपकरण है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि उन्हें प्रकृति से प्रेम नहीं था। प्रकृति के प्रति साहित्य में बिखरे हुए उनके उद्गारों को देखते हुए उनका गहन प्रकृति प्रेम छिपा नहीं रहता। उन्होंने प्रकृति में उस अनक्षित सत्य के सौन्दर्य के दर्शन किए है साथ ही प्रकृति के अनेक रमणीय रूपों का भी स्वतन्त्र रूप से चित्रण किया है।

प्रसाद और साहित्येतर प्रकृति-सौन्दर्य

प्रसादजी सेवागमों के आनन्दवाद से प्रमुख प्रभावित हैं, जिसके अनुसार यह समस्त सृष्टि आनन्द और सुन्दर की अभिव्यक्ति है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि

---

१. नन्द दुलारे वाजपेयी, जयशंकर प्रसाद, पृ० ६७

२. डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, आधुनिक हिन्दी कविता, सिद्धान्त और समीक्षा, पृ० १७६

प्रकृति-सौन्दर्य ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत समूह, अथवा उस बड़े 'शिल्पकार' के शिल्प का एक छोटा सा नमूना है।"[1]

प्रकृति-सौन्दर्य को देखकर उनका मन आह्लाद एवं आश्चर्य से भर गया। उन्होंने प्रकृति को 'अद्भुत रस की जन्मदात्री', 'अद्भुत दृश्य', 'अद्भुत छटा', 'अद्भुत रचना', 'आश्चर्य', 'अद्भुत बनाव', 'अद्भुत स्थिति', विचित्र प्रभाव आदि कह कर सम्बोधित किया है। इसी आश्चर्यमय जिज्ञासा के विकास के साथ उन्होंने प्रकृति में विश्वात्मा की झलक देखी है। इस दृष्टि से जहां भारतीय दार्शनिकों ने प्रकृति को जड़ माना है वहां कवि ने (सभी छायावादी कवियों ने) उसमें एक चेतन रमणीय सत्ता के दर्शन किए है।[2]

विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण ही प्रकृति उनके लिए विशेष अनुराग का विषय बन गई है। विश्वदेव, सविता या पूषा, सोम, मरुत, पवन, वरुण आदि सब प्रकृति के ही शक्ति चिन्ह हैं। ये प्रकृति के एक भ्रूभंग से व्याकुल रहते हैं। प्रकृति द्वारा ही इनका संचालन होता है। इस शक्तिशाली प्रकृति को संवारने वाला कोई विराट् कलाकार है। वह विराट् प्रकृति में रंग भरने के लिए नित्य हेम घोलता है।[3] यह नर्तन में निरत प्रकृति गल-गल कर उस कान्ति सिंधु में घुल घुल कर अपना सुन्दर स्वरूप धारण करती है। इस प्रकार भीषणतर भी कमनीय बन उठता है।[4] वह विराट् कांति-सिन्धु प्रकृति का नित्य नूतन रूप बना कर देखता है। प्रकृति उन्हें देखती रहती है और दोनों युगल मिलकर क्रीड़ा करते हैं।[5] सौन्दर्य लहरी के अनुसार उन्होंने उसे शंकर का शरीर (शरीरत्वं सम्भो) कहा है।[6]

प्रकृति के अनन्त अनुपम सौन्दर्य की ओर संकेत करते हुए कवि ने उसे विश्व सुन्दरी से अभिहित किया है।[7] यह विस्तृत भू-खण्ड प्रकृति के अतुल वैभव से भरा हुआ है।[8] नीले नभ में भी उसी की शोभा का विस्तार है।[9] उन्हें सृष्टि में सभी कुछ अभिराम दृष्टिगोचर होता है—

---

१. चित्राधार, पृ० १२५
२. कामायनी, पृ० २५
३. कामायनी, पृ० २४
४. कामायनी, पृ० २५४
५. कानन कुसुम, महाक्रीड़ा, पृ० ११
६. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५९
७. वही, पृ० ५९
८. कामायनी, पृ० ५६
९. झरना, पृ० २८

नदी की विस्तृत बेला शान्त
अरुण मंडल का स्वर्ण विलास,
निशा का नीरव चन्द्र विनोद
कुसुम का हंसते विकास।
एक से एक मनोहर दृश्य
प्रकृति की क्रीड़ा के सब छन्द,
सृष्टि में सब कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास।[1]

इस अनन्त विस्तृत प्रकृति-सौन्दर्य के रूप का पूर्ण वर्णन करने के लिए मनुष्य की योग्यता और बुद्धि हो ही नहीं सकती।[2] कवि ने प्रकृति को 'परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन'[3] बताया है। विश्व का समस्त वैभव प्रकृति के मनोरम दृश्य के सम्मुख तुच्छ है—

लतिका घूंघट से चितवन की
वह कुसुम दुग्ध की मधु धारा,
प्लावित करती मन अजिर रही
था तुच्छ विश्व विभव सारा।[4]

महाकवि ने प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों को सूक्ष्मता से परिलक्षित किया है। प्रकृति परिवर्तन उन्हें नदी की तरह यवनिका परिवर्तन के समान प्रतीत होता है।[5] प्रकृति के यौवन का शृंगार कभी भी बासी पुष्प नहीं कर सकते। वह तो अपना नित्य नवीन शृंगार करती है। उसने परिवर्तन की ही टेक लगा रखी है[6]—

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक
नित्य नूतनता का आनन्द
किए है परिवर्तन में टेक।[7]

१. झरना, पृ० २८
२. चित्राधार, पृ० १२६
३. कामायनी, पृ० १७१
४. कामायनी, पृ० ६४
५. चित्राधार, पृ० १३१
६. कामायनी, पृ० ५५
७. कामायनी, पृ० ५५

इस प्रतिक्षण चंचला, परिवर्तनशीला,[१] प्रकृति को कवि ने दुर्जय माना है।[२] किन्तु आज मानव ने इस अपराजित शक्ति को विजित कर लिया है और वह उसके पदतल में विश्रान्त है।[३] इस विजय से कवि प्रसन्न नहीं है। क्योंकि प्रकृति-शक्ति मानव की जीवनी-शक्ति है।[४] यह प्रकृति सुन्दर एवं परम उदार है। इस उदार-रमणीय सौन्दर्य के दर्शन स्वार्थ में लीन चक्षुओं द्वारा नहीं किए जा सकते। इस सौन्दर्य रस का पूर्ण आस्वादन करने के लिए भावुक एवं प्रशान्त हृदय की आवश्यकता है—

बना लो अपना हृदय प्रशान्त
तनिक तब देखो वह सौन्दर्य
चन्द्रिका सा उज्ज्वल आलोक
मल्लिका सा मोहन मृदु हास।[५]

स्वार्थ में लिप्त मानव के पास व्यापक—पवित्र सौन्दर्य को देखने के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है, इससे कवि को बहुत क्षोभ होता है—

तुम तो अविरत चले जा रहे हो कहीं
तुम्हें सुधर ये दृश्य दिखाते ही नहीं
शरद् शर्वरी शिशिर प्रभंजन वेग में
चलना है अविराम तुम्हें उद्वेग में।[६]

मनु द्वारा उन्होंने मानव के पुनः प्रकृति की ओर लौट जाने की कामना की है। वे श्रद्धा से मुक्त नील-नभ के नीचे किसी गुहा में ले चलने के लिए अनुरोध करते हैं।[७]

प्रसादजी ने प्रकृति सौन्दर्य की अन्य अनेक विशेषताओं का परिचय दिया है। उनका विचार है कि प्रकृति में पाप से मुक्त करने की एवं मुक्ति का रहस्य

---

१. अजातशत्रु,
२. कामायनी, पृ० ७
३. वही, पृ० ९
४ कामायनी, संघर्ष, पृ० २०७
५. झरना, पृ० ५२
६. कानन कुसुम, पृ० १३
७. कामायनी, निर्वेद, पृ० २२७

प्रतिभासित करने की शक्ति है।[1] सुन्दर वस्तु से हृदय की जड़ता दूर होती जाती है, वैसे-वैसे ही सौन्दर्यानुभूति बढ़ती है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रसादजी ने इस बात को पूर्णरूपेण हृदयंगम किया है। प्रकृति में हृदय को विकसित करने की स्वाभाविक शक्ति है।[2] प्रकृति शान्त है, उसमें कुछ भी भय नहीं है।[3] प्रकृति के सुप्रांगण में मधु क्रीड़ा कूटस्थ, विश्व गृहस्थ को कवि ने नमस्कार किया है।[4]

प्रकृति में हृदय का अनन्त विकास होता है।[5]

इस प्रकार प्रसाद ने प्रकृति के अनन्त रूपों में विश्वात्मा के दर्शन किए हैं। वे ही पहले कवि हैं, जिन्होंने छायावादी दृष्टिकोण के अनुसार सिद्धान्त रूप में प्रकृति में चेतना की अनुभूति की है। उनकी आस्तिकता का सहारा पाकर प्रकृति-प्रेम और भी गहन हो गया। विराट् सृष्टि में प्रकृति और मानव दोनों ही उस कान्ति पुंज के आलोक से आलोकित है। अतः उनके साहित्य में प्रकृति मानव-जीवन के साथ तरल होकर प्रस्तुत हुई है। वे प्रकृति को ईश्वर की अद्भुत रचना जानकर उसकी अर्चना करते हैं। भारतीय दर्शन की जड़ प्रकृति को कवि ने आत्मतत्व को प्रकाशित करने वाली, मानव में उदात्त वृत्तियों को जन्म देने वाली बताया है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने उनके प्रकृति विषयक दृष्टिकोण को समझाते हुए लिखा है कि 'ब्रह्मानन्द सहोदर रस प्रकृति के उपादानों से ही बना है—उनका बहिष्कार करके किन्हीं अलौकिक उपादानों द्वारा नहीं। दार्शनिक क्षेत्र में यही उपपति इस प्रकार ग्रहण की जाएगी कि आनन्द की सत्ता को प्रकृति वाह्य मानने की आवश्यकता नहीं है, प्रकृति का आनन्द स्वरूप में स्वीकार ही वास्तव में अद्वैत है।....इसी प्रकार अद्वैत और द्वैत के सम्बन्ध की प्रसादजी की दार्शनिक उद्भावना प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं वरन् उसमें पर्यवसान अद्वैत है और द्वैत आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकल्प है।[6]

प्रसाद और साहित्यिक प्रकृति सौन्दर्य

महाकवि प्रसाद का साहित्य प्रकृति की रमणीय क्रोड़ में पल्लवित प्रष्पित हुआ है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। चित्राधार एवं कानन कुसुम की अधिकांश रचनाओं का विषय प्रकृति एवं प्रेम ही है। "कामायनी का आरम्भ प्रकृति के

१. कंकाल, पृ० २३६
२. कानन कुसुम, पृ० १६
३. वही पृ० ४०
४. वही, पृ० ९३
५. चन्दा कहानी
६. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, भूमिका, पृ० ११, १६

अंक में होता है और उसकी समाप्ति भी प्रकृति की ही भूमिका में होती है।"[1] उनकी आरम्भिक कहानियों का भी आरम्भ प्रकृति की भूमिका में ही हुआ है। उनके नाटक एवं उपन्यासों में भी प्रकृति की छटा बिखरी हुई है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में प्रकृति के उपकरणों का यथेष्ट प्रयोग किया है।

उनके साहित्य में प्रकृति-सौन्दर्य अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। उन्होंन न केवल प्रकृति के विभिन्न सुन्दर दृश्यों की रचना की है अपितु उन्होंने प्रत्येक ऋतु से चयन किए दृश्यों से साहित्य के केनवास को सजाया है। इन दृश्यों की विशेषता है—उनका रमणीय पक्ष। प्रकृति के व्यापक स्वरूप अथवा उसकी विस्तृत चैतन्य गति का रमणीय पक्ष ही कवि के सृजन का आधार रहा है। प्रकृति का भयानक स्वरूप उन्हें प्रिय नहीं है। फिर भी उन्होंने उसकी उपेक्षा नहीं की है। वे यह मानते हैं कि प्रकृति की भयानकता का भी एक रमणीय पक्ष होता है। उन्होंने प्रकृति के भीषण स्वरूप को भी इतने रमणीय एवं मनोरम रूप में प्रस्तुत किया है कि उससे हृदय में भय की भावना के स्थान पर प्रेम ही उत्पन्न होता है।[2] इस प्रकार उनके साहित्य में रमणीय, मधुर, मधु-मंदिर दृश्यों की ही बहुलता है।[3]

जीवन्त प्रकृति

प्रसाद के साहित्य में प्रकृति जीवन की श्वासों से स्पन्दित हो रही है। 'प्रसाद में हम पहली बार मानव-हृदय और प्रकृति को अनेक परिस्थितियों में एकाकार होते पाते हैं।'[4] उन्होंने एक ओर मानव जीवन की गहन अनुभूति की है, वहां दूसरी ओर प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। उन्हें प्रकृति के नियमित व्यापारों में मानवीय भावनाओं की छाया स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुई है। उनके साहित्य में प्रकृति समस्त मानवीय क्रियाओं में लीन शृंगारिक रूप में प्रस्तुत हुई है। उषा, संध्या, रात्रि, तारा, पर्वत आदि सभी प्राकृतिक उपकरण मानवीय जीवन से एकाकार किए हुए हैं।

मनोवृत्तियों का एकीकरण

महाकवि ने साहित्य में प्रकृति को मानवी रूप में ही प्रस्तुत नही किया है, अपितु उसने मनोवृत्तियों को भी प्रकृति में समाहित कर दिया है।[5] कभी वधु की

---

१. सत्यनारायण दूबे, 'शरतेन्दु,' प्रसाद और कामायनी, पृ० ८२
२. कामायनी, चिन्तासर्ग, पृ० २१, २२
३. रामरतन भटनागर, कामायनी, पृ० २
४. रामरतन भटनागर, कामायनी, पृ० २
५. कानन कुसुम, प्रथम प्रभात, पृ० १५

तरह वह मान करके ऐंठ जाती है और कभी करुणा प्लावित हो अश्रुपात करने लगती है। उनके साहित्य में प्रकृति दया, करुणा, सहानुभूति आदि सद्वृत्तियों से युक्त होकर मानव को मंगल का संदेश दे रही है।

परम्परागत रूप

साहित्य में परम्परा से कविगण अनेक प्रकार से प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण करते आ रहे हैं। यथा आलम्बन, उद्दीपन, संवेदनात्मक रूप में, वातावरण निर्माण हेतु, आलंकारिक, रहस्यात्मक प्रतीकात्मक एवं लोक शिक्षा के रूप में। वस्तुतः प्रसाद ने परम्परागत रीतियों के अनुसार प्रकृति-सौन्दर्य को अपनाया अवश्य है, किन्तु केवल परम्परा निर्वाह का आग्रह उनमें कहीं भी परिलक्षित नहीं होता। केशव, बिहारी, एवं जायसी आदि कवियों की भांति केवल नाम परिगणन शैली उन्हें कभी भी प्रिय नहीं रही। महाकवि हरिऔध एवं मैथिलीशरण गुप्त भी इस दृष्टि से परम्परा निर्वाह सा करते प्रतीत होते हैं। उन्हें तो आत्मा का सौन्दर्य प्रिय है। प्रकृति के जिस भी रूप पर उनका दृष्टि निपात हुआ है, उसका उन्होंने स्फुट रूप में उसके रूप-रंग द्वारा भौतिक चित्रण ही नही किया है, अपितु उसकी आन्तरिक प्रभाव व्यंजनाओं का वर्णन अधिक किया है यथा कुमुदनी के सौन्दर्य का चित्रण किया है तो रात्रि में उसके खिलौने का, चांदनी की चर्चा है तो उसकी शीतलता, सात्विकता एवं विलास कामना का संकेत करना भी प्रसाद नहीं भूले हैं।

प्रकृति का बाह्य सौन्दर्य

आदिकाल से कवि-हृदय प्रकृति-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे आत्मसात कर उसके साहित्य में अनेक चित्र अंकित करता आ रहा है। कभी तो प्रकृति के सुन्दर दृश्यों की उसके मानस पर इतनी गहरी छाप अंकित हो जाती है कि वह उसका यथा तथ्य उन्हीं रंगों में चित्रण कर देता हैं। कभी वही दृश्य उसकी अनुभूतियों के रंग में रंग कर विभिन्न सुन्दर स्वरूप धारण कर लेता है।

स्वतन्त्र रूप सौन्दर्य

प्रथम प्रकार को हम प्रकृति के स्वतन्त्र रूप-चित्रण के अन्तर्गत रख सकते हैं। प्रकृति सौन्दर्यांकन की इस परम्परा के दर्शन वाल्मीकि, कालिदास एवं भवभूति आदि संस्कृत कवियों के काव्य में अधिक होते है। नितान्त स्वतन्त्र-रूप-चित्रण के क्षेत्र में प्रसाद जी अधिक सफल नही रहे हैं। उन्होंने आवश्यकतानुसार ही अपनी कहानियों के आरम्भ में अथवा मध्य में इस प्रकार का चित्रण किया

है।[1] काव्य साहित्य में भी कतिपय सुन्दर दृश्यों की योजना हुई है। कुछ चित्र दर्शनीय है—

एक वसन्त की दोपहर का चित्रण

"वसन्त का प्रारम्भ था। पत्ते देखते ही देखते ऐंठ जाते थे और पतझड़ के बीहड़ समीर से वे झड़कर गिरते थे। दोपहर था। कभी-कभी बीच में कोई पक्षी वृक्षों की शाखों में छिपा हुआ बोल उठता। फिर निस्तब्धता छा जाती। दिवस विरस हो चले थे।[2]

यह शान्त रात्रि का दृश्य

"चैत्र कृष्णाष्टमी का चन्द्रमा अपना उज्जवल प्रकाश 'चन्द्रप्रभा' के निर्मल जल पर डाल रहा है। गिरि श्रेणी के तरूवर अपने रंग को छोड़कर धवलित हो रहे हैं, कल-नादिनी समीर के संग धीरे-धीरे वह रही है।"[3]

उपर्युक्त दोनों ही चित्रों में दृश्य की पूर्णता परिलक्षणीय है। वसन्त की शान्त दोपहरी को बीच में कोयल की कूक द्वारा भंग दिखाकर लेखक ने चित्र में जीवन जाग्रत कर दिया है। इसी प्रकार रात्रि के चित्रण मे कवि ने सात्विकता एवं पवित्रता का रंग भर कर उसके विशिष्ट प्रभाव की संयोजना की है। प्रकृति का प्रायः शान्त दृश्य ही उन्हें अधिक प्रिय है।

प्रसाद की करुणा के रंगों के स्पर्श से निर्मित शनैः शनैः अस्त होती हुई संध्या का प्रस्तुत चित्र भी कितना सुन्दर बन गया है—

"यह छोटा सा सरोवर भी क्या सुन्दर है, सुहावने आम और जामुन के वृक्ष चारों ओर इसे घेरे हुए हैं। दूर से देखने में यहां केवल एक बड़ा सा वृक्षों का झुरमुट दिखाई देता है, पर इसका स्वच्छ जल अपने सौन्दर्य को ऊंचे ढ़हों में छिपाये हुए है। कठोर हृदया धरणी के वक्षस्थल में यह छोटा सा करुणा-कुण्ड, बड़ी सावधानी से, प्रकृति ने छिपा रखा है।

संध्या हो चली है। विहंग कुल कोमल कलरव करते हुए अपने अपने नीड़ की ओर लौटने लगे हैं। अन्धकार अपना आगमन सूचित कराता हुआ वृक्षों की ऊंची टहनियों के कोमल किसलयों को धुंधले रंग का बना रहा है। पर सूर्य की

---

१. तानसेन, चन्दा, शरणागत, अमिट स्मृति आदि

२. कंकाल, पृ० ४१

३. छाया, पृ० १९

अन्तिम किरणें अभी अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहती हैं। वे हवा के झोंकों से हटाई जाने पर भी अन्धकार के अधिकार का विरोध करती हुई सूर्यदेव की उंगलियों की तरह हिल रही है।''[1]

शरद् ऋतु के स्वच्छ आलोकमय प्रातःकाल की सुषमा का विशद चित्रण कवि ने खंजन[2] नामक कविता में किया है। उषाकालीन गगन में विचरण करते हुए एक दो शुभ्र जलधरों का अनिल के निर्देश से लुप्त हो जाना, पुष्प परिमल का प्रसार, हंस की क्रीड़ा, मल्लिका का महकना, अलीअवली का मधुर-मधु से छकना, चारों ओर कली-कली का गन्ध बिखेर देना आदि उपकरणों के द्वारा कवि ने प्रातःकाल का बहुत ही मनोरम, गतिमय, विलासपूर्ण चित्र खींचा है जो, प्रसाद की ही विशेषता है।

शान्त, ऐश्वर्य एवं विलासपूर्ण कदाचित करुणा से भीगी हुई कोरों वाली प्रकृति का स्वर्णिम स्वरूप कवि कलाकार को बहुत प्रिय है।

इसी प्रकार रजनी गंधा[3] नामक कविता में रजनीगंधा एवं रात्रि का बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है।

सच्चे कलाकार की प्रवृत्ति होती है कि वह दो विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित कर देता है। वह प्रत्येक पक्ष में सौन्दर्य खोज लेता है अथवा सुन्दर को अधिक सुन्दर दिखाने के लिए असुन्दर का चित्रण भी कर देता है। प्रसाद ने भी जहां कोमल-करुण रमणीय प्रकृति का सौन्दर्य अंकित किया है, वहां उसकी भीषण भयानकता का भी चित्रण किया है। इस दृष्टि से कामायनी के चिन्ता सर्ग की प्रकृति दर्शनीय है—

दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकंपन
झंझा के चलते झटके।[4]
पंचभूत का भैरव मिश्रण,
शंपाओं का शकल-निपात,[5]

---

१. छाया, पृ० १९
२. कानन कुसुम, पृ० ६६
३. वही पृ० ३३, ३४
४. कामायनी, पृ० २१
५. कामायनी, पृ० २२

उधर गरजती सिंधु लहरियां
कुटिम काल के जालों सी,
चली आ रही फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों सी।[1]
करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलना था सबका,
पंचभूत का यह तांडवमय
नृत्य हो रहा था कब का।[2]

इस प्रकार के दृश्य चित्रण के अतिरिक्त प्रसाद को प्रकृति के कुछ विशेष रूप अधिक प्रिय है। उन्हें उषा, संध्या एवं रजनी के सौन्दर्य ने बहुत आकर्षित किया है। उन्होंने इनके मानवी रूप में अनेक राग-रंजित शृंगार से परिपूर्ण चित्र अंकित किए हैं।

उषा

प्रकृति के उपादानों में प्रसादजी को उषा सर्वाधिक प्रिय है। उनके काव्य में इसके अनेक भव्य चित्र सुसज्जित हैं। कवि ने उसके सौन्दर्य के दर्शन केवल प्रातःकालीन मनोहर लालिमा के रूप में ही नहीं किये हैं, वरन् उसका मानवीकरण करके उसे सचेतन सुन्दर नारी के रूप में चित्रित किया है। नानारूपों में सज्जित सुन्दरी उषा की कतिपय मनोरम रमणीय भंगिमाओं की झलकियां अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं।

गगन-मण्डल में उषा की मादक विलास की अनुभूति करते हुए कवि उसे मुग्धा नायिका के रूप में चित्रित करता है। पावस प्रभात की मधुवेला में कभी वह घूंघट उठाकर झांक लेती है। कभी अरुण अपांगों से देखकर कुछ हंस पड़ती है।[3] इतनी भावभंगिमाओं सहित संश्लिष्ट सौन्दर्य प्रसाद के चित्रों की विशेषता है।

वही मुग्धा नायिका जब अवसर पनघट में जल भरने जाती है तो उसका पनिहारिन स्वरूप और भी अधिक स्पृहणीय बन जाता है। खगकुल का कल-कल

१. कामायनी, पृ० २२
२. वही, पृ० २३
३. घूंघट खोल उषा ने झांका और फिर
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हंस पड़ी
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी,
झरना, (पावस प्रभात), पृ० ११

संगीत गूंज रहा है, उसके साथ उषा नागरी ताराओं के घट अम्बर पनघट में डुबोती है। जल भरते समय उसका किसलय का अंचल डोल उठता है।[1] उषा के प्रस्तुत चित्र में सजीवता के साथ साथ उसकी ऐन्द्रीयता भी दर्शनीय है। प्रभात-कालीन प्रकाश, ध्वनि-स्पन्दन एवं सरसता से परिपूर्ण उषा का मादक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है।

इस रतिश्रान्ता नायिका की मादकता भी कम मदहोश कर देने वाली नहीं है। साथ ही रात्रि पर्यन्त मधुवन में अभिसार रत रहने वाली उषा का शिथिल एवं परिश्रान्त रूप द्रष्टव्य है—

कहा दिगन्त से मलय पवन
प्राची की लाज भरी चितवन
है रात घूम आई मधुवन
यह आलस की अंगराई है।[2]

आंखों में मादकता भरी ललाई लिये हुए यह भैरवी अलख जगाने को आई है।[3] कवि ने उषा की मादक ललाई और भैरवी का अद्भुत सादृश्य विधान किया है। इस प्रकार का विचित्र मादक सादृश्यविधान प्रसाद के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं दुर्लभ ही है।

इस प्रकार एक छोटे से शब्द-चित्र में प्रसाद ने अपनी अलौकिक चित्रण क्षमता से तीन दृश्यों की परियोजना कर दी है। जिनमें एक ही साथ मद, लज्जा एवं क्रीड़ा का सामंजस्य विधान हुआ है। इस प्रकार कवि ने अपने साहित्य में उषा के अनेक मधुर मादक चित्रों की संयोजना की है। इन चित्रों में प्रकाश, ध्वनि एवं रंग का सामंजस्य इतना मधुर हुआ है कि वह वातावरण की विलक्षणता को साक्षात चित्रित करने के साथ साथ विभिन्न ऐन्द्रिय संवेदनाओं से भी सम्पन्न हो गया है।

प्रभात

उषा के विलीन होने के साथ साथ शनैः शनैः प्रभात का आगमन होता है। वातावरण और अधिक सजग एवं व्यस्त हो जाता है। कवि ने उषा के समान ही प्रभात के भी अनेक संश्लिष्ट चित्रों की संयोजना की है।

---

१. लहर, पृ० १९
२. लहर, पृ० २०
३. वही, पृ० २०

कवि द्वारा रचित तीन दृश्यों वाला 'एक प्रभात' का दृश्य दर्शनीय है, जो मानवीकरण के पश्चात् भी अपने वास्तविक स्वरूप में सबसे अधिक प्रस्तुत है।[1]

प्रथम दृश्य में करुणामयी उषा अश्रुओं के रूप में चमकते हिमकणों को बटोरती है। दूसरा दृश्य प्रातःकालीन मन्द मन्द समीर के प्रवाहित होने का है। उस मनोरम वातावरण में ताराएं मुंद रही हैं, किरणों का आलोक फूट रहा है। तीसरा दृश्य प्रातःकालीन मधुर कोलाहल से परिपूर्ण वातावरण का है। महाकवि ने छोटी सी कविता में संलिष्ट होते हुए भी इतने प्रस्तुत चित्रों की संयोजना करके गागर में सागर भर दिया है।

प्रसाद यौवन, विलास एवं ऐश्वर्य के कवि हैं। यहां कवि को प्रभात भी मध पीकर विलास करता हुआ प्रतीत होता है। मद्यपि और जुआरी के रूप में प्रभात का यह ऐश्वर्यशाली चित्र अवलोकनीय है—

उषा का आलोक प्राचीर में फैल रहा था।

उपवन में चहल-पहल थी। जूही की प्यालियों में मकरन्द मदिरा पीकर मधुपों की टोलियां लड़खड़ा रही थीं, और दक्षिण पवन मोलसिरि के फूलों की कोड़ियां फेंक रहा था। कमर से झुकी हुई अलबेली वेलियां नाच रही थीं।[2]

प्राकृतिक दृश्यों के अन्तर्गत कवि को उषा, एवं प्रभात सर्वाधिक प्रिय हैं। उनके साहित्य में इनके स्फुट एवं पूर्ण अनेक संशिलष्ट चित्र प्राप्त होते हैं। मादकता, विलासिता एवं ऐश्वर्यशाली मधुरता इन चित्रों की विशेषता है।

संध्या

रागारुण रवि जब अस्ताचलगामी होता है, तो मधुर संध्या का आगमन होता है। कवि उषाकालीन लालिमा के साथ संध्याकालीन अरुणिमा की-ओर भी आकर्षित हुआ है। कवि ने संध्या सुन्दरी को भी मधुर मानवीय सौंदर्य प्रदान किया है।

कभी तो घनमाला सी सुन्दर संध्या रंग-विरंगी (सूर्य की किरणों की) छींट पहन कर अपना अलौकिक सौन्दर्य दिखाती है,[3] कभी वह जलज का अरुण केसर

---

१. लहर, पृ० २४
२. कंकाल, पृष्ठ ४१
३. संध्या घनमाला सी सुन्दर
   ओढ़े रंग-विरंगी छींट,
   कामायनी, पृष्ठ ३८

लेकर उससे अपना मन बहलाता है। ... लीन सौंदर्य का चित्रण कवि ने अत्यन्त सूक्ष्मता से किया है। संध्या-सुन्दरी का यह चेतन एवं गतिशील सौन्दर्य दर्शनीय है—

"संध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहां पाती।
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मंडराती।"[1]

प्रस्तुत चित्र में मादक विलास एवं ऐश्वर्य के साथ करुणा का सामञ्जस्य करके प्रसाद ने एक नवीन सौन्दर्य की सर्जना की है।

रात्रि

संध्या के पश्चात् शनैः शनैः कालिमा बढ़ती जाती है और अपनी अन्धकारमयी क्रोड़ में शशि एवं असंख्य तारकदलों के सौन्दर्य को समेटे हुए रजनी का आगमन होता है। उषा के पश्चात् कवि ने रजनी के बहुत अधिक चित्र अंकित किये हैं। रजनी के लिये कवि ने नवीनतम उपमानों की संयोजना कर उसके सौन्दर्य के विविध रूपों को चित्रित किया है।

विश्वकमल की मृदुल मधुकरी रजनी का यह मधुर रूप दर्शनीय है—

विश्वकमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से
आती चूम चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से[2]

रात्रि के निस्तब्ध वातावरण को भी कवि ने अपनी अनुभूति का स्पर्श प्रदान करके सौन्दर्य सम्पन्न बना दिया है।

किस दिगन्त रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी सी सांस
या समीर मिस हांफ रही सी
चली जा रही किस के पास।[3]

---

1. वही, पृष्ठ १७५
2. कामायनी, पृष्ठ ३७
3. वही. पृ० ३९

कवि की अल्हड़ रजनी नायिका का चित्र तो बहुत ही मादक है। वह यौवन की मतवाली, बावली, बेसुध सी मणिराजि बिखेरती हुई चली जा रही है। उसका यह चित्र दृष्टव्य है—

घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन में किसी भूल सी,
किसको स्मृति पथ में लाती ?,
रजत कुसुम के नव पराग सी
उड़ा न दे तू इतनी धूल;
इस ज्योत्सना की, अरी बावली,
तू इसमें जावेगी भूल ।
पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल ।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली ,
देख, अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली भाली ।[1]

'कोमल कुसुमों की मधुर रात' की मधुर छवि की शोभा अद्वितीय है जिसमें शशि-शतदल का सुख विकास है। सुगन्धित श्वासों से मलयवात चल रहा है। परिमल घूँघट से ढकी हुई लाज भरी कलियां कंप कंप, चुप-चुप बात कर रही हैं। वह नक्षत्र कुसुमों की माला धारण किए हुए अलस हंसी का जाल बिखरा रही है। कितने लघु-लघु अधीर कुड्मल बिखर रहे हैं, जिनके शीतल स्पर्श से विश्व का गीत पुलकित हो रहा है।[2]

'कोमल कुसुमों की रात' की मधुर छवि की शोभा अद्वितीय है जिसमें शशि-शतदल का सुख विकास है। सुगन्धित श्वासों से मलयवात चल रहा है। परिमल

१. कामायनी, पृ० ३९
२. वही, पृ० ४७, ४८

घूँघट से ढकी हुई लाज भरी कलियां कंप-कंप, चुप-चुप बात कर रही हैं। वह नक्षत्र कुसुमों की माला धारण किए हुए अलग हंसी का जाल बिखरा रही है। कितने लघु-लघु अधीर कड़मल बिखर रहे हैं, जिनके शीतल स्पर्श से विश्व का गात पुलकित हो रहा है।[1]

'होली की रात' में प्रसादजी ने होली के उपादानों की नियोजना करके रजनी का अभिनव शृंगार किया है। उसमें ताराओं के पुष्प बरसते हैं, सौरभ की गुलाल उड़ती है, चांदनी घुल कर अत्यन्त स्वच्छ रूप धारण कर लेती है, सितारी छिड़कता है, कमलिनी जाल की सेज बिछती है और पुष्पासव पिये हुये मनमाने (फगुआ) गीत गाते हुए अविराम मधुपों के झुण्ड निर्भय होकर कुमुदों पर बरबस विश्राम करते हैं।

इस प्रकार प्रसादजी ने रजनी के मादक शृंगारिक एवं मधुर चित्रों की संयोजना अपने साहित्य में की है।

शशि-रजनी के उपकरणों में चन्द्रमा का बहुत महत्व है—

भारतीय साहित्य में चन्द्रमा ने मानो सौन्दर्य सभी मानों को एक साथ समाहित कर लिया है। सभी भाषाओं के कवियों ने चन्द्रमा के सौन्दर्य का चित्रण किया है। उसे सौन्दर्य के उपमान के रूप में ग्रहण किया है। स्वयं प्रसादजी ने उसे प्रिय-दर्शन के रूप में सुन्दर माना है। प्रभातकालीन क्षीण कांति विवर्ण चन्द्र उन्हें विशेष रूप से आकर्षित करता है। उसका वर्णन उन्होंने मधु-चपक के रूप में किया है। तारागणों की मद्यप मण्डली और चन्द्रचपक का रूप द्रष्टव्य है—

क्लान्त तारागण की मद्यप मण्डली
नेत्र निमीलन करती है फिर खोलती
रिक्त चपक सा चन्द्र लुढ़क कर है गिरा
रजनी के आपानक का अब अन्त है।

प्रस्तुत चित्र में कवि पर उर्दू के शायरों एवं आंग्ल कवि शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है।

इसी प्रकार महाचपक के रूप में शशि का यह रूप भी दर्शनीय है—

---

१. लहर, पृ० २५

इन्द्रनीलमणि महाचषक था
सोम रहित उल्टा लटका,
आज पवन मृदु सांस ले रहा
जैसे बीत गया खटका, ।[1]

तारा

अनन्त चमकते हुए ताराओं के मध्य ही शशि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है। प्रायः कवियों ने रजनी के सौन्दर्य के उपकरण के रूप में ही इनका वर्णन किया है। किन्तु प्रसाद ने रजनी के श्यामल आवरण पर चमकते हुए तारा को भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करके, उसे अलौकिक सौन्दर्य अभिषिक्त किया है। केवल एक तारे का इतना व्यापक सौन्दर्य-चित्रण कवि की सूक्ष्म निरीक्षिका दृष्टि का परिचायक है। सृष्टि के लघुतम पदार्थ में भी महान् सौन्दर्य के दर्शन करना समर्थ भावुक कवियों की ही विशेषता है। तारा का यह अलौकिक एवं सात्विक सौन्दर्य अवलोकनार्थ प्रस्तुत है।

तम के सुन्दरतम रहस्य है
कान्ति किरण रंजित तारा।
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल
बिन्दु, भरे नव रस तारा।[2]

किरण

प्राची में अरुणोदय होते ही जब समग्र सृष्टि उसके प्रकाश की सप्तवर्णी किरणों से आलोकित हो उठती है तो कवि का चित्रकार उसे अपनी कल्पना की विविध रेखाओं में संजों कर उसे चित्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए आकुल हो उठता है। कभी वह उसके विविध रूपमय पूर्ण बिम्ब अंकित करता है और कभी उसकी आलोकमयी छटा के विभिन्न खण्ड चित्र। प्रातःकालीन सूर्य की रश्मियां जब अपने मनोमुग्धकारी सौन्दर्य से उसकी भावुकता का संस्पर्श करती हैं तो कवि का भावुक मन उसके सौन्दर्य से प्रभावित होकर अनेकानेक जिज्ञासाओं से परिपूर्ण शब्द चित्र खींचता है। सूक्ष्म अप्रस्तुतों से अलंकृत किरण का यह अनुभूति एवं कल्पना के वैभव से युक्त सौन्दर्य दर्शनीय है :—

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश
मधुर मुरली सी फिर भी मौन,

---

१. कामायनी, पृ० २४
२. वही, पृ० ४५

किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना दूती सी तुम कौन ?
अरुणशिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुंघराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन,
उषा के अंचल में अश्रान्त।[1]

यदि एक ओर वह कोकनद के मधु की धारा है, तो दूसरी ओर प्रकृति को परमानन्द से पूर्ण करने वाली है। संध्या समय प्रत्यावर्तित किरण का विहग-बालिका के रूप में यह अभिनव सौन्दर्य भी दर्शनीय है:

नील गगन में उड़ती उड़ती विहग बालिका सी किरनें
स्वप्न लोक को चली थकी सी नींद सेज पर जा गिरतें।[2]

वसन्त का सौन्दर्य

अन्य ऋतुओं की अपेक्षा वसन्त का सौंदर्य प्रसाद जी को अधिक आकर्षित कर सका है। कवि निरंतर वसंत की प्रतिक्षा करता है। इसके लिए वह अविराम परिश्रम करता है। क्यारी और कुंजों का निर्माण कर उन्हें दृगजल से सींचता है और आशा करता है कि समय आने पर अवश्य ही मल्लिका की पुंज विकसित होगा, फूल खिल उठेंगे और उन्हें देखकर मधुराका इठलाती हुई मधुहास करेगी। कुंजों में मलयज का आवास होगा। नवीन कोपलों में से कोकिल सानन्द कूकेगा और वसन्त की मादक मदिरा का अनुपान कर धन्य हो उठेगा। अन्त में कवि वसंत के सर्वथा नवीन सौन्दर्य की कामना करता है:

मूक हो मतवाली ममता, खिले फूलों से विश्व अनन्त
चेतना बने अधीर मलिन्द, आह, वह आवे विमल वसन्त[3]

पुनः जीवन के अप्रस्तुत उपकरणों से अलंकृत वसन्त का सौन्दर्य भी दर्शनीय है।

जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कान्ति अकृश,
जैसी ही, वह तू पाता है, हे वसन्त तू क्यों आता है।[4]

---

१. झरना, पृ० ३४
२. कामायनी, पृ० १७५
३. झरना, पृ० १२
४. झरना, पृ० १३

इस वसन्त में पिक अपनी कूक सुनाता है। मलयज जब मन्थर गति से आता है तो वह और भी उन्मत्त होकर डाल डाल पर ताल सहित गाता है, मानो कोई करुण कथा कहता है अथवा बीती हुई मर्मव्यथा सुना रहा है। पतझड़ के पूर्ण होने पर रसाल मुस्काते हुए अपने कर-किसलयों को हिला-हिला कर पथिकों को आमंत्रित करते हैं तो लगता है वसन्त दुःख के पश्चात् सुख के आगमन की ओर संकेत करता है। प्रस्तुत चित्र वसन्त की समस्त चेतना से संयुक्त होने के साथ ही कवि की अप्रस्तुत विधान की अद्भूत क्षमता के कारण अत्यधिक भव्य हो गया है।

जीवन के मधुमय वसन्त का कवि ने अत्यन्त मधुमय चित्रण किया है। वसन्त के आगमन के साथ ही समस्त प्रकृति चैतन्य हो गई और सर्वत्र उसका सौंदर्य छा गया। कलियों के विकास, कोयल की कूक और झरनों की कोमल-कल में उसी का सौन्दर्य परिव्याप्त दिखाई देने लगा। समस्त प्रकृति में मानो एक गत्यात्मकता आ गई, जो प्रसाद की प्रतिभा का संस्पर्श कर उनके काव्य में उत्फुल्ल हो उठी। वसन्तागम से प्रकृति मानो जाग रही है—

क्या तुम्हें देख कर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी।
जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी सच कहना।
जब लिखते थे तुम सरस हँसी
अपनी, फूलों के अंचल में,
अपना कलकंठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कल-कल में।[1]

प्रायः कवि ने वसन्त के मादक मधुर सौन्दर्य का चित्रण मानवीकरण एवं प्रतीकीकरण के अन्तर्गत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने वसन्त के अन्य अनेक छोटे-छोटे चित्रों की संयोजना अपनी कहानियां में की है।[2]

ग्रीष्म

कवि ने जहाँ वसन्त ऋतु का अत्यन्त कोमल सुमधुर चित्रण किया है वहां ग्रीष्म एवं पतझड़ के भयंकर सौन्दर्य का भी चित्रांकन किया है। प्रचण्ड

१. कामायनी, पृ० ६३
२. चन्दा, तानसेन, बालम, खण्डहर की लिपि, देवदाली, नूरी, सालवती, प्रतिध्वनि आदि कहानियां

ग्रीष्म में प्रकृति अत्यधिक संतप्त एवं भयभीत होकर क्रन्दन करती हुई सी प्रतीत होती है। ग्रीष्म का भयानक सौन्दर्य दर्शनीय है :

निर्जन कानन में तरुवर जो खड़े प्रेत से रहते हैं,
डाल हिलाकर हाथों से वे जीव पकड़ना चाहते हैं।
देखो, वृक्ष शल्मली का यह महा-भयावह कैसा है
आतप भीत विहंगम कुल का क्रन्दन इस पर कैसा है,
लू के झोंके लगने से जब डाल सहित यह हिलता है,
हरे-हरे पत्ते वृक्षों के तापित हो मुरझाते हैं।
देखा-देखी सूख-सूख कर पृथ्वी पर गिर जाते हैं।
धूल उड़ाता प्रबल प्रभंजन उनको साथ उड़ाता है।
अपने खड़-खड़ शब्दों को भी उनके साथ बढ़ाता है।[1]

अन्य ऋतुओं में उन्होंने वर्षा एवं शरद् के लघु चित्रों को यत्र-तत्र चित्रित किया है। किन्तु उनकी संख्या बहुत कम है।

ऋतुओं के सौन्दर्य के अतिरिक्त उन्होंने सागर, सरिता लहर, झरना एवं पर्वत आदि के सौन्दर्य-चित्रण से अपने काव्य की शोभा वृद्धि की है।

सागर और सरिता

प्रसादजी ने महागम्भीर सागर के सौन्दर्य में भी गोता लगाया है। सागर संगम अरुण नील[2] में सागर का विराट् शृंगारिक रूप प्रस्तुत हुआ है। वह महा गम्भीर अतलान्त सागर अपनी नियत अवधि को त्याग कर लहरों के भीषण हास सहित अपने उल्लास में युग-युग के बन्धन शिथिल करके हिम-शैल-बालिका से मिल रहा है। इसी कविता में सरिता का एक अभिसारिका नायिका के रूप में चित्रण हुआ है। गंगा सागर में[3] गम्भीर सिंधु का सौम्य सौन्दर्य प्रकट हुआ है, जो अपनी सीमा का कभी अतिक्रमण नहीं करता—

यह सही। तुम। सिन्धु अगाध हो
हृदय में बहु रत्न भरे पड़े
प्रबल भाव विशाल तरंग से

---

१. कानन कुसुम, पृ० २५

२. लहर, पृ० १५

३. कानन कुसुम, पृ० ७४

प्रकट हो उठते दिन-रात ही
न घटते—बढ़ते निज सीम से।[1]

कतिपय कहानियां[2] में भी उन्होंने समुद्र के उग्र एवं सौम्य दोनों ही रूपों का चित्रण किया है।

"करती सरस्वती मधुर नाद' में सरिता का संश्लिष्ट सौन्दर्य अंकित हुआ है। वह श्यामल घाटी में निर्लिप्त भाव से प्रमाद रहित रूप से ही प्रवाहित होते हुए मधुर नाद करती है। निष्ठुर जड़ विषाद की भांति उसके समस्त उत्पल उपेक्षित से पड़े हैं। किन्तु वह तो प्रसन्नता की धारा है जिसमें केवल मधुर गान ही होता रहता है।[3]

लहर

लहरों से ही सागर और सरिता का अस्तित्व है। कवि को वीचिविलास के मधुर एवं भीषण दोनों ही रूपों ने आकर्षित किया है। सूक्ष्म अप्रस्तुत विधानों से सम्पन्न लघु-लघु उठती लोल-लहर का कोमलकमनीय सौन्दर्य अवलोकनीय है :

करुणा की नव अंगराई सी
मलयानिल की परछाई सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
शीतल कोमल चिर कम्पन सी,
दुर्ललित हठीले बचपन सी—
तू लौट कहां जाती है री—
यह खेल खेल ले ठहर ठहर।[4]

यदि एक ओर करुणा की नवअंगराई और मलयानिल की परछाई से अलंकृत लहर का कोमल भोला सौन्दर्य है तो दूसरी ओर उनका विराट् कुटिल कालवत् गर्जन भी दर्शनीय है :—

उधर गरजती सिंधु लहरियां
कुटिल काल के जालों सी,

१. कानन कुसुम पृ० ७४, ७५
२. समुद्रसंतरण, मदन मृणालिनी, अनबोला, आकाशदीप आदि
३. कामायनी, इड़ा सर्ग, पृ० १६७
४. लहर, पृ० ९

पली आ रही फेन उगलती—
फन फैलाए व्याली सी।[1]

पर्वत

संस्कृत साहित्य में तो शैल श्रेणियों और क्रीड़ा-पर्वतों के सौन्दर्य चित्रों की भरमार है। आधुनिक काल के छायावादी कवियों ने भी पर्वतों को अभिनव सचेतन सौन्दर्य से मण्डित किया है। प्रसादजी ने भी हिमालय के भव्य-उदात्त सौन्दर्य का चित्रण किया है। मानव चेतना से अनुप्राणित पर्वत का यह उदात्त चित्र दर्शनीय है:

विश्व-कल्पना-सा ऊंचा वह
सुख शीतल संतोष निधान,
और डूबती सी अचला का
अवलंबन मणि रत्न निधान॥
अचल हिमालय का शोभनतम
लता कलित शुचि सानु शरीर
निद्रा में सुख स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर॥[2]

उसके चरणों में नीरवता की विमल विभूति उमड़ रही है। शीतल झरनों की धाराएं जीवन की अनुभूति बिखराती है। उस असीम नीले अंचल में मानो हिमालय की हंसी ही कलगान करती हुई फूट पड़ी है। शिला सन्धियों से टकराकर पवन उनमें गुंजार करता है। यह उस अचल दृढ़ता का कारण सदृश प्रचार करता प्रतीत होता है।[3]

उदात्त भव्य एवं माधुर्य का यह अद्भुत सामंजस्य प्रसादजी में ही परिलक्षित होता है।

रुचि एवं वर्णभावना

उपर्युक्त प्रकृति-सौन्दर्य के विभिन्न चित्रों से प्रसादजी की एक विशेष रुचि परिलक्षित होती है। वैसे तो उन्होंने प्रकृति को भव्य, भीषण उदात्त एवं कोमल कमनीय दोनों ही रूपों का अंकन किया है। किन्तु उन्हें प्रकृति का रमणीय रूप

---

१. कामायनी, पृ० १४
२. कामायनी, आशा सर्ग, पृ० ३७
३. वही, पृ० ३७

ही अधिक प्रिय था। रमणीयता में भी उन्हें मधुर, मदिर स्वरूप अधिक रुचिकर लगता था। यहाँ तक कि उनकी पदावली भी मधु आवेष्ठित है। उनके चित्रों में सर्वत्र मधु, मधुर लहर, मधु मदिर समीर, मधुमय पिंग पराग, मधुर स्वप्न सी झिलमिल, मधुर जागरण, मधुमय दान, मधुर मारुत, मधु की धारा, मधु निस्वन, मदिर भीनी माधवी की गन्ध, नव मधुमय स्मित लतिका यौवन मधुवन की कालिंदी मधुर नाद, मदिर घट्ट, मधुर मृदंग, मधुशाला, मधु माया, मधु मुकुल, मधु जीवन, मधु मंगल, मधु भिक्षा, मधु गुंजार आदि मधु मय मादक उपादानों द्वारा साहित्य एक माधुर्य का सागर बन गया है।

वर्णभावना

सूर्य की रश्मियाँ पृथ्वीतल पर सप्तवर्णी आलोक फैलाती है। किन्तु पृथ्वी पर ये सप्तवर्ण ही नहीं, अपितु इन्हीं रंगों के सामंजस्य से कलाकारों ने अन्य अनेक रंगों का भी आविष्कार कर लिया है। इन सब विभिन्न रंगों के मध्य वर्ण-सामंजस्य एवं वर्ण विरोध की सूक्ष्म दृष्टि आलोच्य कवि के पास थी।

कवि को नीला वर्ण बहुत प्रिय है। उनके चित्रण में नील वर्ण की छाया प्रत्येक उपकरण पर पड़ी हुई है। अरुण रंग की ओर भी उनका कम आकर्षण नहीं है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

नील कमल, नील गगन, नील परिधान, नील लता, नीलोज्ज्वल, नीलोत्पल, नील विषाद, नीलअंक आदि। इसी प्रकार, उन्होंने अरुण शिशु, अरुण अधर, अरूण ज्योति, अरूण कपोल, अरुण यौवन, अरूणाञ्चल, अरुण किरण आदि द्वारा अरुण रंग के प्रति अपने आकर्षण की व्यंजना की है।

इसके साथ ही उन्होंने विशेष वर्ण-सामंजस्य भी प्रस्तुत किया है यथा अरूण नील, नील लोहित, नील धवल, गौर हरा आदि। अन्य अनेक रंगों का विधान भी कवि ने किया है जैसे फीरोजी, ऊदा, कत्थई, गैरिक, धवल, रक्त आदि।

गंध संवेदना

सौन्दर्य का उपभोग नेत्रेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय द्वारा अधिक किया जाता है। इस दृष्टि से गंध की व्यंजना भी महत्वपूर्ण है।

कवि को मधुर एवं भीनी गन्ध अधिक प्रिय है। काया की मृदु गन्ध, यौवन की सुगन्ध, निश्वासों की सुगन्ध, शिरीष सुमन की गन्ध, भीनी गन्ध, भीनी महक आदि द्वारा उनका मृदु मादक गन्धों की ओर आकर्षण परिलक्षित होता है।

प्रसाद के वाह्य सौन्दर्य चित्रों को देखने से प्रतीत होता है कि उन्हें प्रकृति का मृदु-मधुर मादक ऐश्वर्यशाली स्वरूप ही अधिक प्रिय है किन्तु उन्होंने उसके भीषण भयानक, अनगढ़ एवं पुरुष स्वरूप में भी अन्तर्निहित रमणीयता का उद्घाटन कर उसे नवीन स्वरूप में अंकित किया है।

अन्तःसौन्दर्य

मानव के समान ही कवि अपनी भावुकता से प्रेरित होकर प्रकृति में भी मानवीय गुणों का दर्शन करता है। प्रकृति के साहचर्य के कारण उसे उसके विभिन्न रूपों में भी संवेदना की अनुभूति होती है। प्रकृति उसे ममता एवं करुणा की प्रतिमूर्ति प्रतीत होती है। कहीं वह मां के समान उसकी रक्षा करती है तो कहीं शिक्षिका की भांति परोपकार, त्याग आदि गुणों की उसे शिक्षा देती है, कहीं अनुरागमयी प्रणयिनी के रूप में उसके समक्ष प्रस्तुत होती है तो कहीं सेविका अथवा दासी के समान उसकी सेवा करके अपनी सेवावृत्ति का परिचय देती है, कहीं इष्ट देवी या आराध्य के रूप में उसकी भक्ति भावना के आलम्बन रूप में प्रस्तुत होती है तो कहीं प्राणदायिनी बनकर उसे प्राणदान देती है।

छायावादी कवियों का प्रकृति के साथ एक विशेष रागात्मक सम्बन्ध रहा है। प्रकृति के सुकुमार कवि पंत ने तो आंग्ल वर्ड्सवर्थ के समान ही प्रकृति में देवी, मां, सहचरी, प्राणदायिनी आदि रूपों के दर्शन किए हैं। प्रसादजी को प्रकृति से अवश्य प्रेम है किन्तु उनका भावुक मन मानव के अन्तः सौन्दर्य से अधिक रमता है। अस्तु। उनके काव्य में प्रकृति के अन्तः सौन्दर्य का भी न्यूनाधिक उद्घाटन हुआ है।

करुणामयी प्रकृति

मानव-जगत् में जिस प्रकार नारी के हृदय में करुणा की अन्तः सलिला निरंतर प्रवाहित होती रहती है वाह्य-जगत् में उसी प्रकार प्रकृति भी अनन्त करुणामयी है। इस सृष्टि को नाना दुखों से पीड़ित देखकर उसके नेत्र साश्रु हो उठते हैं और उसका करूणापूर्ण हृदय उद्वेलित होने लगता है—

> लहरों में यह क्रीड़ा चंचल,
> सागर का उद्वेलित अंचल।
> है पोंछ रहा आंखें छलछल
> किसने यह चोट लगाई है।"[1]

---

१. लहर, पृ २०

तथा

नील नयन से ढलकाती हो
ताराओं की पांति घनी रे ।[1]

इसी प्रकार प्रसाद की वरुणा मानो अपने कल-कल-निनाद से सृष्टि के दुःखों की गाथा सुनाती और अपनी शीतल धारा के जल से प्राणियों को शान्ति प्रदान करती है—

खिलती पंखुरी पंकज वन की,
खुल रही आंख ऋषि पतन की
दुःख की निर्ममता निरख कुसुम-रस के मिस जो भर आई थी
कल-कलना दिनी वहती-वहती
प्राणी दुःख की गाथा कहती
वरुणा द्रव होकर शान्ति वारि शीतलता-सी भर लाई थी ।[2]

स्नेहमयी प्रकृति

अपनी निष्ठुर प्रेमिका से जब कवि को किसी प्रकार का आघात पहुंचता है तो प्रकृति उसके घायल विह्वल हृदय को अपने स्नेह-शीतल स्पर्श से शान्ति प्रदान करती है। इस अवस्था में प्रकृति उसे ऐसी अनन्त स्नेहमयी देवी प्रतीत होती है जिससे किसी भी प्रकार के आघात की आशंका नहीं—

केवल स्मितिमय चांदनी रात,
तारा किरणों से पुलक गात,
मधुपों मुकुलों के चले घात,
आता है चुपके मलयवात,
सपनों के बादल का दुलार ।
तब दे जाता है बूंद चार ।[3]

ताराओं की कान्ति व्यथित हृदय प्रेमियों को उनके प्रिय की प्रतीति कराती है। प्रकृति के स्नेह के कारण ही उसके बालुका कण भी उर्वर हो जाते हैं। उसके इस स्नेह से प्रेरणा ग्रहण करके ही कवि उस समय की प्रतिक्षा एवं आशा करता है जब मानव-हृदय भी इस स्नेह-शीतलता को प्राप्त करके सृष्टि के दुःख और पिपासाओं का शमन करेगा—

---

१. वही, पृ० १४
२. वही, पृ० ३२
३. लहर, पृ० ३७

दुखी हृदय में प्रिय-प्रतीति की विमल विभा-सी
तारा-ज्योति मिली है तम में, कुछ प्रकाश है।
बालू भी इस स्नेहपूर्ण जल के प्रभाव से
उर्वर हैं हो रहे, करारे नहीं काटते
हृदय-कुमुद कब सौरभ से यों विकसित होकर
पूर्ण करेगा अपने परिमल से दिगन्त को
शांति-चित्त को अपनी शीतल लहरों से कब
शांत करेगा हर लोग कब दुःख पिपासा।[1]

विशाल एवं उदार हृदय प्रकृति—

प्रकृति का हृदय अत्यन्त विशाल है। वह सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के लिए सदैव से ही समान रूप से उदार रही है। वह अपनी शीतल जल धारा द्वारा प्राणियों की तृष्णा शान्त करती है, अपने अपरिमित परिपक्व एवं रसीले फलों का स्वयं उपभोग न करके क्षुधितों को दान कर अपना जीवन सार्थक समझती है और उसके बदले में उनसे कुछ नहीं मांगती। सागर की गहनता मानों उसके हृदय की गम्भीरता एवं विशालता की ही परिचायिका है। सरिता उसे अपना सर्वस्व समर्पण करके भी उससे कुछ नहीं चाहती, प्रत्युत अपने त्याग एवं समर्पण में ही सुख मानती है—

"यह सही, तुम। सिन्धु अगाध हो
हृदय में बहु रत्न भरे पड़े
प्रबल भाव विशाल तरंग से
प्रकट हो उठते दिन रात ही।
जलधि! मैं न कभी चाहती
कि तुम भी मुझ पर अनुरक्त हो,'
पर मुझे निज वक्ष उदार में
जगह दो, उसमें सुख रहे।"[2]

इसी प्रकार प्रकृति के अन्य गुणों के चित्र भी प्रसादजी के काव्य में उपलब्ध हो सकते हैं, परन्तु उन्होंने प्रकृति के संश्लिष्ट सौन्दर्य का ही चित्रण अधिक किया है। स्वतन्त्र रूप से उसके गुणों के सौन्दर्य-चित्रों की अधिकता उनके काव्य में नहीं है।

---

१. कानन-कुसुम, पृ० ५७
२. कानन-कुसुम, पृ० ७४

पंचम अध्याय

वस्तुगत सौन्दर्य

वस्तुगत सौन्दर्य

सृष्टि रचियता ने तो अपनी इच्छानुसार प्रत्येक वस्तु को एक निश्चित रूप, आकार, गुण एवं धर्म का वैशिष्ट्य प्रदान किया है, जिनके कारण वे मानव मन को अपनी ओर स्वतः आकर्षित कर लेती है। किन्तु विश्वकर्मा के समान ही मानव में भी सृजनात्मक प्रतिभा होती है। उसकी सौन्दर्योन्मुखी प्रवृत्ति एवं सृजनात्मक प्रतिभा विश्व में उपलब्ध साधनों द्वारा एक नवीन निर्माण करना चाहती है। इसी निर्माणक प्रतिभा की सन्तुष्टि के लिए उसने पर्वतों की क्रोड में गुहाओं की खोज निकाल और उन्हें नवीन चित्रों एवं कलात्मक खुदाई द्वारा एक अद्‌भुत सौन्दर्य प्रदान किया। उसने अनगढ़ पत्थरों को भी कला की शाखों से देखकर सुन्दर मूर्तियों में परिवर्तित कर दिया। उसने सागर से भी होड़ लेने वाली विशाल झीलों एवं सरोवरों का निर्माण किया और उनमें विभिन्न जल-पुष्पों को उगाकर विधाता की सृजन-शक्ति को भी परास्त कर दिया।

ऐश्वर्येच्छा एवं कलात्मक रुचि के कारण उसने विशाल रत्नसौध एवं ऊंची ऊंची भव्य अट्टालिकाओं का निर्माण किया। ताजमहल, एलोरा, अजन्ता की गुफाएं, डीग के राजमहल, काश्मीर के निशात एवं शालिमार उद्यान, मैसूर-वृन्दावन के उद्यान इसी मानव-निर्मित सौन्दर्य व वस्तुगत सौन्दर्य के प्रतीक है।

वस्तुगत सौन्दर्य का परिधि एवं विस्तार

मानव ने अपने लिए दो प्रकार की वस्तुओं का निर्माण किया है। पहले प्रकार की वे वस्तुएं हैं—जो उसके दैनिक जीवन में उपयोगी हैं यथा रहने के लिए समस्त सुविधाओं से युक्त आवास-गृह, शरीर की रक्षा हेतु वस्त्र एवं दैनिक उपयोग के लिए विभिन्न प्रकार के पात्र आदि। ये वस्तुएं मानव को तभी तक प्रिय एवं आनन्ददायक लगती है, जब तक वे उसके उपभोग योग्य बनी रहती हैं। इसके पश्चात् वह उन्हें बिना किसी मोह के त्याग देता है। दूसरे प्रकार की वे वस्तुएं हैं—जिनमें उपभोग योग्य क्षमता होना आवश्यक नहीं है, किन्तु वे अपने सौन्दर्य के कारण मानव को सदैव प्रिय एवं आनन्ददायक प्रतीत होती है—यथा ताजमहल का उपभोग की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है, परन्तु वह फिर भी हमारे मन को आकर्षित करता है, चमत्कृत करता है। सौन्दर्य एवं आनन्द के लिए अपनी जिज्ञासु

प्रवृति के कारण मानव प्रत्येक वस्तु को अपनी कलात्मक रुचि के अनुरूप ढाल लेता है। आवास के लिए कतिपय कमरे पर्याप्त होते हैं, किन्तु वह अपने घर का निर्माण इस प्रकार करना चाहता है कि वह उपयोगी होने के साथ साथ कलात्मक भी हो। इसके लिए वह भवन में विभिन्न वातायन, स्तम्भ, झरोखों आदि का निर्माण करता है, स्तम्भों पर विभिन्न बेल बूटों की खुदाई करता है, भित्तियों को अनेक चित्रों द्वारा अलंकृत करता है। वह घर के चारों ओर वाटिका लगाता है, वाटिका को भी वह नाना प्रकार के पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, कृत्रिम जलप्रपात एवं क्रीड़ा-पर्वतों द्वारा इस प्रकार अलंकृत करता है कि वह सौन्दर्य प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं से निर्मित होकर भी प्रकृति में प्राप्त नहीं होता। यही सौन्दर्य वस्तुगत सौन्दर्य के अन्तर्गत आता है।

संक्षेप में प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री यथा चूना, पत्थर, मिट्टी एवं विभिन्न धातुओं की सहायता से मानव नाना प्रकार की कलात्मक वस्तुओं का निर्माण करता है। वह सुन्दर सुन्दर भवनों का निर्माण करता है। अनगढ़ पाषाणों को अपनी छेनी से तराश कर ऐसी मूर्तियों का निर्माण करता है, जो जीवित प्रतिमाएं प्रतीत होती हैं। पर्वतों की विशाल उपत्यकाओं एवं कन्दराओं को भी उसने अपने सुगढ़ हाथों से संवार दिया है। अजन्ता-एलोरा की गुफाएं इसका साक्षात उदाहरण है।

कृत्रिमता और वस्तुगत सौन्दर्य

कुशल मूर्तिकार की रचना को देखकर कभी कभी यह सन्देह हो जाता है कि यह वास्तविक जीवित आकृति है। इस बारे में एक बड़ी रोचक कथा मुझे 'चन्दामामा' में पढ़ने को मिली। एक राजा ने दो कुशल मूर्तिकारों से हाथ में फल लिए हुए राजकुमारी की मूर्ति बनवाई। दोनों ही मूर्तियां साक्षात राजकुमारी ही प्रतीत होती थी। परन्तु राजा ने श्रेष्ठतर शिल्प की परीक्षा करने के लिए एक तोता उन मूर्तियों की ओर छोड़ा। एक मूर्ति पर तोता उड़कर बैठ गया। राजा ने दूसरे शिल्प को श्रेष्ठ बताते हुए कारण बताया कि तोता वास्तविक मनुष्य समझ कर भय के कारण उस पर नहीं बैठा, जबकि पहले वाले को कृत्रिम समझकर उस पर बैठ गया। प्रश्न उठता है कि क्या वस्तुगत सौन्दर्य को वास्तविकता की सफल अनुकृति होना चाहिये ?

वास्तव में कोई भी कला केवल अनुकृति नहीं होती। किन्तु वस्तुगत सौंदर्य के लिए किन्हीं दशाओं में एक निश्चित सीमा तक यह आवश्यक है कि वह कितनी सफल अनुकृति है। उस अनुकृति में कलाकार की प्रतिभा का स्पर्श उसे मौलिकता प्रदान करता है। कलाकार प्रकृति का सुगढ़ अनुकरण करता है। मैना, मोर, हाथी, घोड़ा आदि पशु-पक्षी प्रकृति की रचनाएं हैं। कलाकार अपनी छेनी द्वारा मोर की प्रतिमूर्ति का निर्माण करता है। कैंची की सहायता से उद्यान के वृक्षों को

मिल सघन बनाती जहां कुञ्ज।
थे वातायन भी कटे हुए
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र,
आवें क्षणभर तो चले जाय
रुक जाये कहीं न समीर, अभ्र।
उसमें था झूला पड़ा हुआ
वेतसी लता का सुरुचिपूर्ण,
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनों का कोमल सुरभि चूर्ण[1]

कामायनीकार को इस प्रकार के गृह का वाह्य विधान ही प्रिय नहीं था, अपितु उसमें उन्होंने मधुर मंगलमय भावों का माधुर्य भी भर दिया है। उस गृह में कितनी ही मधुर मीठी अभिलाषायें चुपके-चुपके घूम रही हैं। कितने ही मंगलमय गान उसके कानों को चूम रहे हैं। इस प्रकार प्रसादजी की गृह-निर्माण की कल्पना भी ऐश्वर्य, माधुर्य एवं रमणीयता से ओत-प्रोत है।

प्रसाद के साहित्य में यत्र-तत्र बाग का वर्णन बहुत प्राप्त होता है। उन्होंने कहीं भी किसी भी विशाल उद्यान पाई का वर्णन नहीं किया है, उन्हें तो गृह से लगा हुआ छोटा सा बगीचा अथवा पाई बाग अधिक प्रिय है। परन्तु पाई बाग का भी विशेष वर्णन कहीं नहीं हुआ है। सर्वत्र उसका संकेत भर मिलता है। झरना में पाई बाग शीर्षक से एक कविता भी संकलित है। वहां कवि अपने आशा निराशा के भावों का संकेत करते हुए प्रिय से अपने मन रूपी पाई बाग में चहल कदमी करने का अनुरोध करते हैं।[2]

वास्तव में प्रसाद मानव एवं प्रकृति-सौन्दर्य के पुजारी हैं। ये दोनों ही सृष्टियां उस परम सुन्दर द्वारा निर्मित की गई हैं। किन्तु प्रसाद ने मानव निर्मित सौन्दर्य की भी पूर्ण उपेक्षा नहीं की है। यद्यपि शिल्प, स्थापत्य आदि का उन्होंने यत्र-तत्र संकेत अवश्य दिया है तथापि उनकी वृत्ति प्रकृति परिवेश वाले स्थानों का वर्णन करने में ही रमी है। उनके गृह की कल्पना प्रकृति के मधुर प्रांगण में, उसी के उपादानों से निर्मित एवं आच्छादित कुटिया है। शिल्प वर्णन में भी करुणा, भव्यता एवं ऐश्वर्यता सामञ्जस्य प्रसाद की ही विशेषता है।

---

१. प्रसाद, कामायनी, ईर्ष्या, पृ० १४९
२. झरना, पाई बाग, पृष्ठ ३७, छाया, तानसेन।

श्री रामचन्द्र टण्डन ने कला को सौन्दर्य की सर्जना माना है। 'कल्याण हेतु लेते हुए सौन्दर्य की सर्जना ही कला है।"[1]

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी सौन्दर्य के व्यक्त स्वरूप को कला मानते हैं। उन्होंने कहा है कि किसी रचना के विभिन्न सौन्दर्य सन्दानों का आकलन कला है। साहित्य के वस्तुपक्ष से भिन्न सौन्दर्य का आधार कला है।[2]

महाकवि जयशंकर प्रसाद कला को विज्ञान की श्रेणी में परिगणित करते हुए यह मानते हैं कि उसकी रेखाएं एक निश्चित सिद्धान्त तक पहुंचा देती हैं। वे कला को संकुचित कर्तृत्व शक्ति मानते हैं।[3] पुनः शिवसूत्र विमर्शिनी से आचार्य क्षेमेन्द्र को उद्धत करते हुए वे कहते हैं—

"कलयति स्व-स्वरूपावेशन् ततद्वस्तु परिच्छिनति इति कला व्यापारः" इस पर टिप्पणी है—

"कलयति, स्वरूप आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला अर्थात्—नव-नव स्वरूप- प्रथालेख शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी कर्म का नाम कला है।"

इस प्रकार कला के विभिन्न अर्थ एवं परिभाषाओं का विश्लेषण करने से सारांश निकलता है कि कला का अर्थ—कुशलतापूर्वक चतुराई एवं विशिण्टा पूर्वक किसी वस्तु का निर्माण करना।

---

१. कला और साहित्य, आकाशवाणी, भारत सरकार प्रकाशन, पृ० ४१

२. राजस्थान विश्वविद्यालय में हुई संगोष्ठी (सेमिनार) में दिए गए भाषण से उद्धत।

३. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४२

षष्ठ अध्याय

कलात्मक-सौन्दर्य

आधुनिक युग के अन्तर्गत द्विवेदी काल मे, इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण अभिधा शक्ति का प्राधान्य रहा, किन्तु छायावाद काल की सूक्ष्म अभिव्यंजना एवं मूर्तिमता के लिए लक्षणा की आवश्यकता हुई। इस युग की साम्य-योजना इनके सहारे बहुत विकसित हुई है। प्रतीक विधान में साम्य-योजना का बड़ा ही निखरा हुआ रूप उपस्थित हुआ है। 'विशेषणवक्रता (विशेषण विपर्यय) और मानवीकरण भी छायावादी साम्य विधान के प्रमुख द्वार हैं। विशेषण विपर्यय, मानवीकरण और प्रतीक विधान के भीतर संचरित लक्षणा न केवल अदृश्य भावों और विचारों को एक मूर्त रूप प्रदान कर देती है, वरन् प्रभाव की वृद्धि में भी अमूल्य योगदान देती है।[1] प्रसादजी ने भी अभिव्यक्ति के लावण्य के लिए इसका महत्व स्वीकार किया है।[2] उनका साहित्य सुन्दर लक्षणाओं का अपरिमित भण्डार है। व्यंजना-शक्ति का भी उन्होंने सुष्ठु प्रयोग किया है। अभिधामूला एवं लक्षणामूल दोनों ही प्रकार की व्यंजनाओं से प्रसाद का काव्य सम्पन्न है। इन शब्द शक्तियों का सौन्दर्य दर्शनीय है—

अभिधा

यद्यपि प्रसादजी ने लक्षणा एवं व्यंजना को ही अधिक महत्व दिया है तथापि उनके साहित्य में अभिधा का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है, विशेष रूप से उनके कथा-साहित्य में इसकी छटा अवलोकनीय है। उनकी आरम्भिक कविताओं एवं कामायनी के कतिपय स्थलों में इसके कारण सहजता एवं सुबोधता आ गई है यथा—

और सोचकर अपने में,
जैसे हम हैं बचे हुए,
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए।[3]

लक्षणा—

जिन भावों के मूर्तिकरण के लिए प्राचीन कवि अनेक उपमाओं एवं विशेषणों की शृंखला बांध देते हैं, उसके लिए प्रसाद कुछ शब्दों द्वारा ही काम चला लेते हैं। जीवन में काम का आगमन है। इस अवस्था का चित्रण कवि ने प्रकृति के उपादानों द्वारा कितनी सूक्ष्मता से किया है—

---

१. प्रो० क्षेम, छायावाद के गौरव चिन्ह, पृष्ठ २२०
२. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२२
३. कामायनी, आशा सर्ग, पृष्ठ ४०

क्या तुम्हें देखकर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आंखें खोली थीं।
जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में रहना।
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी ? सच कहना।[1]

अलसाई कलियों की आंखें खोलना एवं धरणी में बिछलन का अर्थ गौरव परिलक्षणीय है।

एक अन्य रमणीय लक्षणा द्रष्टव्य है—

कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंग लतिका में।
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़तीं।
नन्दन की शत-शत दिव्य कुसम-कुन्तला
अप्सराएं मानों वे सुगन्ध की पुतलियां
आ-आकर चूम रही अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वयं ही मुस्कान खिल पड़ती।
नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्तव्यापी सन्ध्या संगीत को।[2]

व्यंजना—

लक्षणा के साथ व्यंजना का भी प्रसाद जी ने प्रचुर प्रयोग किया है। उनकी व्यंजनाएं उनके विस्तृत अध्ययन के कारण अपूर्व हो गई हैं। कतिपय उदाहरण अवलोकनीय हैं—

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके।[3]

२. वही, काम सर्ग, पृष्ठ ७१
२. लहर, प्रलय की छाया, पृ० ६०
३. कामायनी, चिन्तासर्ग, पृ० १३

यहां भीम का अर्थ पाण्डव न होकर भयंकर हैं अतः प्रकरण–सम्भवा–अभिधामूला-शाब्दी–व्यंजना है। कतिपय अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं–

अरुण जलज के शोण कोण से नव तुषार के विन्दु भरे,
मुकुर चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि कितनी साथ लिए बिखरे।
वह अनुराग हंसी दुलार की पंक्ति चली सोने तम में,
वर्षा कुहू में जलते स्मृति के जुगुनू डरे डरे।[1]

देवदारु निकुंज गहर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कान्त,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।[2]

उपर्युक्त उदाहरणों में अरुण जलज श्रद्धा के रुदन के कारण रक्तवर्णी नेत्रों के लिए तथा नवतुषार के बिन्दु अश्रु–बिन्दुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः यहां प्रयोजनवती -साध्यवसाना-लक्षण-लक्षणा है। साथ ही प्रयुक्त विशेषणों की सात्विकता एवं वैशिष्ट्य भी दर्शनीय है। दूसरे उदाहरण में मिलन की वेला में मनु के हृदय में काम के प्रसार की व्यंजना है।

वस्तुतः प्रसाद ने तीनों ही प्रकार की शब्द शक्तियों का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ किया है। मानवीकरण एवं मूर्तिकरण के अन्तर्गत लक्षणाओं का सौन्दर्य विशेष रूप से अवलोकनीय है। अपने नानाविध स्वरूपों में व्यंजना भी उनके साहित्य में यत्र-तत्र छाई हुई है। लक्षणा एवं व्यंजना के प्रयोग के कारण उनके साहित्य में सर्वत्र भाव-सौदर्य-एवं अर्थगाम्भीर्य के दर्शन होते हैं।

(ग) आभरणात्मक अथवा आलंकारिक सौन्दर्य–

भारतीय साहित्य में ही नहीं विश्व साहित्य में अलंकारों का बहुत महत्त्व है। अलंकार कविता में भाव और अभिव्यक्ति को सौन्दर्यमयी बनाने के अस्थिर साधन हैं।[3] अलंकारों के प्रयोग के बारे में काव्य शास्त्रीय मतों में विभिन्नता है।

कतिपय आचार्य अलंकारों से-से विहीन कविता को कविता की श्रेणी में ही परिगणित नहीं करते तथा कतिपय अलंकारों की अनिवार्यता स्वीकार नहीं

---

१. वही, स्वप्न सर्ग, पृ० १८७
२. कामायनी, वासना पृ० ९६
३. डा० जगदीश नारायण त्रिपाठी, आधुनिक हिन्दी कविता में अलंकार विधान, पृ० २२

करते। किन्तु काव्य में अलंकारों के प्रयोग से उसके सौन्दर्य में वृद्धि होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अलंकार भाषा को उर्वरा शक्ति प्रदान कर उसे सुन्दर सत्य के और अधिक निकट पहुंचाने में सहायक होते हैं। सहज एवं जटिल भाव अलंकारों के सम्पर्क से मूर्त रूप ग्रहण कर लेते हैं। संक्षेप में अलंकार कवि की सौन्दर्य-मति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में सहायक होकर उसकी कान्ति में वृद्धि करते हैं।[१]

प्रसाद अलंकारवादी नहीं हैं, फिर भी उनका सम्पूर्ण साहित्य विभिन्न अलंकारों से अलंकृत है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्हें अलंकार प्रिय नहीं थे अथवा अलंकारों में उनकी प्रतिभा का कम विकास हुआ, वस्तुतः वे अलंकार की अपेक्षा गहन अनुभूति को अधिक महत्त्व देते हैं। गहन अनुभूति के अभाव में केवल अलंकारों से सज्जित काव्य उनकी दृष्टि में कदापि उच्च काव्य नहीं हो सकता। उन्होंने वाह्य सज्जा मात्र के लिए अलंकार-प्रयोग की उपेक्षा एवं आन्तरिक सौन्दर्य को महत्त्व देते हुए कहा भी है कि 'कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की वहिन ही है, घूंघट वाली लज्जा नहीं है।"[२] उन्हें कृत्रिम लज्जा की अपेक्षा स्वाभाविक मधुर सौन्दर्य ही प्रिय है। उन्होंने संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति के उदाहरण द्वारा अपने इस कथन की पुष्टि भी की है—जो अलंकार वाह्य सादृश्य की अपेक्षा आन्तर सादृश्य को प्रकट करने वाले होते हैं, वे ही काव्य में भावोत्कर्ष बढ़ाने में सहायक होते हैं।"[३] वास्तव में उन्होंने मध्यमार्ग अपनाया है। वे अपनी प्रतिभा एवं निरंतर अभ्यास के कारण ऐसे व्युत्पन्न कलाकार बन गए थे कि उनके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक अलंकार बड़े ही सहज रूप से शब्द एवं अर्थ दोनों का ही गौरव बढ़ाने वाला बन गया है।

शब्दालंकारात्मक सौन्दर्य—शब्द के एक बार या अनेक बार प्रयोग द्वारा काव्य में जहाँ अर्थ चमत्कार एवं संगीत सृष्टि होती है वहां शब्दालंकार की स्थिति मानी जाती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "शब्दालंकार में अर्थ

१. 'तद्दोषौ, सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि'
 अर्थात् दोषों से रहित, गुणयुक्त और (साधारणतः अलंकार सहित) परन्तु कहीं-कहीं अलंकार-रहित शब्द और अर्थ-(दोनों की समष्टि) काव्य कहलाती है। आचार्य विश्वेश्वर का अनुवाद।
२. जयशंकर प्रसाद, काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२६
३. वही, पृ० १२७

भार रहने पर काव्यगत प्रभाव और संगीत की सहज गति बढ़ जाती है। ये शब्दालंकार काव्य साधक है।"[1] काव्य की सौन्दर्य वृद्धि के लिए इन शब्दालंकारों का प्रयोग प्रायः सभी प्राचीन-नवीन कवियों ने किया है, किन्तु प्रसाद की तो गद्य की भाषा भी अलंकारों से सुसज्जित है। प्रमुख विशेषता तो यह है कि इनसे भाषा की अर्थवत्ता एवं लावण्य में वृद्धि हुई है, वह बोझिल एवं कृत्रिम प्रतीत नहीं होती। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—

अनुप्रास

वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं। वर्णों की बार बार आवृत्ति के कारण कविता में संगीतात्मकता एवं सरसता का समावेश हो जाता है। प्रसाद माधुर्य के कवि हैं। उन्होंने प्रायः ऐसे वर्णों की आवृत्ति की है जो स्वतः कोमल है। जिनकी ध्वनि कर्णप्रिय संगीतात्मक है। यथा—

"सुन्दर सुहृद सम्पत्ति सुखदा सुन्दरी के साथ में
संसार यह सब सौंपना है चाहता तब हाथ में"[2]

कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मंडराती[3]
यहां प्रस्तुत है गद्य में भी अलंकृत भाषा का उदाहरण—

मधुप अभी किसलय शैया पर मकरन्द मदिरा पान किए सो रहे थे—सुन्दरी के मुख-मण्डल पर प्रस्वेद बिन्दु के समान फूलों के ओस अभी सूखने न पाए थे।.... ऐसे सौरभपूर्ण सुमन सवेरे ही जाकर उपवन में चुन लिए थे। पर्णपुट का उन्हें पवित्र वेष्ठन देकर अन्चल में छिपाए सरला देवमन्दिर में पहुंची।.......सरला अपने पाणिपल्लव में पर्णपुट लिए कोने में खड़ी हो गई।[4]

छेकानुप्रास

"सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे नयन भरे आलस अनुराग
कल कपोल था जहां बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग"[5]

प्रस्तुत उदाहरणों में न केवल वर्णमैत्री द्रष्टव्य है अपितु अनुप्रास से उद्भूत भाव सौन्दर्य एवं भाषा-सुषमा भी दर्शनीय है।

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० ३३१
२. कानन कुसुम, पृ० ३०
३. कामायनी, पृ० १८३
४. प्रतिध्वनि, पृ० ८,९
५. कामायनी, पृ० १९

यमक एवं श्लेष—निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न भिन्न अर्थ वाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुनः श्रवण को यमक कहते हैं।

श्लेप—शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान किए जाने को श्लेप कहते हैं।

ये दोनों ही अलंकार छायावादी युग में आकर इतने लोकप्रिय नहीं रहे, जितने कि साहित्य–इतिहास के अन्य युगों में प्रचलित रहे हैं। किन्तु इनका महत्व अद्यतन यथास्थान बना हुआ है। प्रसादजी ने भी इन अलंकारों की उपेक्षा नहीं की है। रीतिकालीन साहित्य में जहां इन अलंकारों द्वारा चमत्कार की सृष्टि हुई है वहां प्रस्तुत काव्य में इनकी आयासहीन नियोजना ने एक विशेष सौन्दर्य-सृष्टि की है। विशेष रूप से आंसू में तो इनका प्रयोग बहुत ही सुन्दर हुआ है। कतिपय उदाहरण अवलोकनीय हैं—

यमक— मैं सुरभि खोजता भटकूंगा वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।[1]

श्लेष— इस हृदय कमल का घिरना
अलि–अलकों की उलझन में
आंसू मरन्द का गिरना
मिलना निश्वास-पवन में।[2]

....

श्लेष— चातक की चकित पुकारें
श्यामा-ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र-कथा की
टुकड़ी आंसू से गीली।[3]

दे रहा हो कोकिल सानन्द
सुमन को ज्यों **मधुमय** संदेश।[4]
'अलि अलकों,'

'सुमन' एवं 'मधुमय संदेश' शब्दों में न केवल श्लेप का सौन्दर्य ही दृष्टव्य है अपितु भाषा के माधुर्य में भी वृद्धि हुई है। मधुमय संदेश जैसे शब्दों की रचना प्रसाद की मधुवृत्ति, की परिचायक है।

---

१. कामायनी, १६१

२. आंसू, पृ० १२

३. आंसू पृ० १३

४. कामायनी, पृ० ५८

पुनरुक्ति

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस अलंकार के अन्तर्गत किसी वस्तु का बार-बार वर्णन किया जाता है। प्रसादजी ने भी इसका अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। किन्तु यहां यह विशेष रूप से दर्शनीय है कि एक ही वस्तु का पुनः पुनः वर्णन होते हुए भी रस में किसी प्रकार की बाधा का आभास नही होता अपितु इसके कारण काव्य की लय एवं छन्द के सौन्दर्य में अभिवृद्धि ही हुई है—

दूर दूर तक विस्तृत हिम था
एक सघन था एक विरल[1]
रो-रोकर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।[2]

'रो रोकर-सिसक सिसक कर'

द्वारा भाव की प्रभाव-व्यंजकता में एक अनोखा बांकपना आ गया है। यही काव्य में अलंकारों का कार्य है। इसी प्रकार 'छिल छिल कर छाले फोड़े, मल मल कर मृदुल चरण से'[3] में जहां अनुप्रास एवं वर्ण विन्यास का कौशल अवलोकनीय है, वहीं पीड़ा के भाव को मानों साक्षात् मूर्तिवत्ता ही प्राप्त हो गई। एक छोटी सी पुनरुक्ति के द्वारा पीड़ा, टीस, और दर्द की अनुभूति अनुपम बन गई है।

वीप्सा-घृणा, आदर, क्षोभ, उद्वेग, आकांक्षा आदि आकस्मिक भावों के प्रकटीकरण के लिए प्रस्तुत अलंकार का प्रयोग होता है। प्रसादजी ने इस अलंकार का प्रयोग भावानुसार नानाविध रूपों में किया है। तीव्र आकांक्षा का उद्वेग दर्शनीय है—

सब कहते हैं खोलो खोलो 'छवि देखूंगा जीवन धन की'[4] इस प्रकार साधारण शब्दों को भी वीप्स अलंकार द्वारा प्रसाद ने अद्भुत क्षमता प्रदान की है। एक और उदाहरण पर्याप्त होगा—

---

१. कामायनी, पृ० ११
२. आंसू, पृ० १५
३. आंसू, पृ० ११
४. कामायनी, पृ० ७६

पीता हूँ, हाँ पीता हूँ यह स्पर्श रूप, रस, गंधभरा।[1]

इस प्रकार प्रसाद-साहित्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द स्वयं एक-एक अलंकार है। इन शब्दालंकारों की आभा से साहित्य-जगत् जगमगा रहा है। पग-पग पर अद्भुत वर्ण-मैत्री एवं मधुर ध्वनि संयोजन सहृदय के चित्त को वरवस अपने में लीन करने को बाध्य कर देते हैं।

अर्थालंकारात्मक सौन्दर्य

शब्द और अर्थ के सुन्दर समुचित संयोजन द्वारा ही साहित्य का निर्माण होता है। प्रत्येक शब्द के पीछे एक अर्थ परम्परा है। शब्दों के सुन्दर अर्थ के कारण साहित्य में एक नवीन सौन्दर्य चेतना का उद्भव होता है। कवि लघु एवं अल्प शब्दों में ही इतना अर्थ चातुर्य एवं अर्थ-गाम्भीर्य समाहित कर देता है कि वे साधारण से असाधारण की श्रेणी में परिगणित होने लगते हैं। यही अर्थालंकारों का चमत्कार है। अर्थालंकारों द्वारा कवि की गहन अनुभूति का बोध सहज ही हो जाता है। क्योंकि कवि अपनी विस्तृत ज्ञान राशि एवं अनुभव के आधार पर ऐसी सादृश्य योजनाओं का निर्माण करता है, जो प्रस्तुत भाव को मूर्त्त रूप प्रदान करने में समर्थ होती है। वस्तु के रूप, गुण एवं धर्म सभी पक्षों को स्पष्ट करने में इन सादृश्यमूलक योजनाओं से बहुत सहायता मिलती है।

छायावादी कवियों को सादृश्यमूलक अलंकार बहुत प्रिय हैं। उन्होंने अर्था-लंकारों के क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी है। परम्परा से प्रयोग में आते रहने वाले उपमानों के स्थान पर उन्होंने जीवन एवं प्रकृति के विस्तृत प्रांगण से नित्य नवीन उपमानों का चयन किया है। इन कवियों का विश्वास है कि वाह्य सादृश्य की अपेक्षा जो अलंकार आन्तरिक सादृश्य को भी उपस्थित करते हैं वे ही श्रेष्ठ अलंकार हैं। इससे अनुभूति की गहनता एवं भाव की रमणीयता को सौष्ठव प्राप्त होता है।

प्रसादजी ने अनुभूति को अधिक महत्व दिया है। अतः उन्हें भी ऐसे ही अलंकार प्रिय हैं जिनका सम्बन्ध आन्तरिक सादृश्य से अधिक है। इस दृष्टि से प्रसाद को हिन्दी साहित्य में वह स्थान प्राप्त है, जिस स्थान पर संस्कृत साहित्य में कविकुल गुरु कालिदास प्रतिष्ठित है। उपमा का सौन्दर्य ही नहीं इनके काव्य में भारवि का अर्थ गौरव भी समाविष्ट है। जीवन और जगत के विशाल प्रांगण में चुने गए सूक्ष्म एवं स्थूल नाना प्रकार के उपमानों से कवि ने न केवल काव्य की सज्जा में ही वृद्धि की है अपितु अर्थ गाम्भीर्य को मूर्तिमत्ता भी प्रदान की है।

---

१. कामायनी, पृ० ७७

उनकी उपमायें आकृति, गुण एवं धर्म तीनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उधर गरजती सिन्धु लहरियां
कुटिल काल के जालों सी।
चली जा रही फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों सी।[1]

उपर्युक्त पद्यांश में उपमा की सार्थकता दर्शनीय है। 'फन फैलाए व्यालों' जहां लहरों की वक्र गति एवं आकृति को मूर्त रूप प्रदान करती है, वहां 'कुटिल काल के जाल' द्वारा उनकी रूपाकृति एवं वातावरण की भयानकता का भी आभास हो जाता है।

निम्नलिखित पंक्तियों में तो उपमा का सौन्दर्य और भी मुखर हो उठा है। परम्परा से प्रयुक्त होने वाले मुख एवं केशों के उपमानों का मोह छोड़ कर श्रद्धा के पुनीत स्वर्गीय सौन्दर्य का चित्रण करने के लिए जिन नवीन उपमानों का चयन कवि ने किया है उनका मौलिक सौन्दर्य द्रष्टव्य है :—

घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास[3]

और उस मुख पर वह मुस्कान
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम[4]

केशों के लिए अब तक कविगण भ्रमर, सर्प, अन्धकार आदि उपमाओं का प्रयोग करते आ रहे थे। किन्तु प्रसाद ने 'नील घन शावक' द्वारा अपने प्रसादत्व का परिचय दिया है। नील घन से उनके कृष्ण वर्ण का आभास होता है वहां घन-शावक से उनकी चंचलता, कोमलता एवं पवित्रता का। श्रद्धा की स्मिति रीति-कालीन नायिकाओं की भांति तिरछे नेत्रों वाली चपल मुस्कान नहीं है, अपितु रक्त

---

१. कामायनी, पृ० २२
२. कामायनी, पृ० २२
३, वही, पृ० ५५
४. कामायनी, पृ० ५५

किसलय पर पड़ती हुई किरण के अभिराम आलस्य के सदृश सात्विक एवं भोली मुस्कान है। इन उपमानों से कवि ने एक साथ तीन प्रयोजन सिद्ध किए हैं। आकृति एवं गुण साम्य के अन्तर्गत कोमलता एवं मसृणता की भी प्रतित होती है। शावक इधर उधर चौकड़ी भरते हैं उसी प्रकार इससे केशों के उड़ते हुए होने का भान भी हो जाता है। साथ ही उन्होंने अपनी श्रद्धा को समस्त रीतिकालीन शृंगार के पंख से निकाल कर शुद्ध सात्विक शृंगार के सिंहासन पर आसीन कर दिया है।

गर्भवती क्लान्त श्रद्धा के लिए प्रयुक्त 'केतकी गर्भ सा पीला मुंह'[१] कितना सात्विक एवं सांकेतिक उपमान है। इन सूक्ष्म उपमानों का सौन्दर्य भी दर्शनीय है-

'करुणा की नव अंगराई सी, मलयानिल की परछाई सी,—
इस सूखे तट पर छिटक छहर।'[२]

कहीं कहीं तो उन्होंने उपमाओं की झड़ी सी लगा दी है। वाणभट्ट के समान एक ही उपमेय के लिए अनेक लम्बी लम्बी उपमाओं का सृजन कर दिया है। किन्तु वे पिष्ट-प्रेषण अथवा पर्यायवाची सी प्रतीत न होकर वस्तु को और अधिक मूर्त एवं स्पष्ट रूप प्रदान करने वाली हैं। यथा—

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश
मधुर मुरली सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना दुती सी तुम कौन[३]

चन्द्र की विश्राम राका बालिका सी कान्त।
विजयनी सी दीखती तुम माधुरी सी शान्त।
पददलित सी थकी व्रज्या ज्यों सदा आक्रान्त।
शस्य श्यामल भूमि में होती समाप्त अशान्त।[४]

प्रसाद के उपमानों के क्षेत्र का अनन्त विस्तार है। जीवन और जगत का कोई भी कोना ऐसा अछूता नहीं बचा है, जहां से उन्होंने मनोरम उपमान न चुने हों। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

---

१. कामायनी, पृ० १५०
२. लहर, पृ० ९
३. झरना, पृ० १४
४. कामायनी, पृ० १०१

'जवा कुसुम-सी उषा'[1] सपनों की सोनजुही,[2] हीरे सा हृदय हमारा,[3] मनोवृत्तियां खग कुल सी,[4] बिजली की रेखा की तरह टेढ़ी—राजशक्ति,[5] महत्व-कांक्षा का मोती,[6] निष्ठुरता की सीमी,[7] मकरन्द मेघमाला सी वह स्मृति,[8] फल्गु की धारा सा वामा का हृदय,[9] अतृप्त जलधि ।[10] प्रस्तुत कतिपय उपमानों को तो कवि ने इसी दृश्य जगत् पृथ्वी, व्योम एवं सागर पर्यन्त तक से ग्रहण किए है। कवि का कल्पनालोक यहीं तक सीमित नही है, उसने मनोविज्ञान एवं अन्य समस्त शास्त्रों एवं कलाओं से उपमान चुनते हुए अपनी ज्ञान-राशि का पर्याप्त प्रयोग किया है। इन उपमानों पर कवि के सहज विद्वतापूर्ण व्यक्तित्व की छाप स्पष्टतः परि-लक्षित होती है। अवलोकनार्थ कुछ उपमाएं प्रस्तुत हैं—

उत्साह सदृश अभिनव उज्जवल आलोक,[11] धरा के तरल अवसाद सी[12] बढ़ने लगा विलास वेग सा,[13] प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द,[14] अधम पात्रमय सा विष्कम्भ,[15] प्रकृति अनागत पतिका,[16] करूणा की नव अंगराई सी,[17] दक्षिण नायक की तरह,[18] ईश दया सी छाई है,[19] आदि अगणित उपमान ऐसे हैं जिनका प्रयोग हम दैनिक जीवन में अनेक वार करते हैं। मनोविज्ञान के लिए ये शब्द नवीन नहीं हैं। साहित्य-शास्त्र व अन्य पौराणिक ग्रन्थों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को भी प्रसाद ने अपने साहित्य में प्रतिष्ठित करके, उन्हें एक नवीन सौन्दर्य प्रदान किया है। उनके गद्य साहित्य में वस्तु-जगत् से ग्रहण किए गए उपमानों का अतुल भण्डार है।

प्रसाद की चेतन्य सजग दृष्टि ने वस्तु जगत् की जड़ वस्तुओं को भी चेतन का सामीप्य प्रदान किया हैं। यथा सिंह द्वार है खुला दीन के मुख सदृश,[20] मन्दिर के द्वार सी खुली आंखें,[21] विस्मृति का नीला परदा (प्रेम पथिक पृ० १८) रिक्त चषक सा

---

१. लहर, पृ० ४०
२. आंसू, पृ० ५४
३. आंसू, पृ० ३०
४. झरना, पृ० ५
५. अजात शत्रु, पृ० १०३
६. चन्द्रगुप्त, पृ० १७७
७. चन्द्रगुप्त, पृ० १७७
८. आंसू, पृ० ३५
९. कानन कुसुम, पृ० ७०
१०. आंसू पृ० २२
११. प्रेम पथिक, पृ० २४
१२. लहर, पृ० ७२
१३. कामायनी, पृ० २३
१४. कामायनी, पृ० ५३
१५. कामायनी, पृ० २६
१६. करूणालय, पृ० २६
१७. लहर, पृ० ९
१८. इन्द्रजाल, पृ० ३६
१९. प्रेमपथिक, पृ० ९
२०. कानन कुसुम, पृ० १०८
२१. आंधी, पृ० ९७

चन्द्र,[१] पिण्ड पारद के समान,[२] शरबत में हरे नींबू के रस सी,[३] प्रेम की अफीम,[३] लावण्य शैल राई सा,[४] महत्त्वकांक्षा का प्रदीप्त अग्निखण्ड आदि।[५]

इन उपमाओं के अतिरिक्त कवि ने कुछ ऐसी विशेष उपमाओं की रचना की है, जिनका नितान्त निराला व्यक्तित्व है। कवि की कल्पना सृष्टि में उसका आनन्द लेने के लिए सहृदय को भी अपनी कल्पना को पूर्ण सजग बनाना होगा। यथा—धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,[६] प्रकृति के हस्ताक्षर के समान बिजली की रेखा,[७] प्रथम भाषण ज्यों अधरन में [८] मुखरित आभूषण से सुन्दर करते कलरव बात विहंग,[९] प्रेम सुतीर्थ आदि।[१०]

इन उपमाओं में प्रकृति-जगत् से लिए गए उपमानों का उल्लेख नहीं किया गया। समस्त छायावादी साहित्य प्रकृति-प्रांगण में ही फला-फूला है। प्रसाद का समस्त साहित्य प्रकृति की भीनी-भीनी गन्ध से सुवासित है। प्रायः सभी छायावादी कवियों को उपमा अलंकार बहुत प्रिय है, प्रसाद, पंत और निराला तीनों के ही उपमानों का अपना-अपना सौन्दर्य है। परन्तु पंत जहां प्रकृति के कोमल कोनों में ही विचरण करते रहे, वहां प्रसाद ने सजग दृष्टि से वृष्टि के प्रत्तेक कण-कण का अवलोकन किया है। उन्होंने प्रकृति, आकाश, पृथ्वी, शास्त्र, साहित्य, कला सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा एवं कल्पना का प्रयोग किया है। विशेष उल्लेखनीय है कि उनकी ऐन्द्रिय चेतना इतनी सजग है कि प्रत्येक उपमान का जहां स्वतन्त्र व्यक्तित्व है वहां अपने उपमेय के प्रति इतनी समानता रखता है कि उसका स्थानापन्न कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। इतने पर भी वह कहीं भी अव्यावहारिक प्रतीत नहीं होता।

प्रसाद की सूक्ष्म एवं गहन संवेदना का सौन्दर्य उनके सूक्ष्म के प्रति स्थूल एवं स्थूल के प्रति सूक्ष्म उपमानों में और भी अधिक मूर्त हो उठा है। इन उपमानों में कवि का कौशल दर्शनीय है—

मूर्त के लिए अमूर्त उपमान

आगया फिर पास क्रीड़ा शील अतिथि उदार[११]
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार।

---

१. झरना, पृ० ११
२. इन्द्रजाल, पृ० ६५
३. विशाख, पृ० ४७
४. अजातशत्रु पृ० १५६
५. झरना, पृ० १४
६. छाया पृ० ३१
७. चित्राधार, पृ० १७०
८. कामायनी पृ० १९०
९. झरना पृ० ६
१०. झरना, पृ० ६
११. कामायनी, पृ० ९३

अमूर्त के लिए मूर्त उपमान

मृत्यु अरी चिर निंद्रे ।
तेरा अंक हिमानी सा शीतल ।[1]

उत्प्रेक्षा—

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा के पश्चात् उत्प्रेक्षा छायावादी कवियों का प्रिय अलंकार रहा है। प्रस्तुत कवि ने इस अलंकार के अन्तर्गत वस्तु-वर्णन या भाव-वर्णन को अधिकाधिक सजीव बना दिया है। इस सजीवता के साथ प्रस्तुत सादृश्य सम्भावनाएं बुद्धि ग्राह्य भी बन गई हैं। उत्प्रेक्षा का यह अनूठा सौन्दर्य दर्शनीय है—

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घन श्याम
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम

तथा

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अध खुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।[2]

उत्प्रेक्षा के तीन भेद होते हैं। वस्तुप्रेक्षा, हेतूत्पेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा। कवि के साहित्य में तीनों ही प्रकार की उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण प्रभूत संख्या में हैं। साथ ही प्रत्येक उत्प्रेक्षा पर कवि की स्पष्ट छाप अंकित है। तीनों ही उत्प्रेक्षाओं की एक झांकी अवलोकनीय है—

हेतूत्प्रेक्षा—

बार बार उस भीषण रव से
कंपती धरणी देख विशेष,
मानों नील व्योम उतरा हो
आलिंगन हेतु अशेष ।[3]

---

१. कामायनी, पृ० २६
२. कामायनी पृ० ५४
३. वही, पृ० २२

प्रस्तुतप्रेक्षा—

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर दूर तक फैल रहीं,
शरद इन्दिरा के मन्दिर की
मानो कोई गैल रही।[१]

फलोत्प्रेक्षा—

उनको देख कौन रोया
यों अन्तरिक्ष में बैठ अधीर,
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय
यह प्रालेय हलाहल नीर।[२]

रूपक—

इस अलंकार में उपमानों द्वारा उपमेय का स्वरूप बोध करवाया जाता है। उपमान इतने सजीव होते हैं कि उपमेय के रूप का सौन्दर्य एक सजीव बिम्ब के रूप में साकार हो उठता है। प्रायः प्राचीन एवं नवीन सभी महाकवियों ने रूपक को अपनाया है। रूपकों की दृष्टि में महाकवि तुलसीदास का साहित्य में सर्वोच्च स्थान है। प्रसाद के रूपक तुलसीदास के समान लम्बे तो नहीं है, परन्तु प्रकृति के मनोरम-रमणीय उपकरणों द्वारा निर्मित होने के कारण उनका विशिष्ट सौन्दर्य एवं लावण्य दर्शनीय है। उनके अधिकांश रूपकों का निर्माण प्रकृति-सौन्दर्य अथवा नारी-सौन्दर्य चित्रण के लिए हुआ है। उनका उषा नागरी का सौन्दर्य रूपक के माध्यम से दर्शनीय है :-

सांगरूपक—

बीती विभावरी जागरी
अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट उषा नागरी।
खग कुल-कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।[३]

और यह चिन्ता का रूप भी रूपक के माध्यम से कितना मूर्त हो उठा है—

निरंगरूपक—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली.

---

१. कामायनी, पृ० ३६
२. वही, पृ० २१
३. लहर, पृ० १९

ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प सी मतवाली
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा,
हरी भरी सी दौड़-धूप,
ओ जल-माया की चल रेखा।[१]

परम्परित रूपक :-

उषा नागरी के पश्चात् विश्व-कमल की भ्रमरी के रूप में रजनी-सौन्दर्य भी दर्शनीय है। इस रूपक के निर्वाह में कवि की मनोरम-मधुर कल्पना का अच्छा विस्तार हुआ है :-

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी रजनी तू किस कोने से-
आती चूम चूम चल जाती पढ़ी हुई किस टोने से। [२]

रूपकातिशयोक्ति—

इस अलंकार के अन्तर्गत केवल उपमानों द्वारा उपमेय का स्वरूप बोध करवाया जाता है। कवि सजीव उपमानों का नियोजन इतने क्रमानुसार करता है कि उपमेय की गतिविधियां चल-चित्र के समान साकार हो उठती है। उसका रूप सौन्दर्य सजीव प्रतीत होने लगता है।

विरोधी विशेषणों द्वारा विरहगत प्रेम की व्यंजना इस प्रकार के माध्यम से कितनी सुन्दर एवं सजीव बन गई है-

शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृगजल का।
यह व्यर्थ श्वास चल-चलकर
करता है काम अनिल का।।[3]

सृष्टि में कोई भी ज्वाला शीतल नही होती। किन्तु प्रेम में विरह दग्धता के साथ प्रेमी के प्रेम के आत्मविश्वास की शीतलता भी होती हैं। इस प्रकार विरोध सामंजस्य द्वारा इस अलंकार को कवि ने और भी विशिष्ट बना दिया है।

---

१. कामायनी, पृ० १३
२. कामायनी, पृ० ४७
३. आंसू पृ० १०

एक अन्य रूपकातिशयोक्ति जिसका निर्माण राग रंजित संध्या को लक्ष्य कर दिया गया है-दर्शनीय है—

जब कामना सिंधु तट आई ले संध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी तू हंसती क्यों अरी प्रतीप।[1]

विरोधाभास :—

उत्प्रेक्षा के समान विरोधाभास अलंकार छायावाद काल में कवियों का अत्यन्त लोकप्रिय अलंकार रहा है। इस अलंकार में उपमेय एवं उपमान में विरोध सा प्रतीत होता है। किन्तु जैसे जैसे अर्थ की गहराई में प्रवेश करके देखा जाता है, तो अर्थ गाम्भीर्य स्पष्ट होने लगता है और सहृदय उसके सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है। प्रसाद के साहित्य में तो इन विरोधाभास अलंकारों की शोभा अद्वितीय है। आंसू की विरह-व्यंजना तो विरोधाभासों के मध्य ही पल्लवित हुई है। इसके अतिरिक्त कामायनी, लहर, व अन्य गद्य-साहित्य में भी यत्र-तत्र अनेकों विरोधाभास बिखरे पड़े हैं, जिनसे प्रसाद का उनके प्रति लगाव प्रकट होता है। कतिपय विरोधाभास अवलोकनीय हैं—

बाडव ज्वाला सोती थी
इस प्रणय सिंधु के तल में
प्यासी मछली-सी आंखें
थीं विकल रूप के जल में।[2]

शीतल ज्वाला जलती थी
ईंधन होता दृग जल का।[3]

हीरे सा हृदय हमारा
कुचला शिरीष कोमल ने।[4]
कल्याणी शीतल ज्वाला[5]

जलधि लहरियों की अंगड़ाई

१. कामायनी, पृ० ४६
२. आंसू, पृ० १०
३. वही, पृ० १०
४. वही, पृ० ६३
५. आंसू पृ० ६३

बार बार जाती सोने ।[1]
—भयानक और सुन्दर मूर्ति[2]

इसी प्रकार 'मधुमय अभिशाप,' 'भयानक रमणीयता,' 'विजय का अंधकार,' 'आंसू से धुला निखरता यह रंग अनोखा कैसा ।' आदि अनेक विरोधी तत्वों का मधुर सामंजस्य प्रसाद के साहित्य में अपना सौन्दर्य विकीर्ण कर रहा है ।

इन अलकारों के अतिरिक्त प्रसाद ने अन्य अनेक प्रचलित अंलकारों को भी बड़ी ही कुशलता से अपने साहित्य में प्रतिष्ठित किया है, यथा अर्थान्तिरन्यास, सन्देह, समासोक्ति, अपन्हुति, उदाहरण, उल्लेख, परिकर, परिकरांकुर, काव्यलिंग, विभावना, निदर्शना, प्रौढ़ोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, मुद्रा आदि । इनमें से कतिपय अलंकारों का सौन्दर्य दर्शनीय है ।

अर्थान्तिरन्यास

जलनिधि के तलवासी जलचर
विकल निकलते उतराते,
हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी
कौन ! कहाँ ! कब ! सुख पाते ?[3]

काव्यलिंग

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी
सच ही है श्रीमान् भोगते सुख वन में भी ।[4]

संदेह

थी किस अनंग के धनु की
वह शिथिल शिंजनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या
तनु छवि-सर की नव लहरी ?[5]

सहोक्ति

बालू की दीवाल मुगल—साम्राज्य की
आर्य शिल्प के साथ गिरा वह भी—

---

१. कामायनी, पृ० ३०
२. स्कन्दगुप्त, पृ० ४४
३. कामायनी, पृ० २४
४. कानन कुसुम, पृ० ९६
५. आसूं, पृ० २४

जिसे, अपने कर से खोदा आलमगीर ने[1]

पाश्चात्य अलंकार

प्रसादजी ही नहीं प्रायः सभी छायावादी कवियों ने कतिपय पाश्चात्य अलंकारों को अपनाया है। इनमें मानवीकरण या व्यक्तिकरण जिसे अंग्रेजी में पर्सोनिफिकेशन (Personification) कहते हैं एवं विशेषण विपर्यय प्रमुख हैं। छायावाद काल में प्रकृति को एक चेतना सत्ता मान कर उस पर भावों का आरोप करना कवियों की विशेष प्रवृत्ति रही है। प्रकृति ही उनके साहित्य का प्रमुख उपकरण है। उनकी नायिका का श्रृंगार प्रकृति के सात्विक उपकरण करते हैं। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न रूपों में अपने भावों का आभास पाया तथा उसे सजीव मानवीय रूप प्रदान किया है। यद्यपि संस्कृत में कालिदास, वाल्मिकी प्रभृति महाकवियों ने भी प्रकृति पर चेतन सत्ता का आरोप किया है, परन्तु हिन्दी साहित्य के छायावाद काल में इस प्रवृत्ति का जितना व्यापक प्रसार हुआ है उतना अन्य किसी काल में नहीं हुआ।

प्रसाद प्रमुख रूप से मानव-सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने प्रकृति में सर्वत्र मानवीय चेतना के दर्शन किए हैं। उनके साहित्य में मानवीकरण के चित्रों का अनन्त भण्डार है। उनकी चंचला प्रकृति बाला एवं ऊषा नागरी का अप्रतिम सौंदर्य दर्शनीय है—

उच्च शैल शिखरों पर हंसती
प्रकृति चंचला बाला,
धवल हंसी बिखराती अपनी
फैला मधुर उजाला।[2]
बीती विभावरी जागरी।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
ताराघट ऊषा नागरी।
खग- कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये

---

१. कानन कुसुम, पृ० १०८
२. कामायनी, पृ० ?२७

अलकों में मलयज बन्द किये
तू अब तक सोई है आली।
आंखों में भरे विहाग री।[1]

प्रस्तुत कविता में उषा नायिका मधुर मानवीय क्रियाओं से युक्त चित्रित की गई है।

उषा और रजनी के श्रृंगार पूर्ण अनेक रमणीय चित्रों में प्रसादजी ने अपने साहित्य को मधुर आलोक एवं विरंगी आभा प्रदान की है। उनके मानवीयकरण के अधिकांश चित्र नारी रूप में अंकित हैं।

व्यक्तिकरण का एक और सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

पवन पी रहा था शब्दों को,
निर्जनता की उखड़ी सांस,
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि
बनी हिमशिलाओं के पास।[2]

पवन का शब्दों को पीना और निर्जनता की श्वास उखड़ना मानों वह कोई वृद्धा स्त्री है तथा दीन प्रतिध्वनि का हिमशिलाओं से टकराना ऐसे चित्र हैं, जिनसे एक ओर वातावरण की गम्भीरता, भयानकता एवं सूनापन प्रकट हो रहे हैं, वहीं दूसरी ओर पवन, निर्जनता एवं प्रतिध्वनि को सजीव स्वरूप भी प्राप्त हुआ है। अमूर्त प्रकृति-तत्त्वों को इस प्रकार सजीव-चेतन रूप प्रदान करने में प्रसाद विशेष सिद्धहस्त हैं।

प्रकृति ही नहीं प्रस्तुत कवि ने अमूर्त भावों को भी अत्यन्त रमणीय मानवीय रूप प्रदान किया है। कामायनी में लज्जा सर्ग तो पूर्ण रूपेण ऐसे चित्रों से अलंकृत है। एक चित्र दर्शनीय है :

वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उंगली धरे हुए।
माधव के सरस कुतूहल का
आखों में पानी भरे हुए।
किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग कण राग-भरे,

---

१. लहर, पृ० १९
२. कामायनी, पृ० २७

सिर नीचा कर हो गूंथ रही
माला जिससे मधु धार ढरे ?[1]

प्रकृति एवं अमूर्त भावों के मानवीयकरण में प्रसाद को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। उनकी कल्पना को मूर्तिकरण की अद्भुत शक्ति प्राप्त है। उनकी ये प्रकृति एवं अमूर्त भावों द्वारा निर्मित अधिकांश मूर्तियां कोमल रमणीय एवं अनुरागरंजित मूर्तियां हैं।

विशेषण विपर्यय

मानवीयकरण के पश्चात छायावादी कवियों का प्रिय अलंकार है विशेषण विपर्यय (Transferred epethet) इसके अन्तर्गत उक्ति में अधिक अर्थगाम्भीर्य एवं सौन्दर्य लाने के लिए लक्षणा की सहायता लेते हुए विशेषण विपर्यय कर दिया जाता है। प्रस्तुत छन्द में विशेषण विपर्यय का सौन्दर्य दर्शनीय है—

मधुमालतियां सोती हैं कोमल उपधान सहारे[2]
नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,
जलधि लहरियों की अंगड़ाई
वार वार जाती सोने[3]

ध्वन्यर्थव्यंजन (Onomatopoeia) अथवा 'ओनोमेटोपोइया'— इस अलंकार के द्वारा कवि शब्दों की ध्वनियां द्वारा ही अर्थ को चित्रित कर देते हैं। विशेष ध्वनियां भावों को मूर्तरूप प्रदान कर देती हैं। प्रसाद ने शब्दों और ध्वनियों के मर्म में पैठ कर उनका प्रयोग किया है। एक दृष्टान्त द्रष्टव्य है—

धीरे धीरे लहरों का दल,
तट से टकरा होता ओझल,
छप छप का होता शब्द विरल,
थर थर कंप रहती दीप्ति तरल,

....

ये चमक रहे दो खुले नयन
ज्यों शिलालग्न अनगढ़े रतन;

---

१. कामायनी, पृ० १०५
२. आंसू, पृ० ३६
३. कामायनी, पृ० ३०

यह क्या तम में करता सनसन ?
धारा का ही क्या यह निस्वन ।[1]

छप, छप, थर थर, एवं सन सन ध्वनियों द्वारा वातावरण का निर्माण किया गया है। इन ध्वनियों में भी यह उल्लेखनीय है कि चाहे मधुर वातावरण हो अथवा भयानक व निर्जन, कवि ने प्रायः कोमल ध्वनियों को ही अपनाया है। प्राणध्वनियों का प्रयोग उनकी मधुवृत्ति को प्रिय नहीं है।

प्रसाद अलंकार वादी नहीं है फिर भी उन्होंने प्राचीन एवं नवीन अलंकारों को अपने ही अनुकूल बनाकर अपनाया है। उनकी विशेष प्रवृत्ति सादृश्यमूलक अलंकारों में लीन हुई है। उन्होंने मूर्त–अमूर्त, अप्रस्तुत–प्रस्तुत की सादृश्य योजना का निर्माण–इस प्रकार किया है कि भाव अपनी सम्पूर्ण तीव्रता के साथ मूर्त रूप ग्रहण कर लेता है। नेत्रों के सम्मुख भाव के स्वरूप एक विम्ब निर्मित हो जाता है। उनकी दृष्टि बड़ी सजग एवं व्यापक है। उनके उपमानों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। सृष्टि में व्याप्त पृथ्वी, समुद्र एवं आकाश पर्यन्त ही नहीं उन्होंने विज्ञान, कला, शास्त्र, साहित्य आदि वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र से उपमानों का चयन किया है। उन्होने रूप–आकृति अथवा बाह्य सादृश्य के साथ ही आन्तरिक सादृश्य पर अधिक ध्यान दिया है। सूक्ष्म के प्रति स्थूल एवं स्थूल के प्रति सूक्ष्म योजना में प्रसाद को विशेष सिद्धहस्तता प्राप्त है।

सादृश्यमूलक अलंकारों के अतिरिक्त उन्होंने अन्य अलंकारों का भी प्रयोग किया है किन्तु वे आवश्यकतानुसार स्वयं ही प्रस्तुत हो गये है। कवि ने उनकी ओर विशेष आकर्षण नहीं दिखाया है।

(घ) छन्द योजनागत

नदी की स्वाभाविक धारा से जो काम न चल पाता, वह उसकी गति के क्षेत्रों को कम कर, बांधकर, अधिक तेज बना कर किया जाता है. और इस प्रकार शक्ति पैदा करने का वह एक अद्भुत् साधन बन जाती है। साधारण वाक्य में जो प्रवाह और क्षमता लक्षित नहीं होती, वह छन्द व्यवस्था से पैदा करली जाती है।[2] वैसे तो सम्पूर्ण साहित्य हृदय का व्यापार है, किन्तु छन्द की बन्धाई निश्चित लय एवं गति के कारण भाव और भी अधिक तरल होकर सम्प्रेषणीय एवं मर्म-स्पर्शी बन जाता है। यही कारण है कि दर्शन के विशाल ग्रन्थों की अपेक्षा सूर एवं

१. कामायनी, पृ० २५४, २५५
२. डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० ५८२

कबीर के पद अधिक सुगम एवं सम्प्रेषणीय हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कुछ निश्चित मात्राओं एवं लय की सीमा में बद्ध साहित्य ही सुन्दर अथवा कलात्मक होता है। किन्तु यह भी मानना पड़ता है कि एक ही भाव के गद्य रूप में एवं छन्द-बद्ध रूप में कुछ अन्तर अवश्य प्रतीत होता है। डा० नगेन्द्रजी ने गद्यबद्ध एवं छन्दबद्ध साहित्य का अन्तर बताते हुये बड़ा सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है कि जंगल में खिले हुये गुलाब और किसी नागरिक के सुसज्जित कमरे में गुलदस्ते में सजे हुये गुलाब की सौन्दर्यानुभूति में थोड़ा अन्तर अवश्य पड़ जाता है।'[1]

रसात्मक भावों के उद्वेलन के कारण साहित्य कविता के रूप में फूट पड़ता है एवं विकारों की अधिकता के कारण गद्य भाषा तर्कमयी एवं विश्लेषणात्मक हो जाती है। कविता स्वयंमेव नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना, मधुर भावों एवं संगीतात्मकता के प्राचुर्य के कारण एक लय एवं गति में बंधी हुई निःसृत होती है। वह हमारे हृदय का संगीत है और संगीत के लिये बन्धन अनिवार्य है। प्रकृति के सुकुमार कवि पंत ने भी कविता के लिये छन्द का होना अनिवार्य कहा है—कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पंदन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।—छन्दबद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है, उनमें राग की विद्युत धारा बहने लगती वे, उनके स्पर्श में एक प्रवाह तथा शक्ति पैदा हो जाती है।[2]

छन्द दो प्रकार के होते हैं। मात्रिक छन्द एवं वार्णिक छन्द। पद्य के प्रत्येक चरण में एक निश्चित मात्राओं वाले शब्दों की संगति करके, यति एवं विराम द्वारा कविता में लयात्मकता एवं संगीतात्मकता की सृष्टि की जाती है, उन्हें मात्रिक छन्द कहते हैं। हिन्दी साहित्य में मात्रिक छन्द ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। इनके लिये यहां तक कहा गया है कि हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वार्णिक छन्दों में नहीं।'[3]

---

१. भारतभूषण अग्रवाल, डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० ४

२. सुमित्रानन्दन पंत, पल्लव, पृ० ३०, ३१

३. सुमित्रानन्दन पंत, पल्लव की भूमिका, पृ० २३

वार्णिक छन्दों के अन्तर्गत कुछ निश्चित वर्णों की योजना द्वारा कविता में सौंदर्य-सृष्टि की जाती है। संस्कृत साहित्य में वार्णिक छन्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। हिन्दी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस परम्परा के अन्तर्गत संस्कृत वर्णवृत्तों के आधार पर अपने महा काव्य 'प्रिय प्रवास' की रचना की है।

छन्द-विधान की दो शैलियां होती हैं—तुकान्त एवं अतुकान्त। तुकान्त छन्द में कविता की प्रथम पंक्ति के अंतिम वर्ण अथवा मात्रा की आवृत्ति-क्रम से उसकी अन्य पंक्तियों के अन्त में होती है। इस तुक के कारण छन्द की संगीतात्मकता में वृद्धि होती है। अतुकान्त छन्दों में अन्तिम वर्ण अथवा मात्रा की आवृत्ति नहीं होती। उनमें केवल स्वर एवं भावों के उतार चढ़ाव द्वारा एक विशिष्ट लयात्मकता उत्पन्न की जाती है। अतः भिन्न तुकान्त काव्य रचना के लिये एक विशेष कौशल की अपेक्षा होती है। संस्कृत में भिन्न तुकान्त वार्णिक छन्दों का वहुत प्रचलन रहा है। हिन्दी के भी आधुनिक कवियों, विशेप रूप से छायावादी कवियों ने अतुकान्त कविता को प्रश्रय दिया है।

प्रसादजी निसर्ग कवि थे। उनकी भावधारा जिस रूप में, जिस वेग से निस्सृत हुई, उस पर उन्होंने कोई वन्धन नहीं लगाया वह स्वयंमेव ही नाना प्रकार के मात्रिक, वार्णिक, तुकान्त, अतुकान्त छन्दों के आकार में ढलती गई। यही कारण है कि उनके साहित्य में छन्द वैविध्य की विपुलता है। उन्होंने न केवल हिन्दी के प्राचीन एवं नवीन छन्दों को ही अपनाया है अपितु वंगला एवं अंग्रेजी के छन्दों को भी उसी स्वतन्त्रता एवं सहजता से अपना लिया है। आवश्यकतानुसार दो भिन्न छन्दों का मिश्रण करके एक नवीन छन्द की सृष्टि करना भी प्रसाद की ही विशेपता है। कतिपय छन्द प्रसादजी ने अपनी प्रतिभा से निर्मित किए हैं।

कवि का अधिकांश काव्य कतिपय रचनाओं को छोड़ कर तुकान्त ही है। किन्तु उनकी अतुकान्त रचनाएं भी अभूतपूर्व कौशल से समुत्पन्न हैं। उनकी लय एवं गति सायास वांधी हुई नहीं है। कवि ने भाव के अनुसार स्वर, यति, विराम चिह्न देकर भावों के सौन्दर्य को अक्षुण्य रखा है। इनकी अतुकान्त रचनाएं भी दो प्रकार के छन्दों में आवद्ध है—अतुकान्त सममात्रिक छन्द एवं अतुकान्त विषम मात्रिक छन्द।

अतुकान्त सममात्रिक छन्दों मे प्रत्येक पंक्ति की लम्बाई समान होती है—यथा–प्रेम-पथिक एवं करूणालय की पंक्तियां दर्शनीय हैं। प्रेम पथिक में ३० मात्राओं वाला ताटंक छन्द प्रयुक्त हुआ है। कहीं कहीं इसमें ३१ मात्राओं वाली पंक्तियां भी दृष्टिगत होती हैं, परन्तु उनसे छन्द के सौन्दर्य में कोई अभाव परिलक्षित नहीं होता। महाराणा का महत्त्व २१ मात्राओं वाले अतुकान्त छन्द में गूंथा गया है।

इसमें वर्ण विन्यास का प्रवाह और श्रुति के अनुकूल गति[1] छन्द के सौन्दर्य में अभिवृद्धि कर रही है। कानन कुसुम की २४ मात्राओं वाली 'निशीथ नदी', एवं झरना की १९ मात्राओं वाली 'मिलन' आदि कविताओं का सौन्दर्य भी दर्शनीय है। करूणालय की छन्द-सृष्टि में तो कवि का अद्भुत कौशल प्रकट हुआ है।

गीतिनाट्य के ढंग पर लिखा गया दृश्य नाट्य 'करुणालय' तुकान्त विहीन मात्रिक छन्द में है, जिसमें वाक्य की आवश्यकता के अनुसार पंक्ति के अन्त में, या कहीं भी बीच में भी, विराम चिह्न दिया गया है। यह छन्द संस्कृत के कुलक, अंग्रेजी के ब्लैंकवर्स, बंगला के अमित्राक्षर छन्द के ढंग का है।[2] मात्रिक वृत्तों में उसका प्रयोग तथा भावों और वाक्यों की चरणों के बन्धन में न पड़कर—स्वतन्त्र गति, आरम्भ और अवसान—प्रसाद जी की ही सृष्टि है। वृत्तों में ऐसी स्वतन्त्रता पाकर भाषा में एक विलक्षण प्रवाह और रस आ जाता है, जो बहुत आनन्ददायक होता है। प्रस्तुत पुस्तक इसका प्रमाण है।[3] करूणालय २१ मात्राओं वाले छन्द में रचित है।

सममात्रिक अतुकान्त छन्दों के अतिरिक्त मुक्त अतुकान्त छन्दों में भी उन्हें उतनी ही सफलता मिली है। इन छन्दों में लय अथवा मात्रा का बन्धन न होकर भावों के उतार चढ़ाव द्वारा ही पंक्तियों के आकार का निर्माण हुआ है। एक पंक्ति यदि बहुत छोटी है तो दूसरी उसके अनुपात में बहुत लम्बी है। लहर की अन्तिम तीन कविताएं (शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, 'प्रलय की छाया') इस दृष्टि से अवलोकनीय है। भावों के आरोह अवरोहों का मुक्त छन्द में बाधा रहित विकास हुआ है—

समर शशि किरणें
स्पर्श करती थी जिस मेरे अंग पर।
अनुरागपूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्जरेश पां वड़े बिछाते रहे पलकों के,
तिरते थे—
और परिवर्तन वह।
क्षितिज पटी को आन्दोलित करती हुई
नील मेघ-माला-सी

---

१. महाराणा का महत्त्व, कथन पृ० १
२. करूणालय की सूचना
३. करूणालय का प्रकाशकीय

नियति-नटी थी आई सहसा गगन में
तड़ित विलास सी नचाती भौंहें अपनी ।[1]

प्रसाद को भिन्न तुकान्त एवं मुक्त छन्द दोनों ही दृष्टि से साहित्य को समृद्ध बनाने का श्रेय दिया जा सकता है । छन्द के बन्धन के कारण न कहीं भाषा अथवा भाव में अवरुद्धता आई हैं और न ही कृत्रिमता का आभास होता है ।

प्रसाद द्वारा प्रयुक्त वार्णिक, मात्रिक एवं अन्य छन्दों का सौन्दर्य

प्रसाद ने छन्द क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का विशेष कौशल दिखाया है । जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, उन्होंने विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग ही नहीं किया अपितु नवीन छन्दों का निर्माण भी किया है । इन सभी प्रकार के छन्दों का सौन्दर्य अवलोकनीय है—

संस्कृत वर्णवृत्त—वार्णिक वृत्तों का प्रयोग संस्कृत में ही अधिक हुआ है । किन्तु प्रसाद ने हिन्दी में भी इस परम्परा को सुरक्षित रखते हुए उन्हें नवीन सौन्दर्य प्रदान किया है । द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, मालिनी, वंशस्थ आदि संस्कृत वर्णवृत्तों का बड़ा सुष्ठु प्रयोग हुआ है । मालिनी छन्द का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

प्रियजन दृग-सीमा से अभी दूर होते
यह नयन-वियोगी रक्त के अश्रु रोते-
सहचर-सुख क्रीड़ा नेत्र के सामने भी
प्रतिक्षण लगती है नाचने चित्र में भी ।[2]

इनके अतिरिक्त प्रसाद ने हिन्दी के भी प्राचीन एवं नवीन सभी प्रकार के छन्दों में अपनी काव्य रचना की है । जहां उन्होंने दोहा, चौपाई, छप्पय, सवैया एवं सोरठा को अपनाया है वहीं ताटंग, वीर, रोला, उल्लाला, पद्धरि, पद्धटिका, हरिगीतिका आदि छन्दों को भी समुचित सम्मान दिया है । ताटंक छन्द का तो कामायनी में सबसे अधिक प्रयोग हुआ है । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—

ताटंक—

निकल रही थी मर्म वेदना (१६ मात्राएं)
करूणा विकल कहानी सी । (१४ मात्राएं)

---

१. लहर, प्रलय की छाया, पृ० ६२, ६३
२. कानन कुसुम, विरह, पृ० ६८

पादाकुलक छन्द तो बहुत ही रमणीय बन पड़ा है। भाषा, भाव एवं छन्द सभी दृष्टियों से यह अपूर्व बन गया है—

मधुमय वसन्त, जीवन वन के
वह अन्तरिक्ष की लहरों में।

इसी प्रकार रूपमाला का उदाहरण भी—

चल पड़े कबसे हृदय दो, पथिक से अश्रान्त
यहां मिलने के लिए जो, भटकते थे भ्रान्त। (१४, १० अन्त में)

मिश्रित छन्द :—

प्रसादजी ने भावों की तीव्रता के अनुकूल छन्दों मे इच्छानुसार परिवर्तन कर दिया है। जैसे दो रागों के मेल से नवीन सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार दो प्रचलित छन्दों के सहयोग से एक नवीन सृष्टि हो गई है। जिसका अपना अलग ही महत्त्व है। उदाहरणार्थ पादाकुलक और पद्धरि छन्द का मिश्रण दर्शनीय है। पद्धरि १६ मात्रा का छन्द होता है। पादाकुलक भी १६ मात्रा का छन्द है जिसमें चार चार मात्राओं के चार चौकल बनते हैं :—

वह चन्द्रहीन थी एक रात— पद्धरि
जिसमें सोया था प्रात

उजले उजले तारक झलमल
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल
धारा वह जाती बिम्ब अटल

खुलता था धीरे पवन पटल— पादाकुलक

चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत,
सुनती जैसे कुछ निजी बात—[1] पद्धरि।

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी कवि ने चरित्र, वातावरण अथवा स्थल विशेष के अनुकूल भाषा एवं छन्द में परिवर्तन कर भावों की अक्षुण्यता को बनाए रखा है।

१. कामायनी, दर्शन सर्ग, पृ० २४१

अन्य भाषाओं के छन्द—

आलोच्य कवि ने केवल हिन्दी ही नहीं अपितु अंग्रेजी, बंगला एवं उर्दू के छन्दों को भी अपनाया है।

अंग्रेजी—

आंग्ल साहित्य का सोनेट अथवा चतुर्दशपदी छन्द बहुत प्रिय है। प्रसाद के जागरूक कवि ने इसे बड़ी सफलतापूर्वक अपनाया है। खोलोद्वार,[१] रमणी हृदय,[२] व स्वभाव[३] आदि प्रसाद की सफल चतुर्दशपदियां हैं।

बंगला—

हिन्दी में बंगला का पयार छन्द बहुत पहले ही भारतेन्दु ने प्रयुक्त किया था। प्रसाद ने संध्यातारा (चित्राधार) वर्षा में नदी कूल (चित्राधार) नामक कविताएं क्रमशः पयार व त्रिपदी छन्द में लिखी हैं। रसाल (चित्राधार) नामक कविता भी सम्भवतः बंगला के छन्दों से प्रेरित है।[४]

उर्दू—

उर्दू के स्वछन्द शेअर एवं गज़ल अपने माधुर्य एवं भाव गुम्फन के कारण बहुत लोकप्रिय हैं। प्रसादजी ने गज़ल के आधार पर अनेक कविताओं की रचना की है। किन्तु उनमें गज़ल का प्रचलित लोकप्रिय रूप देखने को नहीं मिलता। वस्तुतः ये कविताएं गजल नामक विधा से प्रेरित परिलक्षित होती हैं। 'प्रभो,' 'महाक्रीड़ा' और 'मोहन'[५] गज़ल-प्रभावित कविताएं सुन्दर बन पड़ी हैं।

नवीन छन्द—

कवि ने मिश्रित छन्द ही नहीं सर्वथा नवीन छन्दों का भी निर्माण कर, अपनी नवाविष्कृत प्रतिभा का परिचय दिया है। आंसू में प्रयुक्त छन्द जिसे कतिपय विद्वान 'आंसू' नाम से और कुछ आनन्द छन्द नाम से अभिहित करते है, प्रसाद द्वारा निर्मित छन्द है। यह छन्द मात्रिक है। इसमें २८ मात्राएं होती हैं, क्रमशः १४, १४ वीं मात्रा पर यति होती है। पदान्त में एक दीर्घ तथा एक लघु का प्रयोग इसमें नहीं किया जाता है। इस छन्द के पदान्त में दो लघु, दो दीर्घ और एक लघु दीर्घ आना चाहिये।[६] 'आंसू' में इस छन्द के सभी रूप दृष्टिगोचर होते हैं। विरह-

---

१. झरना, पृ०
२. कानन कुसुम, पृ० ७०
३. झरना
४. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, जयशंकर प्रसाद वस्तु और कला, पृ० ३९२
५. कानन कुसुम, पृ० १, ९, ८०
६. देवेन्द्र शर्मा इन्द्र, जयशंकर प्रसाद और आंसू, पृ० १०७

काव्य के लिए यह छन्द बहुत उपयुक्त रहा है। कामायनी में इड़ा सर्ग के पद यद्यपि पद पयति पर आधारित हैं, किन्तु उनकी मात्राओं की योजना सर्वथा नवीन है। रहस्य सर्ग में भी कवि ने ताटंक छन्द में परिवर्तन कर उसे नवीन रूप प्रदान किया है।

वस्तुतः प्रसाद सर्वप्रथम कवि हैं। कवि-हृदय का भावोद्वेलन जिस भी रूप में फूट पड़ा उसी ने छन्द का मनमाना आकार ग्रहण कर लिया। उन्होंने निश्चित रूप से छन्द की मात्राओं को ध्यान में रखकर काव्य-रचना नहीं की है। यही कारण है कि उनके छन्दों में इतना वैविध्य परिलक्षित होता है। फिर उनके छन्दों की यह विशेषता है कि वे न केवल मात्राओं के दृष्टिकोण से खरे उतरे हैं अपितु उनमें भाव के अनुसार ही ध्वनियों का भी प्रयोग किया गया है। उत्साह, ओज एवं भीषणता के लिए तथा कोमल भावों के लिए प्रयुक्त शब्दावली में पर्याप्त अन्तर द्रष्टव्य है।

दिग्दाहों से धूम उठे या जलधर उठे क्षितिज के

यही कारण है कि छन्दों की गति स्वयंमेव निर्मित हो गई है। इन सबके पश्चात् भी कहीं कहीं उनके छन्दों में यति भंग का दोष परिलक्षित होता है, परन्तु उन्होंने छन्दों के लिए काव्य रचना नहीं की थी वे स्वयंमेव उद्भूत हुए थे। अतः यह दोष परिहार्य है।

सप्तम अध्याय

सौन्दर्य द्रष्टा प्रसाद

अन्य कवियों के परिपार्श्व में

सौन्दर्य-द्रष्टा प्रसाद । अन्य कवियों के परिपार्श्व में

प्रत्येक कलाकार अपने से पूर्ववर्ती एवं समकालीन कलाकारों की कृतियों से प्रेरणा ग्रहण करता है। अपनी पूर्व-परम्पराओं के प्रभाव से वह नितान्त अक्षुण्ण नहीं रह सकता, साथ ही उसके विस्तृत अध्ययन का भी उसकी कृतियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है अतः किसी भी कलाकार को कला का उचित मूल्यांकन उसे अन्य कलाकारों की कृतियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही किया जा सकता है।

हिन्दी साहित्य में ही नहीं विश्व-साहित्य में इस प्रकार के अध्ययन की परम्परा चली आ रही है। हिन्दी में 'सूर और तुलसी' 'तथा देव और बिहारी' की तुलना प्रसिद्ध है तो अंग्रेजी साहित्य में 'शैली और कीट्स' की। प्रायः दो कवियों में समान विशेषताएं परिलक्षित कर उनका एक दूसरे के साथ नाम भी संलग्न कर दिया जाता है, यथा शेक्सपियर को अंग्रेजी का तुलसीदास कहा जाता है तो तुलसी को हिन्दी का मिल्टन। समान विशेषताओं के कारण ही पंतजी के साथ ही वर्ड्सवर्थ का नाम भी संलग्न कर दिया जाता है।

महाकवि जयशंकर प्रसाद के अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। अतः उनके साहित्य में न केवल हिन्दी अपितु संस्कृत एवं अंग्रेजी की कृतियों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। यहां सौन्दर्य की दृष्टि से उनकी रचनाओं की कतिपय अन्य कवियों की कृतियों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है।

संस्कृत कवि एवं प्रसाद

वैदिक कवि एवं प्रसाद

प्रथम मानव ने जब इस सृष्टि में नेत्र खोले तो सम्मुख प्रलय के पश्चात् अनन्त रमणीय विराट् स्वरूप प्रस्तुत था, जिसे देखकर वह भयभीत हो उठा। अपने भय के निवारण हेतु उसने प्रकृति के विभिन्न रूपों की उपासना आरम्भ कर दी। इन्द्र, सोम, वरुण एवं उषा आदि को उसने देवता का स्वरूप प्रदान किया। वैदिक कवियों ने प्रकृति के कोप से मुक्ति के लिए इन देवताओं के सौन्दर्य की व्यंजना करते हुए इनसे रक्षा की प्रार्थना की है।

प्रसाद जी ने वेदों का विधिवत् अध्ययन एवं मनन किया था। ऋग्वेद में प्रकृति-सौन्दर्य के अन्तर्गत उषा देवी के अनेक चित्र मिलते हैं। इनमें वह एक दैदीप्य-

मान प्रकाशवती देवी के रूप चित्रित हैं। प्रसादजी को उषा बहुत ही प्रिय है। उन्होंने उसके अलोकमय रमणीय चित्रों की संयोजना की है। अन्तर केवल यही है कि वैदिक उषा देवी है और प्रसाद की मानवी।

प्रसादजी इन्द्र के स्वरूप से भी बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। वह शक्तिशाली, वृषभ, के से कंधों वाला, दृढ़ शरीर वाला, प्रजाओं की रक्षा करने वाला अनन्त ऐश्वर्यशाली पुरुष है। प्रसाद जी की आदर्श पुरुष-सृष्टियां इन्द्र के रूप, सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य से पर्याप्त प्रभावित हैं। मनु इन्द्र के समान ही अवयव की दृढ़ मांसपेशियों से युक्त पौरुष से ओतप्रोत पुरुष हैं। इसी प्रकार अन्य पुरुष शारीरिक सौन्दर्य के साथ ही वीर, परिवार एवं समाज की रक्षा में संलग्न चित्रित किए गए हैं।

आदिकवि वाल्मीकि एवं प्रसाद

आदिकवि ने अपनी प्रसिद्ध कृति रामायण में सौन्दर्य के विभिन्न चित्र अंकित किये हैं। प्रकृति के विशाल पट्ट पर उनका यह महाकाव्य रचित है, जिसमें मानव प्रकृति एवं वस्तुगत सौन्दर्य के तो अनेक रूप अंकित है ही इसका कलात्मक रूप भी अनूठा है रामायण में राम सीतादि का वाह्य सौन्दर्य पवित्र भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है। उनके पात्रों के अन्तराल में अन्य मानवीय गुणों से आच्छादित करुणा की अन्तः सलिला प्रवाहित हो रही है। उन्होंने राम को पुरुषोत्तम एवं सीता को आदर्श नारी के रूप में अंकित किया है।

प्रसाद जी ने मनु एवं श्रद्धा के रूप में पुरुष और नारी सौन्दर्य का आदर्श स्वरूप प्रतिष्ठित किया है। पुराण-पुरुष मनु ही नहीं, उनकी समस्त पुरुष सृष्टियां उदात्त गुणों से अलंकृत होते हुए भी अन्त में मानव हैं। श्रद्धा भी कामपुत्री होते हुए भी समस्त स्त्रियोचित गुणों दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति, वात्सल्यादि से अलंकृत है।

वाल्मिकि के समान साहित्य में प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रों की संयोजना तो अधिक नहीं हुई है, परन्तु प्रकृति समस्त मानवीय चेतना सहित उनके साहित्य पर छाई हुई है। दोनों ही कवि अपने युग के सांस्कृतिक सौन्दर्य चेतना को ग्रहण करके चले हैं।

कालिदास एवं प्रसाद

कवि-कुल गुरु कालिदास ने ही संभवतः प्रसाद की सौन्दर्य-चेतना को सबसे अधिक प्रभावित किया है। दोनों ही कवियों की मूल काव्य-प्रेरणा सौन्दर्य और

प्रेम है। कालिदास ने मानव एवं प्रकृति दोनों के ही सौन्दर्य के अनन्य अनुपम चित्र अंकित किए हैं। उन्होंने अन्तः प्रकृति और वाह्य प्रकृति के सौन्दर्य में सुसामंजस्य स्थापित किया है। उनकी पार्वती एवं शकुन्तला का सौन्दर्य सरल स्वाभाविक एवं सात्विक भूमि पर प्रतिष्ठित है। शकुन्तला के स्वाभाविक-सरल स्वाभाविक एवं सात्विक भूमि पर प्रतिष्ठित है। शकुन्तला के स्वाभाविक-सरल सौदर्न्य को मण्डन की आवश्यकता नहीं है[1] मानों ब्रह्मा ने उसके एक एक अंग की रचना बड़े ही सोच-विचार के पश्चात् की है।

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुविभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः [2]

उसका सौन्दर्य अनाघ्रान्त पुष्प, अनाविद्ध रत्न और अनास्वादित रस के समान् सरल, सात्विक है।[3] प्रसाद को भी सरल, स्वाभाविक सौन्दर्य प्रिय है। उनकी श्रद्धा का सौन्दर्य भी प्रकृति के पवित्र उपमानों से अलंकृत होकर सात्विक एवं पवित्र भूमि पर स्थित अलौकिक वन गया है। दोनों ही कवियों ने शारीरिक सौन्दर्य के साथ ही मानसिक सौन्दर्य अथवा आन्तरिक सौन्दर्य की भी पर्याप्त अभिव्यंजना अपने सांस्कृतिक परिवेश में की है।

दोनों ही कलाकारों ने प्रकृति को सजीव एवं चेतना स्वरूप में अंकित किया है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि दोनों ने ही प्रकृति के प्रागंण से चयन करके अपने सौन्दर्य-रूपों को अलंकृत किया है। एक ओर कालिदास की शकुन्तला के वियोग में लताएं पीत-पर्णो के मिस अश्रुपात करती है तो दूसरी ओर प्रसाद को ऊषा, रजनी एवं संध्या नायिकाएं अपने अलौकिक श्रृंगार एवं रमणीय भाव भंगिमाओं द्वारा सबको मुग्ध किए हुए हैं, सागर करुणा प्लावित हो छलछल अश्रु वहा रहा है। कलिदास ने प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र भी पर्याप्त मात्रा में अंकित किए हैं, किन्तु प्रसाद ने उसे सर्वत्र मानवीय सुषमा से ही सम्पन्न चित्रित किया है।

"उपमा कालिदासस्य" तो प्रसिद्ध ही है। इस दृष्टि से प्रसाद को भी उनके समकक्ष रखा जा सकता है। दोनों ही कवियों को उपमा एवं लक्षणा वहुत प्रिय हैं। इनकी उपामओं का विशाल क्षेत्र प्रकृति का अनन्त विस्तार है। इस दृष्टि से प्रसाद

---

१. किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम् ।।२०।।
अभिज्ञान शाकुन्तलम्, प्रथम अंक
२. वही, २।९, पृष्ठ १२४
३. वही, २।१०, पृष्ठ १२६

उनसे भी कुछ आगे बढ़ गए प्रतीत होते हैं, उन्होंने कला, शास्त्र एवं ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से भी उपमाओं का चयन किया है। उभय कवियों की उपमाएँ न केवल वाह्य सादृश्य की दृष्टि से अपितु गुण एवं धर्म-सादृश्य की दृष्टि से भी पूर्ण एवं अनुपम हैं।

दोनों ही कवियों ने पवित्र एवं सात्विक पीठिका पर रूप, यौवन एवं विलास के चित्र अंकित किए हैं। उपर्युक्त समानताओं को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद को सौन्दर्य चित्रण की सर्वाधिक प्रेरणा कालिदास से ही मिली है।

भारवि, माघ एवं प्रसाद :—

'उपमाकालिदासस्यभारवेंरर्थगौवरम्' उक्ति प्रसिद्ध है। भारवि का काव्य अर्थ सौन्दर्य और लालित्य से सम्पन्न है तो माघ का काव्य प्रकृति के दृश्य-सौन्दर्य से। आलोच्य कवि को इन दोनों ही कवियों से प्रेरणा प्राप्त हुई है। भारवि में वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा अन्तः सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया है—

"रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ॥२३॥

....

गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥२५॥[1]

उन्होंने प्रकृति के अनेक उदात्त एवं भव्य चित्रों की संयोजना की है। प्रसाद का हिमालय सौन्दर्य इनके पर्वत-सौन्दर्य से प्रेरित जान पड़ता है। इन्होंने एक ओर हिमालय का अत्यन्त उदात्त चेतन सौन्दर्य अंकित किया है[2] तो दूसरी ओर छोटी सी सीपी का भी यह अनूठा चेतन सौन्दर्य भी दर्शनीय है—

"प्रतिबोधजृम्भणविभिन्न मुखी पुलिने सरोरुहदृशा ददृशे।
पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुविन्दुरिव शुक्तिवधुः

पुलिन प्रदेश में कमल सदृश नेत्र वाले अर्जुन ने आंसुओं की झड़ी लगाती हुई रमणी की भांति सीप को देखा। जिस तरह रमणी निद्रापरित्याग करने पर जंमाई लेती है, उस समय उसका मुख खुल जाता है, उसी तरह सीप का मुख भी खुला हुआ था और उस सीप से स्वच्छ मोतियों की किरणें निकल रही थीं।"[3]

---

१. महाकवि भारविप्रणीतं किरातार्जुनीयम, चतुर्थसर्ग, पृष्ठ ८८
२. किरातार्जुनीयम्, पंचम सर्ग, पृष्ठ ९७, ९६
३. वही, पृष्ठ सर्ग १२, पृष्ठ १२३

प्रसाद और भारवि की वर्ण-योजना में बहुत सादृश्य परिलक्षित होता है। दोनों ही कवियों को नील एवं अरुण वर्ण बहुत ही प्रिय हैं। नील-वर्ण की आभा से आलोकित चन्द्रमण्डल की शोभा को प्रसाद के नीलाभ चित्रों के समकक्ष रखा जा सकता है।

नील नीरजनिभे हिमगौरं शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः।
खे रराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गाङमिवाम्भः ॥१९॥[1]

माघ कालिदास एवं भारवि के समान विस्तृत वर्णन तो नहीं, परन्तु किसी भी दृश्य का उसके समस्त उपादानों सहित एक सजीव चित्र सा अंकित कर देते हैं। पर्वत, संध्या, चन्द्रोदय तथा विभिन्न ऋतुओं के अनेक चित्रों से उनका काव्य अलंकृत है। ये समस्त चित्र अपने आप में पूर्ण हैं। प्रसाद ने भी ऐसे ही अनेक चित्रों की संयोजना अपने साहित्य में की है।

हिन्दी कवि एवं प्रसाद

संस्कृत कवियों के पश्चात् आधुनिक छायावादी काव्य में ही सर्वाधिक सौन्दर्य–चेतना के दर्शन होते हैं। पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों में मैथिल, कौकिल विद्यापति ने राधा और कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन किया है, जिसमें कल्पना और अनुभूति का सुन्दर सामंजस्य है। उन्होंने नारी और पुरुष के उन्मादक सौन्दर्य का चित्रण किया है, जो अतृप्ति के आकर्षण एवं अनन्यता के विश्वास से परिपूर्ण है। वे भक्त कवि होते हुए भी अलंकरण एवं पांडित्य–प्रदर्शन का मोह छोड़ नहीं सके हैं, किन्तु इससे उनके राधा–कृष्ण के रूप सौन्दर्य पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है।

प्रसाद में रूप, यौवन और विलास तो है, परन्तु अतृप्ति जन्य उच्छृंखलता का सर्वत्र अभाव है। उन्होंने तो पवित्र सौन्दर्य को दार्शनिक पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है।

भक्तिकाल के कवि मूलतः भक्त थे। उन्होंने परमात्मा के रूप में चरम सौन्दर्य की अनुभूति की है। सूर, तुलसी एवं जायसी आदि प्रमुख भक्त कवियों ने परमात्मा के सौन्दर्य की प्रभाव व्यंजना द्वारा उनके चरम सौन्दर्य की स्थापना की की है। मिश्र जी के कथानुसार 'हिन्दी काव्य की भक्ति भावधारा की सबसे बड़ी देन यही है कि इसने हमारे सामने चरम सौन्दर्य और चरमशील का आदर्श उपस्थित किया है, जिसे कि कला और कविता की बड़ी महत्वपूर्ण सफलता कहना चाहिए।'[2]

---

१. वही, नवम् सर्ग, पृ० १८३
२. अध्ययन, पृ० ७६

सूर ने भगवान कृष्ण के बाल रूप के अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। कृष्ण की सहज स्वाभाविक चेष्टाओं के कारण ये चित्र सुन्दर बन गए हैं, किन्तु इनमें विविधता का अभाव सा परिलक्षित होता है। तुलसी ने राम के रूप में चरम शक्ति—शील एवं सौन्दर्य की उपासना की है। उन्होंने परम्परागत उपमानों के अतिरिक्त नवीन उपमानों से राम, लक्ष्मण और सीता के सौन्दर्य की व्यंजना की है। जायसी ने पद्मावती के रूप में चरम सौन्दर्य की कल्पना की है। उन्होंने उसके व्यापक सौन्दर्य का अलौकिक चित्रण किया है। दोनों ही कवियों के चरम सौन्दर्य की कल्पना उसकी प्रभाव व्यंजना में मूर्त हो उठी है।

जब ते राम लखन चितए री।
रहे इकटक नर नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितए री।
प्रेम बिबस मांगत महेस सों, देखत ही रहित नित ए री।
कै ए बसो सदा इन नैनन, कै भी नैन जाहु जित ए री।[1]

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहां लगी आई।
भा निरमल तिन पायन परसे। पावा रूप रूप के दरसे।
मलय समीर बास तन आई। भा शीतल गै तपन बुझाई।
ना जानौ कौन पुण्य लै आवा। पुन्य दसा में पाप गवांवा।
नयन जो देखा कमल भा। निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा। दसरान ज्योति नग हीर।

इस प्रकार जायसी ने सौन्दर्य को बड़ा व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। उन्होंने सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में उस परमात्मा का सौन्दर्य व्याप्त देखा है। प्रसाद सूफियों की रहस्यवादी भावना एवं तुलसी की नैतिकता तथा आदर्शवादिता से पर्याप्त प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्हें भी सृष्टि के प्रत्येक क्रिया कलाप में उस परम सुन्दर का सौन्दर्य व्याप्त दिखाई देता है। रीतिकालीन कवियों ने तो रूप-सौन्दर्य के अन्तर्गत नायिकाओं के नख-शिख और उनकी वासनात्मक अंगभंगिमाओं के चित्रण तक ही सौन्दर्य के क्षेत्र को संकुचित कर दिया था। प्रसाद की दृष्टि वासनादि दोषों से सर्वथा निर्मल है। उन्होंने उसे अत्यन्त सात्विक स्वरूप प्रदान किया है।

भारतेन्दुकाल राष्ट्रीय जागरण का काल था। उनके काव्य का सामाजिक पक्ष ही अधिक है, परन्तु उनके जीवन के प्रारम्भिक काल में वह भारतेन्दु से

---

१. तुलसी, गीतावली

अधिक प्रभावित थे। सौन्दर्य और शृंगार के परिष्कृत स्वरूप को प्रस्तुत करने की प्रेरणा उन्हें भारतेन्दु से ही अधिक मिली। द्विवेदी युग में आचार्यजी की विशुद्ध नैतिकता ने सौन्दर्य का मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया था। मैथिलीशरण गुप्त एवं अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि कवियों ने हृदय के स्वच्छन्द उल्लास एवं कल्पना का महत्व स्वीकार किया है परन्तु वे भी द्विवेदी जी के कठोर अनुशासन से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाए। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के साहित्य पर एक विहंगावलोकन द्वारा उस युग की सौन्दर्य धारा का परिचय मिल जाता है।

हरिऔध एवं प्रसाद

प्रसाद के समान ही महाकवि 'हरिऔध' की भी बहुमुखी प्रतिभा का आलोक साहित्य में छाया हुआ है। आपने तीन महाकाव्यों,[1] अनेक स्फुट काव्यों[2] एवं दो ग्रन्थों[3] का प्रणयन किया है। ठेठ 'हिन्दी का ठाठ' एवं 'अवखिला फूल' उनकी औपन्यासिक रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने आलोचना-साहित्य को भी अपनी गवैष्णात्मक प्रतिभा से सम्पन्न किया है। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

दोनों कवियों की तुलना करने से पूर्व यह परिलक्षणीय है कि हरिऔध जी आचार्य एवं कवि दोनों है जब कि प्रसाद जी पहले मधुवृत्ति वाले कवि हैं, लेखक एवं आलोचक बाद में। हरिऔध जी का भाषा-सुधारक एवं समाज-सुधारक वाला पक्ष अधिक प्रबल है, अतः अनेक स्थलों पर काव्यमयी अनुभूति की स्वतन्त्रता में बाधा सी प्रतीत होती है। उन्होंने प्रकृति एवं मानव-सौन्दर्य के अनेक चित्र अंकित किए हैं।

प्रसाद की श्रद्धा के समान उनकी राधा का सौन्दर्य भी अत्यन्त पवित्र एवं सात्विक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। वह अनुपम छविमयी कला-मर्मज्ञा है। उसकी देहयाष्टि अत्यन्त क्षीण एवं कोमल है, वह शोभा की समुद्र है तथा अत्यन्त मृदु भाषिणी एवं माधुर्य की मूर्ति है, वह सेवा शीला अनन्य हृदया, क्रीड़ा-कला की पुत्तलिका थी। राधा एवं श्रद्धा का रूप द्रष्टव्य है।[4]

जहां प्रसाद ने श्रद्धा के रूप सौन्दर्य के लिए प्रकृति एवं सूक्ष्म भाव-जगत् से अनेक उपमान प्रस्तुत कर उसके रूप सौन्दर्य को अलौकिक बना दिया है, वहा

---

१. प्रिय प्रवास, वैदेही–वनवास तथा पारिजात।

२. श्री कृष्ण–शतक, प्रेम-प्रपंच, प्रेमाम्बु वारिधि, हरिऔध सतसई, पद्य प्रमोद आदि।

३. बोलचाल एवं नायिका भेद पर आधारित "रस-कलस"।

४. प्रिय प्रवास, ४।४-८

हरिऔध जी ने राधा की सुन्दर देहयष्टि को उज्ज्वल वस्त्र धारण करवाए हैं, कि उसके शरीर की कांति पर काम-पत्नी रति भी मुग्ध है।

प्रसाद ने आंसू में नायिका के नख-शिख का वर्णन किया है। हरिऔध ने भी नख-शिख का वर्णन किया है जबकि हरिऔध जी ने उन पर अपने आचार्यत्व की भी छाप लगा दी है। दोनों ही नायिकाओं के होंठ एवं दांतों का सौन्दर्य द्रष्टव्य है :—

विंवाफल प्रतिविम्बगम,
कान्त वदन कर ओक।
पुलकित होता चित्त है,
युगल अधर अलोक।[1]
हंसते हुए मुखेन्दु में,
दसन दमक अवलोक।
पुलकित होता चित है,
पा अनुपम आलोक।[2]

पुरुष सौन्दर्य के अन्तर्गत दोनों ही कवियों ने भारतीय सौन्दर्य के मानों के अनुरूप उनका चित्रण किया है। प्रसाद की पुरुष मूर्ति के आदर्शों के अनुरूप कृष्ण भी स्वस्थ, सुडौल एवं सुगठित अंग प्रत्यंग वाले ऐश्वर्यशाली पुरुष हैं।[3] उनका शरीर सांचे में ढला हुआ दिव्य सौन्दर्य से युक्त है। उनके कन्धे वृषभ स्कन्ध जैसे सजल कान्तिपूर्ण एवं लम्बी भुजाएं हाथी के बच्चे की सूंड के समान शक्तियुक्त हैं। उन्होंने मस्तक पर राजसी मुकुट, कानों में स्वर्ण-कुण्डल एवं भुजाओं में रत्न-जटित कैयूर धारण कर रखे हैं।[4] यह भी अवलोकनीय है कि नख-शिख के अन्तर्गत उन्होंने पुरुष की मूंछों के सौन्दर्य का भी वर्णन किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।[5]

हरिऔध जी ने प्रसाद की भांति प्रकृति के सौन्दर्य के अनेक चित्रों का अंकन किया हैं। प्रिय प्रवास के अतिरिक्त उन्होंने ऋतु-मुकुर एवं पद्य-प्रमोद में प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। प्रारम्भ में उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य

---

१. हरिऔध–सतसई, शिख-नख, पृ० २९
२. वही, पृ० ३०
३. प्रिय प्रवास, १।–१६–२५
४. वही ६–५६–६०
५. हरिऔध-सतसई, नखशिख, पृष्ठ ३१

को परम्परागत रूप में ही अंकित किया है।[1] परन्तु उन्होंने प्रकृति में सर्वत्र एक चेतन सत्ता के दर्शन किए है, फलतः प्रिय प्रवास में उन्होंने उसे मानव के समान ही क्रिया-कलापों में व्यस्त चैतन्य सौन्दर्य से अलंकृत प्रतिष्ठित किया है। गोवर्धन पर्वत का राजश्री सौन्दर्य द्रष्टव्य है।

द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता, नीरसता एवं नैतिकता के कड़े अनुशासन की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी में छायावाद का आगमन हुआ। वस्तुतः छायावाद का उद्भव अनेक मिली जुली प्रवृत्तियों के कारण हुआ था। पश्चिम में परम्पराओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप रोमाण्टिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद का जन्म हुआ, इधर वंगला में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को गीताञ्जली ने एक विशेष प्रेरणा प्रदान की। इनके सम्मिलित प्रभाव से हिन्दी में एक नवीन काव्य-धारा का विकास हुआ, जो छायावाद के नाम से अभिहित की गई। छायावादी कवियों की मूल चेतना सौन्दर्य है। इन्होंने सौन्दर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप के दर्शन किए हैं। विश्व में व्याप्त अनन्त सत्ता ही परम सुन्दर है। जड़ और चेतन प्रकृति में उसी के सौन्दर्य का स्पन्दन है। इसी का दर्शन प्रसाद, पन्त, निराला एवं महादेवी आदि छायावादी कवियों के काव्य का उत्स है।

पन्त एवं प्रसाद

प्रसाद ने हिन्दी में सर्व प्रथम छायावादी प्रवृत्तियों को विकसित करते हुए सौन्दर्य के अवरुद्ध मार्ग को मुक्त करने का प्रयास किया। विकसित होते हुए छायावाद ने पन्त के काव्य में पूर्णता प्राप्त की। पन्त के काव्य में आद्यन्त सौन्दर्य के अनन्त चित्र अंकित है। उन्होंने भी समस्त संसार में, उसके कण-कण में उस सौन्दर्य के दर्शन किए हैं। कवि ने कहा है—

> राशि राशि सौन्दर्य, प्रेम आनन्द गुणों का द्वार।
> मुझे लुभाता रूप, रंग, रेखा का यह संसार।[2]

उसके मन में सौन्दर्य का अजस्र स्त्रोत फूट पड़ा है, इस कारण उसे सृष्टि में विहंग, सुमनादि तो सुन्दर लगते ही हैं, पावन सुन्दरतम प्रतीत होता है।[3] उसे तो धरती के रोम-रोम में सहज सुन्दरता के दर्शन होते हैं।[4] यह सौन्दर्य ही समस्त कल्याण एश्वर्य का केन्द्र है—

---

१. प्रिय प्रवास ९–१५–२३
२. पन्त, युगवाणी, पृष्ठ ७६
३. युगान्त, पृष्ठ २७
४. युगवाणी, पृष्ठ २९

कहीं की सुन्दरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यों की संधान ।[1]

प्रसाद ने कामायनी में सौन्दर्य के दर्शन किये हैं जो पंत ने कोमलता में । पंत ने प्रकृति में नारीत्व एवं चेतनता के दर्शन किए हैं । प्रकृति-सौन्दर्य ही उनके काव्य की प्रेरणा है । वह उनकी प्रेयसी, सहचरी और प्राण स्पन्दन है । प्रकृति के उन्होंने स्वतन्त्र रूप से अनेक सुन्दर चित्र अंकित किए हैं । प्रकृति के पश्चात वे मानव-सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हुए हैं । उन्होंने भी नारी के सरल, स्वाभाविक एवं पवित्र सौन्दर्य का अंकन किया है । प्रकृति के पवित्र उपकरणों से उसका शृंगार किया है—

सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषण
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन
तुम्हारे छूने में था प्राण
संग में पावन गंगा स्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याणि
त्रिवेणी की लहरों का गान[2]

ग्रन्थि की नायिका एवं 'गुंजन' की 'अप्सरा' के सौन्दर्य में उन्होंने प्रकृति के ऐश्वर्यशाली उपमानों से सज्जित सौन्दर्य के दर्शन किये हैं । इस प्रकार दोनों ही कवियों ने सौन्दर्य को सृष्टि के कण-कण में व्याप्त देखा है तथा उसे पवित्र एवं सात्विक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है ।

निराला एवं प्रसाद :—

पन्त एवं प्रसाद के समान निराला की सौन्दर्य-दृष्टि भी अत्यन्त व्यापक है । उस सुन्दर के मंगल-पद छू कर ही उनके सहज गान फूट पड़े हैं ।[3] उनकी साहित्य-धारा निरन्तर विकास करती गई है उसी के अनुसार उनके सौन्दर्य-बोध का भी विकास हुआ है । उन्होंने इस क्षेत्र में क्रान्ति की नींव डाली है ।

प्रसाद की भांति उन्होंने भी प्रकृति के चेतन सौन्दर्य का विभिन्न रूपों में अंकन किया है । 'संध्या सुन्दरी' यामिनी, प्रभात, वसन्त, धारा आदि के कवि ने

१. पल्लव, पृष्ठ ५४
२. पल्लव, पृष्ठ १८
३. अपरा, पृष्ठ १५२

मानवीय क्रिया-कलापों से सम्पन्न पवित्र, सात्विक एवं ऐश्वर्यशाली चित्र अंकित किए हैं। उनकी "जुही की कली" का शृंगार हिन्दी साहित्य-क्षेत्र का अपूर्व सौन्दर्य है। प्रकृति-सौन्दर्य के अतिरिक्त निराला की दृष्टि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर गई है। इसके अन्तर्गत भारत की विधवा, भिक्षुक एवं सड़क पर पत्थर तोड़ती हुई मजदूरनी के चित्र दर्शनीय हैं।

वस्तुतः सौन्दर्य के प्रति कवि ने हमें कुछ नवीन भावनाएं प्रदान की हैं। उन्होंने स्वर्ग से लेकर धरा तक के सौन्दर्य में सामंजस्य स्थापित किया है। उन्होंने प्रसाद के समान बहुत सूक्ष्म सौन्दर्य का अंकन तो नहीं किया है, किन्तु जिस भी चाक्षुप सौन्दर्य का उन्होंने प्रत्यक्षीकरण करवाया है, वे अपनी व्यापकता में निराले हैं।

प्रसाद में यदि वीर करुण एवं शृंगार का अद्भुत सामंजस्य है तो निराला में ओज करुण एवं शृंगार का निराला समन्वय। एक अपने प्रसादत्व में पूर्ण है तो दूसरा अपने निरालेपान में निराला।

पाश्चात्य कवि एवं प्रसाद

प्रसादजी ने आंग्ल साहित्य का भी अध्ययन किया था। पश्चिम में परम्परा के प्रति विद्रोह के फलस्वरूप जिस स्वच्छन्दतावाद का जन्म हुआ था, उसी की पुनरावृत्ति यहां द्विवेदी युग के प्रति विद्रोह के रूप में हुई। स्वच्छन्दतावाद के प्रभाव से बंगला कवि एवं हिन्दी कवि स्वयं को मुक्त नहीं रख सके। प्रायः ही छायावादी कवियों में पाश्चात्य-स्वच्छन्दतावादी प्रभाव परिलक्षित होता है। अतएव प्रसाद को प्रमुख पाश्चात्य कवियों के परिपार्श्व में रखकर देखना समीचीन प्रतीत होता है।

शैक्सपियर एवं प्रसाद

शैक्सपियर एवं प्रसाद दोनों ही बहुमुखी प्रतिभा वाले कवि है। शैक्सपियर ने छत्तीस नाटक एवं एक सौ चौवन सॉनेट लिखे हैं। दोनों ही कवि अपने विशाल साहित्य में सृष्टि में परमात्मा की भांति विलीन हैं। उनका साहित्य उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए भी, वे स्वयं कहीं पकड़ाई में नहीं आते, अपनी रचनाओं में इतना तटस्थ रहना कुशल साहित्यकारों की ही सामर्थ्य है। दोनों ने ही अपने युग के उपलब्ध ज्ञान की सभी विधाओं एवं राशियों को अपनाया है। दिनकर जी के शब्द इस इस विषय में उल्लेखनीय है-साहित्य मन्दिर में कीर्ति की जितनी भी घंटियां टंगी हैं, शैक्सपियर का नाम सभी घंटियों पर बज रहा है।[1]

---

१. रामधारी सिंह दिनकर, साहित्य मुखी, पृष्ठ ५५